THE BOOK WAS DRENCHED

रंगभूमि

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

उत्तमोत्तम उपन्यास और कहानियाँ

पुस्तक	मूल्य
गढ़-कुंडार	२॥), ३)
कुंडली-चक्र	१।), १॥)
प्रेम की भेंट	१), १।)
कोतवाल की करामात	१), १।)
विराटा की पद्मिनी	२॥), ३)
बहता हुआ फूल	२॥), ३)
हृदय की परख	१), १।)
चित्रशाला (दो भाग)	३), ४)
हृदय की प्यास	२), २॥)
मिस्टर व्यास की कथा	२॥), ३)
नंदन-निकुंज	१), १।)
प्रेम-प्रसून	१=), १॥=)
प्रेम-गंगा	१), १।)
गोरी	१), १॥)
मंजरी	१।), १॥)
पतन	१॥), २।)
जब सूर्योदय होगा	१), १॥)
बिदा	२॥), ३)
कर्म-मार्ग	१॥), २)
प्रेम-परीक्षा	॥।=), १।=)
रेशमी	॥।=), १।=)
मदारी	१॥), २।)
सीधे पंडित	१॥), २)
अबला	१), १।)
मधुपर्क	१॥), २)
मा	३), ३॥)
प्रेम-पंचमी	॥), १)
केन	१), १।)
अप्सरा	१), १।)
गिरिबाला	१), १।)
कर्म-फल	१॥), २।)
तूलिका	१।), १॥)
अश्रुपात	१), १।)
जासूस की डाली	१॥), २)
विचित्र योगी	१), १।)
पवित्र पापी	३), ३॥)
मृत्युंजय	॥), १)
पाप की ओर	१), १।)
अछूत	१), १।)
प्रतिमा	१॥), २)
अलका	१), १।)
तारिका	२), २॥)

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का उंतालीसवाँ पुष्प

रंगभूमि

(प्रथम भाग)

लेखक
प्रेमचंद

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

चतुर्थावृत्ति

सजिल्द २॥)]   सं० १९९९ वि०   [सादी २)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट
लखनऊ

संपादक का वक्तव्य

आज हम हिंदी-संसार के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी प्रेमचंदजी की ...चेर रचना 'रंगभूमि' लेकर सहृदय साहित्य-प्रेमियों के सम्मुख समु-...स्थित हो रहे हैं। रंगभूमि एक उत्कृष्ट उपन्यास है। प्रेमचंदजी के ...न्य उपन्यासों की तरह इस वृहत् उपन्यास में भी वर्तमान काल की ...माजिक दशाओं का स्वाभाविक चित्र अंकित किया गया है। से...-सदन में पतित जीवन की मीमांसा है। प्रेमाश्रम में स्व... ...र्थपरता की विवेचना की गई है। इस रंगभूमि में लेखक ने यह ...बलाने की सफल चेष्टा की है कि हम संसार में सुखी क्योंकर रह ...सते हैं। इसमें राजनीतिक और औद्योगिक प्रसंगों का प्राधान्य है, कर्मक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो गया है। अब तक लेखक के ...सी उपन्यास में ईसाइयों ने पदार्पण नहीं किया था। इसमें ...रतवर्ष के तीनों प्रधान धर्मों का समावेश है। लेखक ने समाज ... किसी अंग को नहीं छोड़ा—ग्रामीण भी हैं, रईस भी हैं, ...ीपति भी हैं, देश-सेवक भी हैं—सभी अपनी-अपनी महत्त्वा-...ाओं के साथ रंगभूमि में आते और अपना-अपना खेल ...ाकर चले जाते हैं। विद्वान्, धनी, अनुभवी, सभी श्रेणी के ...लाड़ी आपके सामने आते हैं, और सभी सुखी जीवन का रहस्य ...ानने के कारण असफल होते हैं, सभी ठोकर खाते और गिर ...ते हैं, कर्तव्य से विचलित हो जाते हैं। केवल एक दीन, हीन, ...ल, अंधा, दरिद्र प्राणी अंत तक आपको अपनी लीलाओं से ...ं करता रहता है, और जब उसकी लीला समाप्त हो जाती है, ...र वह रंगशाला से जाता है, तो आप मन में कह उठते हैं,

यही सफल जीवन है, यही जीवन्मुक्त पुरुष है, यही निपुण खिला है, यही जानता है कि जीवन-लीला का रहस्य क्या है। इस उपन्य। की शिक्षा का निचोड़ है सत्य पर, आत्मसम्मान पर अपना बलिद कर देना। इसकी भाषा सरल और सरस है, वर्णन-शैली अ हृदयग्राहिणी है, भाव-व्यंजना बड़ी मर्मस्पर्शिनी है, और चरि चित्रण, जो उपन्यास का सर्वप्रधान अंग माना गया है, इतनी सू दृष्टि से किया गया है कि पढ़कर लेखक के मनोवैज्ञानिक अनु का क़ायल होना पड़ता है। हिंदी में आपने ढेरों उपन्यास पढ़े ह लेकिन ऐसे ऊँचे दर्जे का मौलिक उपन्यास आज तक न होगा। यह उपन्यास उपन्यासत्व से उत्कृष्ट, स्वाभाविकत सुसज्जित, कल्पना से कमनीय, चरित्र-चित्रण से चारु और सद्भा से सुंदर है। सारांश यह कि रंगभूमि हिंदी के एक श्रेष्ठ औपन्या का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। प्रेमचंदजी की पुस्तकों के प्रेमी पाठव इसे पढ़कर अपने इष्ट-मित्रों को भी अवश्य पढ़ाना चाहिए मुग्ध और हृदय प्रफुल्लित हुए विना न रहेगा।

३६, लाटूश रोड
लखनऊ, १।२।२५

दुलारेलाल
संपादक

निवेदन

(चतुर्थावृत्ति पर)

ुशी की बात है कि इस उपन्यास का चौथा संस्करण छापने का
ाग्य आज हमें प्राप्त हो रहा है। कागज़ का मूल्य आजकल
हो गया है, पर हमने मूल्य तादृश नहीं बढ़ाया। दोनो
ा मूल्य पहले ५) था, अब ६) हो गया है। सजिल्द
रण का ६) की जगह ७) हो गया है। दूसरा संस्करण निकला,
ख्या कम है।

ंदौर }
।४२ }

रंगभूमि

[१]

शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके
ाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके
ध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुक़दमे-
ाज़ी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने ग़रीबों का गला
ाटा जाता है। शहर के आस-पास ग़रीबों की बस्तियाँ होती हैं।
नारस में पाँड़ेपुर ऐसी ही बस्ती है। वहाँ न शहरी दीपकों की
ोति पहुँचती है, न शहरी छिड़काव के छींटे, न शहरी जल-स्रोतों
ा प्रवाह। सड़क के किनारे छोटे-छोटे बनियों और हलवाइयों की
ुकानें हैं, और उनके पीछे कई इक्केवाले, गाड़ीवान, ग्वाले और
ज़दूर रहते हैं। दो-चार घर बिगड़े सफ़ेदपोशों के भी हैं, जिन्हें
नकी हीनावस्था ने शहर से निर्वासित कर दिया है। इन्हीं में एक
रीब और अंधा चमार रहता है, जिसे लोग सूरदास कहते हैं।
ारतवर्ष में अंधे आदमियों के लिये न नाम की ज़रूरत होती है, न
की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम है, और भीख माँगना
ा-बनाया काम। उनके गुण और स्वभाव भी जगत्-प्रसिद्ध
—गाने-बजाने में विशेष रुचि, हृदय में विशेष अनुराग, अध्यात्म
ौर भक्ति में विशेष प्रेम उनके स्वाभाविक लक्षण हैं। बाह्य दृष्टि
ंद और अंतर्दृष्टि खुली हुई।

सूरदास एक बहुत ही क्षीण-काय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था।
ासे दैव ने कदाचित् भीख माँगने ही के लिये बनाया था। वह

नित्यप्रति लाठी टेकता हुआ पक्की सड़क पर आ बैठता, और राह-गीरों की जान की ख़ैर मनाता। "दाता, भगवान तुम्हारा कल्यान करें—" यही उसकी टेक थी, और इसी को वह बार-बार दुहराता था। कदाचित् वह इसे लोगों की दया-प्रेरणा का मंत्र समझता था। पैदल चलनेवालों को वह अपनी जगह पर बैठे-बैठे दुआएँ देता था। लेकिन जब कोई इक्का आ निकलता, तो वह उसके पीछे दौड़ने लगता, और बग्घियों के साथ तो उसके पैरों में पर लग जाते थे। किंतु हवागाड़ियों को वह अपनी शुभेच्छाओं से परे समझता था। अनुभव ने उसे शिक्षा दी थी कि हवागाड़ियाँ किसी की बातें नहीं सुनतीं। प्रातःकाल से संध्या तक उसका समय शुभ कामनाओं ही में कटता था। यहाँ तक कि माघ-पूस की बदली और वायु तथा जेठ-बैसाख की लू-लपट में भी उसे नाग़ा न होता था।

कार्तिक का महीना था। वायु में सुखद शीतलता आ गई थी। संध्या हो चुकी थी। सूरदास अपनी जगह पर मूर्तिवत् बैठा हुआ किसी इक्के या बग्घी के आशाप्रद शब्द पर कान लगाए था। सड़क के दोनो ओर पेड़ लगे हुए थे। गाड़ीवानों ने उनके नीचे गाड़ियाँ ढील दीं। उनके पछाईं बैल टाट के टुकड़ों पर खली और भूसा खाने लगे। गाड़ीवानों ने भी उपले जला दिए। कोई चादर पर आटा गूँधता था, कोई गोल गोल बाटियाँ बनाकर उपलों पर सेंकता था। किसी को बरतनों की ज़रूरत न थी। सालन के लिये घुइएँ का भुरता काफ़ी था। और, इस दरिद्रता पर भी उन्हें कुछ चिंता नहीं थी, बैठे बाटियाँ सेंकते और गाते थे। बैलों के गले में बँधी हुई घंटियाँ मजीरों का काम दे रही थीं। गनेस गाड़ीवान ने सूरदास से पूछा—"क्यों भगत, ब्याह करोगे?"

सूरदास ने गरदन हिलाकर कहा—"कहीं है डौल?"

गनेस—"हाँ, है क्यों नहीं। एक गाँव में एक सुरिया है, तुम्हारी

ही जाति-बिरादरी की है, कहो तो बातचीत पक्की करूँ। तुम्हारी बरात में दो दिन मज़े से बाटियाँ लगें।"

सूरदास—"कोई ऐसी जगह बताते, जहाँ धन मिले, और इस भिखमंगी से पीछा छूटे। अभी अपने ही पेट की चिंता है, तब एक अंधी की और चिंता हो जायगी। ऐसी बेड़ी पैर में नहीं डालता। बेड़ी ही है, तो सोने की तो हो।"

गनेस—"लाख रुपए की मेहरिया न पा जाओगे, रात को तुम्हारे पैर दबाएगी, सिर में तेल डालेगी, तो एक बार फिर जवान हो जाओगे। ये हड्डियाँ न दिखाई देंगी।"

सूरदास—"तो रोटियों का सहारा भी जाता रहेगा। ये हड्डियाँ देखकर ही तो लोगों को दया आती है। मोटे आदमियों को भीख कौन देता है? उलटे और ताने मिलते हैं।"

गनेस—"अजी नहीं, वह तुम्हारी सेवा भी करेगी, और तुम्हें भोजन भी देगी। बेचन साह के यहाँ तेलहन झाड़ेगी, तो चार आने रोज़ पाएगी।"

सूरदास—"तब तो और भी दुर्गत होगी। घरवाली की कमाई खाकर किसी को मुँह दिखाने लायक़ भी न रहूँगा।"

सहसा एक फ़िटन आती हुई सुनाई दी। सूरदास लाठी टेककर उठ खड़ा हुआ। यही उसकी कमाई का समय था। इसी समय शहर के रईस और महाजन हवा खाने आते थे। फ़िटन ज्यों ही सामने आई, सूरदास उसके पीछे 'दाता, भगवान् तुम्हारा कल्यान करें' कहता हुआ दौड़ा।

फ़िटन में सामने की गद्दी पर मि० जॉन सेवक और उनकी पत्नी मिसेज़ जॉन सेवक बैठी हुई थीं। दूसरी गद्दी पर उनका जवान लड़का प्रभु सेवक और उसकी छोटी बहन सोफ़िया सेवक थी। जॉन सेवक दुहरे बदन के गोरे-चट्टे आदमी थे। बुढ़ापे में भी चेहरा

लाल था। सिर और दाढ़ी के बाल खिचड़ी हो गए थे। पहनावा अँगरेज़ी था, जो उन पर ख़ूब खिलता था। मुख की आकृति से ग़रूर और आत्मविश्वास झलकता था। मिसेज़ सेवक को काल-गति ने अधिक सताया था। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, और उससे हृदय की संकीर्णता टपकती थी, जिसे सुनहरी ऐनक भी न छिपा सकती थी। प्रभु सेवक की मसें भीग रही थीं, छरीरा डील, इकहरा बदन, निस्तेज मुख, आँखों पर ऐनक, चेहरे पर गंभीरता और विचार का गाढ़ा रंग नज़र आता था। आँखों से करुणा की ज्योति-सी निकली पड़ती थी। वह प्रकृति-सौंदर्य का आनंद उठाता हुआ जान पड़ता था। मिस सोफ़िया बड़ी-बड़ी रसीली आँखोंवाली, लज्जाशीला युवती थी। देह अति कोमल, मानो पंचभूतों की जगह पुष्पों से उसकी सृष्टि हुई हो। रूप अति सौम्य, मानो लज्जा और विनय मूर्तिमान् हो गए हों। सिर से पाँव तक चेतना-ही-चेतना थी, जड़ का कहीं आभास तक न था।

सूरदास फ़िटन के पीछे दौड़ता चला आता था। इतनी दूर तक और इतने वेग से कोई मँजा हुआ खिलाड़ी भी न दौड़ सकता था। मिसेज़ सेवक ने नाक सिकोड़कर कहा—"इस दुष्ट की चीख़ ने तो कान के परदे फाड़ डाले। क्या यह दौड़ता ही चला जायगा ?"

मि० जॉन सेवक बोले—"इस देश के सिर से यह बला न-जाने कब टलेगी। जिस देश में भीख माँगना लज्जा की बात न हो, यहाँ तक कि सर्वश्रेष्ठ जातियाँ भी जिसे अपनी जीवन-वृत्ति बना लें, जहाँ महात्माओं का एकमात्र यही आधार हो, उसके उद्धार में अभी शताब्दियों की देर है।"

प्रभु सेवक—"यहाँ यह प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। वैदिक काल में राजों के लड़के भी गुरुकुलों में विद्या-लाभ करते समय भीख माँगकर अपना और अपने गुरु का पालन करते थे।

ज्ञानियों और ऋषियों के लिये भी यह कोई अपमान की बात न थी। किंतु वे लोग माया-मोह से मुक्त रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिये दया का आश्रय लेते थे। उस प्रथा का अब अनुचित व्यवहार किया जा रहा है। मैंने यहाँ तक सुना है कि कितने ही ब्राह्मण, जो ज़मींदार हैं, घर से ख़ाली हाथ मुक़दमे लड़ने चलते हैं, दिन-भर कन्या के विवाह के बहाने, या किसी संबंधी को मृत्यु का हीला करके, भीख माँगते हैं, शाम को नाज बेचकर पैसे खड़े कर लेते हैं, पैसे जल्द रुपए बन जाते हैं, और अंत में कचहरी के कर्मचारियों और वकीलों की जेब में चले जाते हैं।"

मिसेज़ सेवक—"साईस, इस अंधे से कह दे, भाग जाय, पैसे नहीं हैं।"

सोफ़िया—"नहीं मामा, पैसे हों, तो दे दीजिए। बेचारा आधे मील से दौड़ा आ रहा है, निराश हो जायगा। उसकी आत्मा को कितना दुख होगा।"

मा—"तो उससे किसने दौड़ने को कहा था? उसके पैरों में दर्द होता होगा।"

सोफ़िया—"नहीं, अच्छी मामा, कुछ दे दीजिए, बेचारा कितना हाँप रहा है।"

प्रभु सेवक ने जेब से केस निकाला; किंतु ताँबे या निकिल का कोई टुकड़ा न निकला, और चाँदी का कोई सिक्का देने में मा के नाराज़ होने का भय था। बहन से बोले—"सोफ़ी, खेद है, पैसे नहीं निकले। साईस, अंधे से कह दो, धीरे-धीरे गोदाम तक चला आए; वहाँ शायद पैसे मिल जायँ।"

किंतु सूरदास को इतना संतोष कहाँ। जानता था, गोदाम पर कोई मेरे लिये खड़ा न रहेगा; कहीं गाड़ी आगे बढ़ गई, तो इतनी मिहनत बेकार हो जायगी। गाड़ी का पीछा न छोड़ा, पूरे एक

मील तक दौड़ता चला गया। यहाँ तक कि गोदाम आ गया, और फ़िटन रुकी। सब लोग उतर पड़े। सूरदास भी एक किनारे खड़ा हो गया, जैसे वृक्षों के बीच में ठूँठ खड़ा हो। हाँपते-हाँपते बेदम हो रहा था।

मि० जॉन सेवक ने यहाँ चमड़े की आढ़त खोल रक्खी थी। ताहिरअली नाम का एक व्यक्ति उनका गुमाश्ता था। बरामदे में बैठा हुआ था। साहब को देखते ही उसने उठकर सलाम किया।

जॉन सेवक ने पूछा—"कहिए ख़ाँ साहब, चमड़े की आमदनी कैसी है?"

ताहिर—"हुज़ूर, अभी जैसी होनी चाहिए, वैसी तो नहीं है, मगर उम्मीद है कि आगे अच्छी होगी।"

जॉन सेवक—"कुछ दौड़-धूप कीजिए, एक जगह बैठे रहने से काम न चलेगा। आस-पास के देहातों का चक्कर लगाया कीजिए। मेरा इरादा है कि म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब से मिलकर यहाँ एक शराब और ताड़ी की दूकान खुलवा दूँ। तब आस-पास के चमार यहाँ रोज़ आएँगे, और आपको उनसे मेल-जोल पैदा करने का मौक़ा मिलेगा। आजकल इन छोटी-छोटी चालों के बग़ैर काम नहीं चलता। मुझी को देखिए, ऐसा शायद ही कोई दिन जाता होगा, जिस दिन शहर के दो-चार धनी-मानी पुरुषों से मेरी मुलाक़ात न होती हो। दस हज़ार की भी एक पॉलिसी मिल गई, तो कई दिनों की दौड़-धूप ठिकाने लग जाती है।"

ताहिर—"हुज़ूर, मुझे ख़ुद फ़िक्र है। क्या जानता नहीं हूँ कि मालिक को चार पैसे का नफ़ा न होगा, तो वह यह काम करेगा ही क्यों? मगर हुज़ूर ने मेरी जो तनख़्वाह मुक़र्रर की है, उसमें गुज़र नहीं होता। बीस रुपए का तो ग़ल्ला भी काफ़ी नहीं होता, और सब ज़रूरतें, अलग। अभी आपसे कुछ कहने की हिम्मत तो नहीं पड़ती; मगर आपसे न कहूँ, तो किससे कहूँ।"

जॉन सेवक—"कुछ दिन काम कीजिए, तरक्क़ी होगी न। कहाँ है आपका हिसाब-किताब, लाइए, देखूँ।"

यह कहते हुए जॉन सेवक बरामदे में एक टूटे हुए मोढ़े पर बैठ गए। मिसेज़ सेवक कुर्सी पर बैठीं। ताहिरअली ने हिसाब की बही सामने लाकर रख दी। साहब उसकी जाँच करने लगे। दो-चार पन्ने उलट-पलटकर देखने के बाद नाक सिकोड़कर बोले—"अभी आपको हिसाब-किताब लिखने का सलीक़ा नहीं है, उस पर आप कहते हैं, तरक्क़ी कर दीजिए। हिसाब बिलकुल आईना होना चाहिए; यहाँ तो कुछ पता ही नहीं चलता कि आपने कितना माल ख़रीदा, और कितना माल रवाना किया। ख़रीदार को प्रति खाल एक आना दस्तूरी मिलती है, वह कहीं दर्ज ही नहीं है!"

ताहिर—"क्या उसे भी दर्ज कर दूँ?"

जॉन सेवक—"क्यों, वह मेरी आमदनी नहीं है?"

ताहिर—"मैंने तो समझा है, वह मेरा हक़ है।"

जॉन सेवक—"हरगिज़ नहीं, मैं आप पर ग़बन का मामला चला सकता हूँ। (त्योरियाँ बदलकर) मुलाज़िमों का हक़ है! ख़ूब! आपका हक़ है तनख़्वाह, इसके सिवा आपका कोई हक़ नहीं है।"

ताहिर—"हुज़ूर, अब आइंदा ऐसी ग़लती न होगी।"

जॉन सेवक—"अब तक आपने इस मद में जो रक़म वसूल की है, वह आमदनी में दिखाइए। हिसाब-किताब के मामले में मैं ज़रा भी रियायत नहीं करता।"

ताहिर—"हुज़ूर, बहुत छोटी रक़म होगी।"

जॉन सेवक—"कुछ मुज़ायक़ा नहीं, एक ही पाई सही; वह सब आपको भरनी पड़ेगी। अभी वह रक़म छोटी है, कुछ दिनों में उसकी तादाद सैकड़ों तक पहुँच जायगी। उस रक़म से मैं यहाँ एक संडे-स्कूल खोलना चाहता हूँ। समझ गए? मेम साहब की ये

बड़ी अभिलाषा है। अच्छा चलिए, वह ज़मीन कहाँ है, जिसका आपने ज़िक्र किया था?"

गोदाम के पीछे की ओर एक विस्तृत मैदान था। यहाँ आस-पास के जानवर चरने आया करते थे। जॉन सेवक यह ज़मीन लेकर यहाँ सिगरेट बनाने का एक कारख़ाना खोलना चाहते थे। प्रभु सेवक को इसी व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त करने के लिये अमेरिका भेजा था। जॉन सेवक के साथ प्रभु सेवक और उनकी माता भी ज़मीन देखने चलीं। पिता और पुत्र ने मिलकर ज़मीन का विस्तार नापा। कहाँ कारख़ाना होगा, कहाँ गोदाम, कहाँ दफ़्तर, कहाँ मेनेजर का बँगला, कहाँ श्रमजीवियों के कमरे, कहाँ कोयला रखने की जगह, और कहाँ से पानी आएगा, इन विषयों पर दोनो आदमियों में देर तक बातें होती रहीं। अंत में मिस्टर सेवक ने ताहिरअली से पूछा—"यह किसकी ज़मीन है?"

ताहिर—"हुज़ूर, यह तो ठीक नहीं मालूम, अभी चलकर यहाँ किसी से पूछ लूँगा; शायद नायकराम पंडा की हो।"

साहब—"आप उससे यह ज़मीन कितने में दिला सकते हैं?"

ताहिर—"मुझे तो इसमें भी शक है कि वह इसे बेचेगा भी।"

जॉन सेवक—"अजी, बेचेगा उसका बाप, उसकी क्या हस्ती है? रुपए के सत्तरह आने दीजिए, और आसमान के तारे मँगवा लीजिए। आप उसे मेरे पास भेज दीजिए, मैं उससे बातें कर लूँगा।"

प्रभु सेवक—"मुझे तो भय है कि यहाँ कच्चा माल मिलने में कठिनाई होगी। इधर लोग तंबाकू की खेती कम करते हैं।"

जॉन सेवक—"कच्चा माल पैदा करना तुम्हारा काम होगा। किसान को ऊख या जौ-गेहूँ से कोई प्रेम नहीं होता। वह जिस जिंस के पैदा करने में अपना लाभ देखेगा, वही पैदा करेगा। इसकी कोई चिंता नहीं है ख़ाँ साहब, आप उस पंडे को मेरे पास कल ज़रूर भेज दीजिएगा।"

ताहिर—"बहुत ख़ूब, उससे कहूँगा।"

जॉन सेवक—"कहूँगा नहीं, उसे भेज दीजिएगा। अगर आपसे इतना भी न हो सका, तो मैं समझूँगा, आपको सौदे पटाने का ज़रा भी ज्ञान नहीं।"

मिसेज़ सेवक—(अँगरेज़ी में) "तुम्हें इस जगह पर कोई अनुभवी आदमी रखना चाहिए था।"

जॉन सेवक—(अँगरेज़ी में) "नहीं, मैं अनुभवी आदमियों से डरता हूँ। वे अपने अनुभव से अपना फ़ायदा सोचते हैं, तुम्हें फ़ायदा नहीं पहुँचाते। मैं ऐसे आदमियों से कोसों दूर रहता हूँ।"

ये बातें करते हुए तीनो आदमी फ़िटन के पास आए। पीछे-पीछे ताहिरअली भी थे। यहाँ सोफ़िया खड़ी सूरदास से बातें कर रही थी। प्रभु सेवक को देखते ही बोली—"प्रभु, यह अंधा तो कोई ज्ञानी पुरुष जान पड़ता है, पूरा फ़िलॉसफ़र है।"

मिसेज़ सेवक—"तू जहाँ जाती है, वहीं तुझे कोई-न-कोई ज्ञानी आदमी मिल जाता है। क्यों रे अंधे, तू भीख क्यों माँगता है? कोई काम क्यों नहीं करता?"

सोफ़िया—(अँगरेज़ी में) "मामा, यह अंधा निरा गँवार नहीं है।"

सूरदास को सोफ़िया से सम्मान पाने के बाद ये अपमान-पूर्ण शब्द बहुत बुरे मालूम हुए। अपना आदर करनेवालों के सामने अपना अपमान कईगुना असह्य हो जाता है। सिर उठाकर बोला—"भगवान ने जन्म दिया है, भगवान की चाकरी करता हूँ। किसी दूसरे की ताबेदारी अब नहीं हो सकती।"

मिसेज़ सेवक—"तेरे भगवान् ने तुझे अंधा क्यों बना दिया? इसलिये कि तू भीख माँगता फिरे? तेरा भगवान् बड़ा अन्यायी है।"

सोफ़िया—(अँगरेज़ी में) "मामा, आप इसका इतना अनादर कर रही हैं कि मुझे शर्म आती है।"

सूरदास—"भगवान अन्यायी नहीं है, मेरे पूर्व-जन्म की कमाई ही ऐसी थी। जैसे कर्म किए हैं, वैसे फल भोग रहा हूँ। यह सब भगवान की लीला है। वह बड़ा खिलाड़ी है। घरौंदे बनाता-बिगाड़ता रहता है। उसे किसी से वैर नहीं। वह क्यों किसी पर अन्याय करने लगा?"

सोफ़िया—"मैं अगर अंधी होती, तो ख़ुदा को कभी माफ़ न करती।"

सूरदास—"मिस साहब, अपने पाप सबको आप भोगने पड़ते हैं, भगवान का इसमें कोई दोष नहीं।"

सोफ़िया—"मामा, यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आता। अगर प्रभु ईसू ने अपने रुधिर से हमारे पापों का प्रायश्चित्त कर दिया, तो फिर सारे ईसाई समान दशा में क्यों नहीं हैं? अन्य मतावलंबियों की भाँति हमारी जाति में भी अमीर-ग़रीब, अच्छे-बुरे, लँगड़े-लूले, सभी तरह के लोग मौजूद हैं। इसका क्या कारण है?"

मिसेज़ सेवक ने अभी कोई उत्तर न दिया था कि सूरदास बोल उठा—"मिस साहब, अपने पापों का प्रायश्चित्त हमें आप करना पड़ता है। अगर आज मालूम हो जाय कि किसी ने हमारे पापों का भार अपने सिर ले लिया, तो संसार में अंधेर मच जाय।"

मिसेज़ सेवक—"सोफ़ी, बड़े अफ़सोस की बात है कि इतनी मोटी-सी बात तेरी समझ में नहीं आती, हालाँकि रेवरेंड पिम ने स्वयं कई बार तेरी शंका का समाधान किया है।"

प्रभु सेवक—(सूरदास से) "तुम्हारे विचार में हम लोगों को वैरागी हो जाना चाहिए। क्यों?"

सूरदास—"हाँ, जब तक हम वैरागी न होंगे, दुःख से नहीं बच सकते।"

जॉन सेवक—"शरीर में भभूत मलकर भीख माँगना स्वयं सबसे बड़ा दुःख है; यह हमें दुःखों से क्योंकर मुक्त कर सकता है?"

सूरदास—"साहब, बैरागी होने के लिये भभूत लगाने और भीख माँगने की ज़रूरत नहीं। हमारे महात्माओं ने तो भभूत लगाने और जटा बढ़ाने को पाखंड बताया है। बैराग तो मन से होता है। संसार में रहे, पर संसार का होकर न रहे। इसी को बैराग कहते हैं।"

मिसेज़ सेवक—"हिंदुओं ने ये बातें यूनान के Stoics से सीखी हैं; किंतु यह नहीं समझते कि इनका व्यवहार में लाना कितना कठिन है। यह हो ही नहीं सकता कि आदमी पर दुख-सुख का असर न पड़े। इसी अंधे को अगर इस वक़्त पैसे न मिलें, तो दिल में हमें हज़ारों गालियाँ देगा।"

जॉन सेवक—"हाँ, इसे कुछ मत दो, देखो, क्या कहता है। अगर ज़रा भी भुनभुनाया, तो हंटर से बातें करूँगा। सारा बैराग भूल जायगा। माँगता है भीख, धेले-धेले के लिये मीलों कुत्तों की तरह दौड़ता है, उस पर दावा यह है कि मैं बैरागी हूँ। (कोचवान से) गाड़ी फेरो, क्लब होते हुए बँगले चलो।"

सोफ़िया—"मामा, कुछ तो ज़रूर दे दो, बेचारा आशा लगाकर इतनी दूर दौड़ा आया था।"

प्रभु सेवक—"ओहो, मुझे तो पैसे भुनाने की याद ही न रही।"

जॉन सेवक—"हरगिज़ नहीं, कुछ मत दो, मैं इसे बैराग का सबक़ देना चाहता हूँ।"

गाड़ी चली। सूरदास निराशा की मूर्ति बना हुआ अंधी आखों से गाड़ी की तरफ़ ताकता रहा, मानो उसे अब भी विश्वास न होता था कि कोई इतना निर्दयी हो सकता है। वह उपचेतना की दशा में कई क़दम गाड़ी के पीछे-पीछे चला। सहसा सोफ़िया ने कहा—"सूरदास, खेद है, मेरे पास इस समय पैसे नहीं हैं। फिर कभी आऊँगी, तो तुम्हें इतना निराश न होना पड़ेगा।"

अंधे सूक्ष्मदर्शी होते हैं। सूरदास स्थिति को भली भाँति समझ

गया। हृदय को क्लेश तो हुआ, पर बेपरवाही से बोला— 'मिस साहब, इसकी क्या चिंता ? भगवान तुम्हारा कल्यान करें। तुम्हारी दया चाहिए, मेरे लिये यही बहुत है।"

सोफ़िया ने मा से कहा—"मामा, देखा आपने, इसका मन ज़रा भी मैला नहीं हुआ।"

प्रभु सेवक—"हाँ, दुखी तो नहीं मालूम होता।"

जॉन सेवक—"उसके दिल से पूछो।"

मिसेज़ सेवक—"गालियाँ दे रहा होगा।"

गाड़ी अभी धीरे-धीरे चल रही थी। इतने में ताहिरअली ने पुकारा—"हुज़ूर, यह ज़मीन पंडा की नहीं, सूरदास की है। यह कह रहे हैं।"

साहब ने गाड़ी रुकवा दी, लज्जित नेत्रों से मिसेज़ सेवक को देखा, गाड़ी से उतरकर सूरदास के पास आए, और नम्र भाव से बोले—"क्यों सूरदास, यह ज़मीन तुम्हारी है ?"

सूरदास—"हाँ हुज़ूर, मेरी ही है। बाप-दादों की इतनी ही तो निसानी बच रही है।"

जॉन सेवक—"तब तो मेरा काम बन गया। मैं चिंता में था कि न-जाने कौन इसका मालिक है। उससे सौदा पटेगा भी या नहीं। जब तुम्हारी है, तो फिर कोई चिंता नहीं। तुम-जैसे त्यागी और सज्जन आदमी से ज़्यादा झंझट न करना पड़ेगा। जब तुम्हारे पास इतनी ज़मीन है, तो तुमने यह भेष क्यों बना रक्खा है ?"

सूरदास—"क्या करूँ हुज़ूर, भगवान की जो इच्छा है, वह कर रहा हूँ।"

जॉन सेवक—"तो अब तुम्हारी विपत्ति कट जायगी। बस, यह ज़मीन मुझे दे दो। उपकार का उपकार, और लाभ का लाभ। मैं तुम्हें मुँह-माँगा दाम दूँगा।

सूरदास—"सरकार, पुरखों की यही निसानी है, बेचकर उन्हें कौन मुँह दिखाऊँगा ?"

जॉन सेवक—"यहीं सड़क पर एक कुआँ बनवा दूँगा। तुम्हारे पुरखों का नाम उससे चलता रहेगा।"

सूरदास—"साहब, इस जमीन से मुहल्लेवालों का बड़ा उपकार होता है। कहीं एक अँगुल-भर चरी नहीं है। आस-पास के सब ढोर यहीं चरने आते हैं। बेच दूँगा, तो ढोरों के लिये कोई ठिकाना न रह जायगा।"

जॉन सेवक—"कितने रुपए साल चराई के पाते हो ?"

सूरदास—"कुछ नहीं, मुझे भगवान खाने-भर को यों ही दे देते हैं, तो किसी से चराई क्या लूँ ? किसी का और कुछ उपकार नहीं कर सकता, तो इतना ही सही।"

जॉन सेवक—(आश्चर्य से) "तुमने इतनी ज़मीन यों ही चराई के लिये छोड़ रक्खी है ? सोफ़िया सत्य कहती थी कि तुम त्याग की मूर्ति हो। मैंने बड़ों-बड़ों में इतना त्याग नहीं देखा। तुम धन्य हो ! लेकिन जब पशुओं पर इतनी दया करते हो, तो मनुष्यों को कैसे निराश करोगे ? मैं यह ज़मीन लिए बिना तुम्हारा गला न छोड़ूँगा।"

सूरदास—"सरकार, यह जमीन मेरी है जरूर, लेकिन जब तक मुहल्लेवालों से पूछ न लूँ, कुछ कह नहीं सकता। आप इसे लेकर क्या करेंगे ?"

जॉन सेवक—"यहाँ एक कारख़ाना खोलूँगा, जिससे देश और जाति की उन्नति होगी, ग़रीबों का उपकार होगा, हज़ारों आदमियों की रोटियाँ चलेंगी। इसका यश भी तुम्हीं को होगा।"

सूरदास—हुजूर, मुहल्लेवालों से पूछे बिना मैं कुछ नहीं कह सकता।"

जॉन सेवक—"अच्छी बात है, पूछ लो। मैं फिर तुमसे मिलूँगा।

इतना समझ रक्खो कि मेरे साथ सौदा करने में तुम्हें घाटा न रहेगा। तुम जिस तरह खुश होगे, उसी तरह खुश करूँगा। यह लो (जेब से पाँच रुपए निकालकर), मैंने तुम्हें मामूली भिखारी समझ लिया था, उस अपमान को क्षमा करो।"

सूरदास—"हुजूर, मैं रुपए लेकर क्या करूँगा? धर्म के नाते दो-चार पैसे दे दीजिए, तो आपका कल्यान मनाऊँगा। और किसी नाते से मैं रुपए न लूँगा।"

जॉन सेवक—"तुम्हें दो-चार पैसे क्या दूँ? इसे ले लो, धर्मार्थ ही समझो।"

सूरदास—"नहीं साहब, धर्म में आपका स्वार्थ मिल गया है, अब यह धर्म नहीं रहा।"

जॉन सेवक ने बहुत आग्रह किया, किंतु सूरदास ने रुपए नहीं लिए। तब वह हारकर गाड़ी पर जा बैठे।

मिसेज़ सेवक ने पूछा—"क्या बातें हुईं?"

जॉन सेवक—"है तो भिखारी, पर बड़ा घमंडी है। पाँच रुपए देता था, न लिए।"

मिसेज़ सेवक—"है कुछ आशा?"

जॉन सेवक—"जितना आसान समझता था, उतना आसान नहीं है।"

गाड़ी तेज़ हो गई।

[२]

सूरदास लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में चलते-चलते सोचने लगा—"यह है बड़े आदमियों की स्वार्थपरता! पहले कैसे हेकड़ी दिखाते थे, मुझे कुत्ते से भी नीचा समझा; लेकिन ज्यों ही मालूम हुआ कि जमीन मेरी है, कैसी लल्लो-चप्पो करने लगे। इन्हें मैं अपनी जमीन दिए देता हूँ! ५) दिखाते थे, मानो मैंने रुपए देखे ही नहीं। पाँच तो क्या, पाँच सौ भी दें, तो भी जमीन न दूँगा। मुहल्लेवालों को कौन मुँह दिखाऊँगा। इनके कारखाने के लिये बेचारी गउएँ मारी-मारी फिरें! ईसाइयों को तनिक भी दया-धर्म का विचार नहीं होता। बस, सबको ईसाई ही बनाते फिरते हैं। कुछ नहीं देना था, तो पहले ही दुत्कार देते। मील-भर दौड़ाकर कह दिया, चल हट। इन सबों में मालूम होता है, उसी लड़की का स्वभाव अच्छा है। उसी में दया-धर्म है। बुढ़िया तो पूरी करकसा है, सीधे मुँह बात ही नहीं करती। इतना घमंड! जैसे यही विक्टोरिया हैं। राम-राम, थक गया, अभी तक दम फूल रहा है। ऐसा आज तक कभी न हुआ था कि इतना दौड़ाकर किसी ने कोरा जवाब दे दिया हो। भगवान की यही इच्छा होगी। मन, इतने दुखी न हो, माँगना तुम्हारा काम है, देना दूसरों का काम है। अपना धन है, कोई नहीं देता, तो तुम्हें बुरा क्यों लगता है? लोगों से कह दूँ कि साहब जमीन माँगते थे? नहीं, सब घबरा जायँगे। मैंने जवाब तो दे ही दिया, अब दूसरों से कहने का परोजन ही क्या?"

यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य

झोपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर से पैसों की छोटी-सी पोटली निकाली, जो आज दिन-भर की कमाई थी। तब झोपड़ी की छान से टटोलकर एक थैली निकाली, जो उसके जीवन का सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी कि किसी के कानों में भनक भी न पड़े। फिर थैली को छान में छिपाकर वह पड़ोस के एक घर से आग माँग लाया। पेड़ों के नीचे से कुछ सूखी टहनियाँ जमा कर रक्खी थीं, उनसे चूल्हा जलाया। झोपड़ी में हलका-सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडंबना थी! कितना नैराश्य-पूर्ण दारिद्र्य था! न खाट, न बिस्तर; न बरतन, न भाँड़े। एक कोने में मिट्टी का एक घड़ा था, जिसकी आयु का कुछ अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँडी थी। एक पुराना, चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ तवा, और एक छोटी-सी कठौत, और एक लोटा। बस, यही उस घर की सारी संपत्ति थी। मानव-लालसाओं का कितना संक्षिप्त स्वरूप! सूरदास ने आज जितना नाज पाया था, वह ज्यों-का-त्यों हाँडी में डाल दिया। कुछ जौ थे, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने, थोड़ी-सी जुआर और मुट्ठी-भर चावल। ऊपर से थोड़ा-सा नमक डाल दिया। किसकी रसना ने ऐसी खिचड़ी का मज़ा चखा है? उसमें संतोष की मिठास थी, जिससे मीठी संसार में कोई वस्तु नहीं। हाँडी को चूल्हे पर चढ़ाकर वह घर से निकला, द्वार पर टट्टी लगाई, और सड़क पर जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा-सा आटा और एक पैसे का गुड़ लाया। आटे को कठौती में गूँधा, और तब आध घंटे तक चूल्हे के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। उस धुँधले प्रकाश में उसका दुर्बल शरीर और उसका जीर्ण वस्त्र मनुष्य के जीवन-प्रेम का उपहास कर रहा था।

हाँडी में कई बार उबाल आए, कई बार आग बुझी। बार-बार चूल्हा फूँकते-फूँकते सूरदास की आँखों से पानी बहने लगता था। आँखें चाहे देख न सकें, पर रो सकती हैं। यहाँ तक कि वह 'षटरस'-युक्त अवलेह तैयार हुआ। उसने उसे उतारकर नीचे रक्खा। तब तवा चढ़ाया, और हाथों से रोटियाँ बना-बनाकर सेकने लगा। कितना ठीक अंदाज़ था। रोटियाँ सब समान थीं—न छोटी, न बड़ी; न सेवड़ी, न जली हुई। तवे से उतार-उतारकर रोटियों को चूल्हे में खिलाता था, और ज़मीन पर रखता जाता था। जब रोटियाँ बन गईं, तो उसने द्वार पर खड़े होकर ज़ोर से पुकारा—"मिट्ठू, मिट्ठू, आओ बेटा, खाना तैयार है।" किंतु जब मिट्ठू न आया, तो उसने फिर द्वार पर टट्टी लगाई, और नायकराम के बरामदे में जाकर 'मिट्ठू-मिट्ठू' पुकारने लगा। मिट्ठू वहीं पड़ा सो रहा था, आवाज़ सुनकर चौंका। बारह-तेरह वर्ष का सुंदर हँसमुख बालक था। भरा हुआ शरीर, सुडौल हाथ-पाँव। यह सूरदास के भाई का लड़का था। मा-बाप दोनो प्लेग में मर चुके थे। तीन साल से उसके पालन-पोषण का भार सूरदास ही पर था। वह इस बालक को प्राणों से भी प्यारा समझता था। आप चाहे फ़ाक़े करे, पर मिट्ठू को तीन बार अवश्य खिलाता था। आप मटर चबाकर रह जाता था, पर उसे शकर और रोटी, कभी घी और नमक के साथ रोटियाँ, खिलाता था। अगर कोई भिक्षा में मिठाई या गुड़ दे देता, तो उसे बड़े यत्न से अँगोछे के कोने में बाँध लेता, और मिट्ठू को ही देता। सबसे कहता, यह कमाई बुढ़ापे के लिये कर रहा हूँ। अभी तो हाथ-पैर चलते हैं, माँग खाता हूँ; जब उठ-बैठ न सकूँगा, तो लोटा-भर पानी कौन देगा। मिट्ठू को सोते पाकर गोद में उठा लिया, और झोपड़ी के द्वार पर उतारा। तब द्वार खोला, लड़के का मुँह धुलवाया, और उसके सामने गुड़ और रोटियाँ रख दीं। मिट्ठू ने

रोटियाँ देखीं, तो ठुनककर बोला—"मैं रोटी और गुड़ न खाऊँगा।" यह कहकर उठ खड़ा हुआ।

सूरदास—"बेटा, बहुत अच्छा गुड़ है, खाओ तो। देखो, कैसी नरम-नरम रोटियाँ हैं। गेहूँ की हैं।"

मिट्ठू—"मैं न खाऊँगा।"

सूरदास—"तो क्या खाओगे बेटा? इतनी रात गए और क्या मिलेगा?"

मिट्ठू—"मैं तो दूध-रोटी खाऊँगा।"

सूरदास—"बेटा, इस जून खा लो। सबेरे मैं दूध ला दूँगा।"

मिट्ठू रोने लगा। सूरदास उसे बहलाकर हार गया, तो अपने भाग्य को रोता हुआ उठा, लकड़ी सँभाली, और टटोलता हुआ बजरंगी अहीर के घर आया, जो उसके झोपड़े के पास ही था। बजरंगी खाट पर बैठा नारियल पी रहा था। उसकी स्त्री जमुनी खाना पकाती थी। आँगन में तीन भैंसें और चार-पाँच गाएँ चरनी पर बँधी हुई चारा खा रही थीं। बजरंगी ने कहा—"कैसे चले सूरे? आज बग्घी पर कौन लोग बैठे तुमसे बातें कर रहे थे?"

सूरदास—"वही गोदाम के साहब थे।"

बजरंगी—"तुम तो बहुत दूर तक गाड़ी के पीछे दौड़े, कुछ हाथ लगा?"

सूरदास—"पत्थर हाथ लगा। ईसाइयों में भी कहीं दया-धरम होता है। मेरी वही जमीन लेने को कहते थे।"

बजरंगी—"गोदाम के पीछेवाली न?"

सूरदास—"हाँ वही, बहुत लालच देते रहे, पर मैंने हामी नहीं भरी।"

सूरदास ने सोचा था, अभी किसी से यह बात न कहूँगा, पर इस समय दूध लेने के लिये कुछ ख़ुशामद ज़रूरी थी। अपना त्याग दिखाकर सुर्ख़रू बनना चाहता था।

बजरंगी—"तुम हामी भी भरते, तो यहाँ कौन उसे छोड़े देता था। तीन-चार गाँवों के बीच में वही तो इतनी ज़मीन है। वह निकल जायगी, तो हमारी गाएँ और भैंसें कहाँ जायँगी?"

जमुनी—"मैं तो इन्हीं के द्वार पर सबों को बाँध आती।"

सूरदास—"मेरी जान निकल जाय, तब तो बेचूँ ही नहीं, हजार-पाँच सौ की क्या गिनती। भौजी, एक घूँट दूध हो, तो दे दे। मिठुआ खाने बैठा है। रोटी और गुड़ छूता ही नहीं, बस दूध-दूध की रट लगाए हुए है। जो चीज घर में नहीं होती, उसी के लिये जिद करता है। दूध न पाएगा, तो बिना खाए ही सो रहेगा।"

बजरंगी—"ले जाओ, दूध का कौन अकाल है। अभी दुहा है। घीसू की मा, एक कुल्हिया दूध दे दे सूरे को।"

जमुनी—"जरा बैठ जाओ सूरे, हाथ खाली हो, तो दूँ।"

बजरंगी—"वहाँ मिठुआ खाने बैठा है, तू कहती है, हाथ खाली हो, तो दूँ। तुझसे न उठा जाय, तो मैं आऊँ।"

जमुनी जानती थी कि यह बुद्धूदास उठेंगे, तो पाव के बदले आध सेर दे डालेंगे। चटपट रसोई से निकल आई। एक कुल्हिया में आधा पानी लिया, ऊपर से दूध डालकर सूरदास के पास आई, और विषाक्त हितैषिता से बोली—"यह लो, इस लौंडे की जीभ तुमने ऐसी बिगाड़ दी है कि बिना दूध के कौर ही नहीं उठाता। बाप जीता था, तो भर-पेट चने भी न मिलते थे, अब दूध के बिना खाने ही नहीं उठता।"

सूरदास—"क्या करूँ भाभी, रोने लगता है, तो तरस आता है।"

जमुनी—"अभी इस तरह पाल-पोस रहे हो कि एक दिन काम आएगा, मगर देख लेना, जो चुल्लू-भर पानी को भी पूछे। मेरी बात गाँठ बाँध लो। पराया लड़का कभी अपना नहीं होता। हाथ-

पाँव हुए, और तुम्हें दुत्कारकर अलग हो जायगा। तुम अपने लिये साँप पाल रहे हो।"

सूरदास—"जो कुछ मेरा धरम है, किए देता हूँ। आदमी होगा, तो कहाँ तक जस न मानेगा। हाँ, अपनी तकदीर ही खोटी हुई, तो कोई क्या करेगा। अपने ही लड़के क्या बड़े होकर मुँह नहीं फेर लेते?"

जमुनी—"क्यों नहीं कह देते, मेरी भैंसें चरा लाया करे। जवान तो हुआ, क्या जनम-भर नन्हा ही बना रहेगा? घीसू ही का जोड़ी-पारी तो है। मेरी बात गाँठ बाँध लो। अभी से किसी काम में न लगाया, तो खिलाड़ी हो जायगा। फिर किसी काम में उसका जी न लगेगा। सारी उमर तुम्हारे ही सिर फुलौरियाँ खाता रहेगा।"

सूरदास ने इसका कुछ जवाब न दिया। दूध की कुल्हिया ली, और लाठी से टटोलता हुआ घर चला। मिट्ठू ज़मीन पर पड़ा सो रहा था। उसे फिर उठाया, और दूध में रोटियाँ भिगोकर उसे अपने हाथ से खिलाने लगा। मिट्ठू नींद से गिरा पड़ता था, पर कौर सामने आते ही उसका मुँह आप-ही-आप खुल जाता। जब वह सारी रोटियाँ खा चुका, तो सूरदास ने उसे चटाई पर लिटा दिया, और हाँडी से अपनी पँचमेल खिचड़ी निकालकर खाई। पेट न भरा, तो हाँडी धोकर पी गया। तब फिर मिट्ठू को गोद में उठाकर बाहर आया, द्वार पर टट्टी लगाई और मंदिर की ओर चला।

यह मंदिर ठाकुरजी का था, बस्ती के दूसरे सिरे पर। ऊँची कुर्सी थी। मंदिर के चारो तरफ़ तीन-चार गज़ का चौड़ा चबूतरा था। यही मुहल्ले की चौपाल थी। सारे दिन दस-पाँच आदमी यहाँ लेटे या बैठे रहते थे। एक पक्का कुँआ भी था, जिस पर जगधर नाम का एक खोंचेवाला बैठा करता था। तेल की मिठाइयाँ, मूँगफली, रामदाने के लड्डू आदि रखता था। राहगीर आते, उससे मिठाइयाँ लेते, पानी निकालकर पीते, और अपनी राह चले जाते। मंदिर के

पुजारी का नाम दयागिर था, जो इसी मंदिर के समीप एक कुटिया में रहते थे। सगुण ईश्वर के उपासक थे, भजन-कीर्तन को मुक्ति का मार्ग समझते थे, और निर्गुण को ढोंग कहते थे। शहर के पुराने रईस कुँअर भरतसिंह के यहाँ से मासिक वृत्ति बँधी हुई थी। इसीसे ठाकुरजी का भोग लगता था। बस्ती से भी कुछ-न-कुछ मिल ही जाता था। निःस्पृह आदमी था, लोभ छू भी नहीं गया था, संतोष और धीरज का पुतला था। सारे दिन भगवत्-भजन में मग्न रहता था। मंदिर में एक छोटी-सी संगत थी। आठ-नौ बजे रात को, दिन-भर के काम-धंधे से निवृत्त होकर, कुछ भक्तजन जमा हो जाते थे, और घंटे-दो घंटे भजन गाकर चले जाते थे। ठाकुरदीन ढोल बजाने में निपुण था, बजरंगी करताल बजाता था, जगधर को तँबूरे में कमाल था, नायकराम और दयागिर सारंगी बजाते थे। मजीरे-वालों की संख्या घटती-बढ़ती रहती थी। जो और कुछ न कर सकता, वह मजीरा ही बजाता था। सूरदास इस संगत का प्राण था। वह ढोल, मजीरे, करताल, सारंगी, तँबूरा, सभी में समान रूप से अभ्यस्त था; और गाने में तो आस-पास के कई मुहल्लों में उसका जवाब न था। ठुमरी-ग़ज़ल से उसे रुचि न थी। कबीर, मीरा, दादू, कमाल, पलटू आदि संतों के भजन गाता था। उस समय उसका नेत्र-हीन मुख अति आनंद से प्रफुल्लित हो जाता था। गाते-गाते मस्त हो जाता, तन-बदन की सुधि न रहती। सारी चिंताएँ, सारे क्लेश भक्ति-सागर में विलीन हो जाते थे।

सूरदास मिट्ठू को लिए हुए पहुँचा, तो संगत बैठ चुकी थी। सभासद् आ गए थे, केवल सभापति की कमी थी। उसे देखते ही नायकराम ने कहा—"तुमने बड़ी देर कर दी, आध घंटे से तुम्हारी राह देख रहे हैं। यह लौंडा बेतरह तुम्हारे गले पड़ा है। क्यों नहीं इसे हमारे ही घर से कुछ माँगकर खिला दिया करते।"

दयागिर—"यहाँ चला आया करे, तो ठाकुरजी के प्रसाद ही से पेट भर जाय।"

सूरदास—"तुम्हीं लोगों का दिया खाता है, या और किसी का? मैं तो बनाने-भर को हूँ।"

जगधर—"लड़कों को इतना सिर चढ़ाना अच्छा नहीं। गोद में लादे फिरते हो, जैसे नन्हा-सा बालक हो। मेरा विद्याधर इससे दो साल छोटा है। मैं उसे कभी गोद में लेकर नहीं फिरता।"

सूरदास—"बिना मा-बाप के लड़के हठी हो जाते हैं। हाँ, क्या होगा?"

दयागिर—"पहले रामायण की एक चौपाई हो जाय।"

लोगों ने अपने-अपने साज़ सँभाले। सुर मिला, और आध घंटे तक रामायण हुई।

नायकराम—"वाह सूरदास, वाह! अब तुम्हारे ही दम का जलूसा है।"

बजरंगी—"मेरी तो कोई दोनो आँखें ले ले, और यह हुनर मुझे दे दे, तो मैं खुसी से बदल लूँ।"

जगधर—"अभी भैरो नहीं आया, उसके बिना रंग नहीं जमता।"

बजरंगी—"ताड़ी बेचता होगा। पैसे का लोभ बुरा होता है। घर में एक मेहरिया है, और एक बुढ़िया माँ। मुदा रात-दिन हाय-हाय पड़ी रहती है। काम करने को तो दिन है ही, भला रात को तो भगवान का भजन हो जाय।"

जगधर—"सूरे का दम उखड़ जाता है, उसका दम नहीं उखड़ता।"

बजरंगी—"तुम अपना खोंचा बेचो, तुम्हें क्या मालूम, दम किसे कहते हैं। सूरदास जितना दम बाँधते हैं, उतना दूसरा बाँधे, तो कलेजा फट जाय। हँसी-खेल नहीं है।

जगधर—"अच्छा भैया, सूरदास के बराबर दुनिया में कोई दम नहीं बाँध सकता। अब खुस हुए?"

सूरदास—"भैया, इसमें झगड़ा काहे का? मैं कब कहता हूँ कि मुझे गाना आता है। तुम लोगों का हुकुम पाकर, जैसा भला-बुरा बनता है, सुना देता हूँ।"

इतने में भैरो भी आकर बैठ गया। बजरंगी ने व्यंग्य करके कहा—"क्या अब कोई ताड़ी पीनेवाला नहीं था? इतनी जल्दी क्यों दूकान बढ़ा दी?"

ठाकुरदीन—"मालूम नहीं, हाथ-पैर भी धोए हैं, या वहाँ से सीधे ठाकुरजी के मंदिर में चले आए। अब सफ़ाई तो कहीं रह ही नहीं गई।"

भैरो—"क्या मेरी देह में ताड़ी पुती हुई है?"

ठाकुरदीन—"भगवान के दरबार में इस तरह न आना चाहिए। जात चाहे ऊँची हो या नीची; पर सफ़ाई चाहिए जरूर।"

भैरो—"तुम यहाँ नित्य नहाकर आते हो?"

ठाकुरदीन—"पान बेचना कोई नीच काम नहीं है।"

भैरो—"जैसे पान, वैसे ताड़ी। पान बेचना कोई ऊँचा काम नहीं है।"

ठाकुरदीन—"पान भगवान के भोग के साथ रक्खा जाता है। बड़े-बड़े जनेऊधारी मेरे हाथ का पान खाते हैं। तुम्हारे हाथ का तो कोई पानी नहीं पीता।"

नायकराम—"ठाकुरदीन, यह बात तो तुमने बड़ी खरी कही। सच तो है, पासी से कोई घड़ा तक नहीं छुआता।"

भैरो—"हमारी दूकान पर एक दिन आकर बैठ जाओ, तो दिखा दूँ, कैसे-कैसे धर्मात्मा और तिलकधारी आते हैं। जोगी-जती लोगों को भी किसी ने पान खाते देखा है? ताड़ी, गाँजा, चरस

पीते चाहे जब देख लो। एक-से-एक महात्मा आकर खुसामद करते हैं।"

नायकराम—"ठाकुरदीन, अब इसका जवाब दो। भैरो पढ़ा-लिखा होता, तो वकीलों के कान काटता।"

भैरो—"मैं तो बात सच्ची कहता हूँ, जैसे ताड़ी, वैसे पान; बल्कि परान की ताड़ी को तो लोग दवा की तरह पीते हैं।"

जगधर—"यारो, दो-एक भजन होने दो। मान क्यों नहीं जाते ठाकुरदीन? तुम्हीं हारे, भैरो जीता, चलो छुट्टी हुई।"

नायकराम—"वाह, हार क्यों मान लें। सासतरार्थ है कि दिल्लगी। हाँ ठाकुरदीन, कोई जवाब सोच निकालो।"

ठाकुरदीन—"मेरी दूकान पर खड़े हो जाओ, जी खुश हो जाता है। केवड़े और गुलाब की सुगंध उड़ती है। इसकी दूकान पर कोई खड़ा हो जाय, तो बदबू के मारे नाक फटने लगती है। खड़ा नहीं रहा जाता। परनाले में भी इतनी दुर्गंध नहीं होती।"

बजरंगी—"मुझे तो घंटे-भर के लिये राज मिल जाता, तो सबसे पहले सहर-भर की ताड़ी की दूकानों में आग लगवा देता।"

नायकराम—"अब बताओ भैरो, इसका जवाब दो। दुर्गंध तो सचमुच उड़ती है। है कोई जवाब?"

भैरो—"जवाब एक नहीं, सैकड़ों हैं। पान सड़ जाता है, तो कोई मिट्टी के मोल भी नहीं पूछता। यहाँ ताड़ी जितनी ही सड़ती है, उतना ही उसका मोल बढ़ता है। सिरका बन जाता है, तो रुपए बोतल बिकता है, और बड़े-बड़े जनेऊधारी लोग खाते हैं।"

नायकराम—"क्या बात कही है कि जी खुस हो गया। मेरा अख्तियार होता, तो इसी घड़ी तुमको वकालत की सनद दे देता। ठाकुरदीन, अब हार मान जाओ, भैरो से पेस न पा सकोगे।"

जगधर—"भैरो, तुम चुप क्यों नहीं हो जाते? पंडाजी को तो

जानते हो, दूसरों को लड़ाकर तमाशा देखना इनका काम है। इतना कह देने में कौन-सी मरजादा घटी जाती है कि बाबा, तुम जीते और मैं हारा।"

भैरो—"क्यों इतना कह दूँ? बात करने में किसी से कम हूँ क्या?"

जगधर—"तो ठाकुरदीन, तुम्हीं चुप हो जाओ।"

ठाकुरदीन—"हाँ जी, चुप न हो जाऊँगा, तो क्या करूँगा। यहाँ आए थे कि कुछ भजन-कीर्तन होगा, सो व्यर्थ का झगड़ा करने लगे। पंडाजी को क्या, इन्हें तो बेहाथ-पैर हिलाए अमिर्तियाँ और लड्डू खाने को मिलते हैं, इन्हें इसी तरह की दिल्लगी सूझती है। यहाँ तो पहर रात से उठकर फिर चक्की में जुतना है।"

जगधर—"मेरी तो अब की भगवान से भेंट होगी, तो कहूँगा, किसी पंडे के घर जनम देना।"

नायकराम—"भैया, मुझ पर हाथ न उठाओ, दुबला-पतला आदमी हूँ। मैं तो चाहता हूँ, जल-पान के लिये तुम्हारे ही खोंचे से मिठाइयाँ लिया करूँ, मगर उस पर इतनी मक्खियाँ उड़ती हैं, ऊपर इतना मैल जमा रहता है कि खाने को जी नहीं चाहता।"

जगधर—(चिढ़कर) "तुम्हारे न लेने से मेरी मिठाइयाँ सड़ तो नहीं जातीं कि भूखों मरता हूँ? दिन-भर में रुपया-बीस आने पैसे बना ही लेता हूँ। जिसे संत-मेंत में रसगुल्ले मिल जायँ, वह मेरी मिठाइयाँ क्यों लेगा?"

ठाकुरदीन—"पंडाजी की आमदनी का कोई ठिकाना है, जितना रोज मिल जाय, थोड़ा ही है, ऊपर से भोजन घाते में। कोई आँख का अंधा गाँठ का पूरा फँस गया, तो हाथी-घोड़े, जगह-जमीन, सब दे गया। ऐसा भगवान और कौन होगा?"

दयागिर—"कहीं नहीं ठाकुरदीन, अपनी मेहनत की कमाई सबसे अच्छी। पंडों को यात्रियों के पीछे दौड़ते नहीं देखा है?"

नायकराम—"बाबा, अगर कोई कमाई पसीने की है, तो वह हमारी कमाई है। हमारी कमाई का हाल बजरंगी से पूछो।"

बजरंगी—"औरों की कमाई पसीने की होती होगी, तुम्हारी कमाई तो खून की है। और लोग पसीना बहाते हैं, तुम खून बहाते हो। एक-एक जजमान के पीछे लोहू की नदी बह जाती है। जो लोग खोंचा सामने रखकर दिन-भर मक्खी मारा करते हैं, वे क्या जानें, तुम्हारी कमाई कैसी होती है? एक दिन मोरचा थामना पड़े, तो भागने को जगह न मिले।"

जगधर—"चलो भी, आए हो मुँहदेखी कहने। सेर-भर दूध के ढाई सेर बनाते हो, उस पर भगवान के भगत बनते हो।"

बजरंगी—"अगर कोई माई का लाल मेरे दूध में एक बूँद पानी निकाल दे, तो उसकी टाँग की राह निकल जाऊँ। यहाँ दूध में पानी मिलाना गऊ-हत्या समझते हैं। तुम्हारी तरह नहीं कि तेल की मिठाई को घी की कहकर बेचें, और भोले-भाले बच्चों को ठगें।"

जगधर—"अच्छा भाई, तुम जीते, मैं हारा। तुम सच्चे, तुम्हारा दूध सच्चा। बस, हम खराब, हमारी मिठाइयाँ खराब। चलो छुट्टी हुई।"

बजरंगी—"मेरे मिजाज को तुम नहीं जानते, चेता देता हूँ। पद कहकर कोई सौ जूते मार ले, लेकिन झूठी बात सुनकर मेरे बदन में आग लग जाती है।"

भैरो—"बजरंगी, बहुत बढ़कर बातें न करो, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने से कुछ नहीं होता। बस, मुँह न खुलवाओ, मैंने भी तुम्हारे यहाँ का दूध पिया है। उससे तो मेरी ताड़ी ही अच्छी।"

कुरदीन—"भाई, मुँह से जो चाहे ईमानदार बन ले; पर अब दूध सपना हो गया। सारा दूध जल जाता है, मलाई का नाम नहीं। दूध जब मिलता था, तब मिलता था, एक आँच में अंगुल-भर मोटी मलाई पड़ जाती थी।"

दयागिर—"बच्चा, अभी अच्छा-बुरा कुछ मिल तो जाता है। वे दिन आ रहे हैं कि दूध आँखों में आँजने को भी न मिलेगा।"

भैरो—"हाल तो यह है कि घरवाली सेर के तीन सेर बनाती है, उस पर दावा यह कि हम सच्चा माल बेचते हैं। सच्चा माल बेचो, तो दिवाला निकल जाय। यह ठाट एक दिन न चले।"

बजरंगी—"पसीने की कमाई खानेवालों का दिवाला नहीं निकलता; दिवाला उनका निकलता है, जो दूसरों की कमाई खा-खाकर मोटे पड़ते हैं। भाग को सराहो कि सहर में हो; किसी गाँव में होते, तो मुँह में मक्खियाँ आतीं-जातीं। मैं तो उन सबों को पापी समझता हूँ, जो औने-पौने करके, इधर का सौदा उधर बेचकर, अपना पेट पालते हैं। सच्ची कमाई उन्हीं की है, जो छाती फाड़कर धरती से धन निकालते हैं।"

बजरंगी ने बात तो कही, लेकिन लज्जित हुआ। इस लपेट में वहाँ के सभी आदमी आ जाते थे। वह भैरो, जगधर और ठाकुरदीन को लक्ष्य करना चाहता था, पर सूरदास, नायकराम, दयागिर, सभी पापियों की श्रेणी में आ गए।

नायकराम—"तब तो भैया, तुम हमें भी ले बीते। एक पापी तो मैं ही हूँ कि सारे दिन मटरगस्त करता हूँ, और वह भोजन करता हूँ कि बड़ों-बड़ों को मयस्सर न हो।"

ठाकुरदीन—"दूसरा पापी मैं हूँ कि शौक की चीज बेचकर रोटियाँ कमाता हूँ। संसार में तमोली न रहे, तो किसका नुकसान होगा।"

जगधर—"तीसरा पापी मैं हूँ कि दिन-भर औन-पौन करता रहता हूँ। सेव और खुमें खाने को न मिलें, तो कोई मर न जायगा।"

भैरो—"तुमसे बड़ा पापी मैं हूँ कि सबको नसा खिलाकर अपना पेट पालता हूँ। सच पूछो, तो इससे बुरा कोई काम नहीं। आठो

पहर नसेबाजों का साथ, उन्हीं की बातें सुनना, उन्हीं के बीच में रहना। यह भी कोई जिंदगी है!"

दयागिर—"क्यों बजरंगी, साधू-संत तो सबसे बड़े पापी होंगे कि वे कुछ नहीं करते?"

बजरंगी—"नहीं बाबा, भगवान के भजन से बढ़कर और कौन उद्दम होगा? राम-नाम की खेती सब कामों से बढ़कर है।"

नायकराम—"तो यहाँ अकेले बजरंगी पुन्यात्मा हैं, और सब-के-सब पापी हैं।"

बजरंगी—"सच पूछो, तो सबसे बड़ा पापी मैं हूँ कि गउओं का पेट काटकर, उनके बछड़ों को भूखों मारकर, अपना पेट पालता हूं।"

सूरदास—"भाई, खेती सबसे उत्तम है, बान उससे मद्धिम है; बस, इतना ही फरक है। बान को पाप क्यों कहते हो, और क्यों पापी बनते हो? हाँ, सेवा निरघिन है, और चाहो, तो उसे पाप कहो। अब तक तो तुम्हारे ऊपर भगवान की दया है, अपना-अपना काम करते हो, मगर ऐसे बुरे दिन आ रहे हैं, जब तुम्हें सेवा और टहल करके पेट पालना पड़ेगा, जब तुम अपने नौकर नहीं, पराए के नौकर हो जाओगे, जब तुममें नीति-धरम का निसान भी न रहेगा।"

सूरदास ने ये बातें बड़े गंभीर भाव से कहीं, जैसे कोई ऋषि भविष्यवाणी कर रहा हो। सब लोग सन्नाटे में आ गए। ठाकुरदीन ने चिंतित होकर पूछा—"क्यों सूरे, कोई बिपत आनेवाली है क्या? मुझे तो तुम्हारी बातें सुनकर डर लग रहा है। कोई नई मुसीबत तो नहीं आ रही है?"

सूरदास—"हाँ, लच्छन तो दिखाई देते हैं, चमड़े के गोदाम-वाला साहब यहाँ एक तमाकू का कारखाना खोलने जा रहा है।

मेरी जमीन माँग रहा है। कारखाने का खुलना ही हमारे ऊपर बिपत का आना है।"

ठाकुरदीन—"तो जब यह जानते ही हो, तो क्यों अपनी जमीन देते हो?"

सूरदास—"मेरे देने पर थोड़े ही है भाई, मैं दूँ, तो भी जमीन निकल जायगी, न दूँ, तो भी निकल जायगी। रुपएवाले सब कुछ कर सकते हैं।"

बजरंगी—"साहब रुपएवाले होंगे, तो अपने घर के होंगे। हमारी जमीन क्या खाकर ले लेंगे। माथे गिर जायँगे माथे, ठट्ठा नहीं है।"

अभी ये ही बातें हो रही थीं कि सैयद ताहिरअली आकर खड़े हो गए, और नायकराम से बोले—"पंडाजी, मुझे आपसे कुछ कहना है, ज़रा इधर चले आइए।"

बजरंगी—"उसी जमीन के बारे में कुछ बातचीत करनी है न? वह जमीन न बिकेगी।"

ताहिर—"मैं तुमसे थोड़े ही पूछता हूँ। तुम उस जमीन के मालिक-मुख़्तार नहीं हो।"

बजरंगी—"कह तो दिया, वह जमीन न बिकेगी, मालिक-मुखतार कोई हो।"

ताहिर—"आइए पंडाजी, आइए, इन्हें बकने दीजिए।"

नायकराम—"आपको जो कुछ कहना हो, कहिए; ये सब लोग अपने ही हैं, किसी से परदा नहीं है। सुनेंगे, तो सब सुनेंगे, और जो बात तय होगी, सबकी सलाह से होगी। कहिए, क्या कहते हैं?"

ताहिर—"उसी ज़मीन के बारे में बातचीत करनी थी।"

नायकराम—"तो उस जमीन का मालिक तो आपके सामने बैठा हुआ है; जो कुछ कहना है, उसी से क्यों नहीं कहते? मुझे बीच

में दलाली नहीं खानी है। जब सूरदास ने साहब के सामने इनकार कर दिया, तो फिर कौन-सी बात बाकी रह गई ?"

बजरंगी—"इन्होंने सोचा होगा कि पंडाजी को बीच में डालकर काम निकाल लेंगे। साहब से कह देना, यहाँ साहबी न चलेगी।"

ताहिर—"तुम अहीर हो न, तभी इतने गर्म हो रहे हो। अभी साहब को जानते नहीं हो, तभी बढ़-बढ़कर बातें कर रहे हो। जिस वक़्त साहब ज़मीन लेने पर आ जायँगे, ले ही लेंगे, तुम्हारे रोके न रुकेंगे। जानते हो, शहर के हाकिमों से उनका कितना रब्त-ज़ब्त है ? उनकी लड़की की मँगनी हाकिम-ज़िला से होनेवाली है। उनकी बात को कौन टाल सकता है ? सीधे से, रज़ामंदी के साथ दे दोगे, तो अच्छे दाम पा जाओगे; शरारत करोगे, तो ज़मीन भी निकल जायगी, कौड़ी भी हाथ न लगेगी। रेलों के मालिक क्या ज़मीन अपने साथ लाए थे ? हमारी ही ज़मीन तो ली है। क्या उसी क़ायदे से यह ज़मीन नहीं निकल सकती ?"

बजरंगी—"तुम्हें भी कुछ तय-कराई मिलनेवाली होगी, तभी इतनी खैरखाही कर रहे हो।"

जगधर—"उनसे जो कुछ मिलनेवाला हो, वह हमीं से ले लीजिए, और उनसे कह दीजिए, जमीन न मिलेगी। आप लोग झाँसे-बाज हैं, ऐसा झाँसा दीजिए कि साहब की अक्लि गुम हो जाय।"

ताहिर—"मेरी खैरख़्वाही रुपए के लालच से नहीं है। अपने मालिक की आँख बचाकर एक कौड़ी लेना भी हराम समझता हूँ। खैरख़्वाही इसलिये करता हूँ कि उनका नमक खाता हूँ।"

जगधर—"अच्छा साहब, भूल हुई, माफ कीजिए। मैंने तो संसार के चलन की बात कही थी।"

ताहिर—"तो सूरदास, मैं साहब से जाकर क्या कह दूँ ?"

सूरदास—"बस, यही कह दीजिए कि जमीन न बिकेगी।"

ताहिर—"मैं फिर कहता हूँ, धोका खाओगे। साहब ज़मीन लेकर ही छोड़ेंगे।"

सूरदास—"मेरे जीते-जी तो जमीन न मिलेगी। हाँ, मर जाऊँ, तो भले ही मिल जाय।"

ताहिरअली चले गए, तो भैरो बोला—"दुनिया अपना ही फ़ायदा देखती है। अपना कल्यान हो, दूसरे जिएँ या मरें। बजरंगी, तुम्हारी तो गाएँ चरती हैं, इसलिये तुम्हारी भलाई तो इसी में है कि जमीन बनी रहे। मेरी कौन गाय चरती है? कारख़ाना खुला, तो मेरी बिक्री चौगुनी हो जायगी। यह बात तुम्हारे ध्यान में क्यों नहीं आई? तुम सबकी तरफ से वक़ालत करनेवाले कौन हो? सूरे की जमीन है, वह बेचे या रक्खे, तुम कौन होते हो बीच में कूदनेवाले?"

नायकराम—"हाँ बजरंगी, जब तुमसे कोई वास्ता-सरोकार नहीं, तो तुम कौन होते हो बीच में कूदनेवाले? बोलो, भैरो का जवाब दो।"

बजरंगी—"वास्ता-सरोकार कैसे नहीं? दस गाँवों और मुहल्लों के जानवर यहाँ चरने आते हैं। वे कहाँ जायँगे? साहब के घर कि भैरो के? इन्हें तो अपनी दूकान की हाय-हाय पड़ी हुई है। किसी के घर सेंद क्यों नहीं मारते? जल्दी से धनवान हो जाओगे।"

भैरो—"सेंद मारो तुम, यहाँ दूध में पानी नहीं मिलाते।"

दयागिर—"भैरो, तुम सचमुच बड़े झगड़ालू हो। जब तुम्हें प्रिय वचन बोलना नहीं आता, तो चुप क्यों नहीं रहते? बहुत बातें करना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं, मूर्खता का लक्षण है।"

भैरो—"ठाकुरजी के भोग के बहाने से रोज छाछ पा जाते हो न? बजरंगी की जय क्यों न मनाओगे?"

नायकराम—"पट्ठा बात बेलाग कहता है कि एक बार सुनकर फिर किसी की जबान नहीं खुलती।"

ठाकुरदीन—"अब भजन-भाव हो चुका। ढोल-मजीरा उठाकर रख दो।"

दयागिर—"तुम कल से यहाँ न आया करो, भैरो।"

भैरो—"क्यों न आया करें? मंदिर तुम्हारा बनवाया नहीं है। मंदिर भगवान का है, तुम किसी को भगवान के दरबार में आने से रोक दोगे?"

नायकराम—"लो बाबाजी, और लोगे, अभी पेट भरा कि नहीं?"

जगधर—"बाबाजी, तुम्हीं गम खा जाओ, इससे साधू-संतों की महिमा नहीं घटती। भैरो, साधू-संतों की बात का तुम्हें बुरा न मानना चाहिए।"

भैरो—"तुम खुसामद करो; क्योंकि खुसामद की रोटियाँ खाते हो। यहाँ किसी के दबैल नहीं हैं।"

बजरंगी—"ले अब चुप ही रहना, भैरो, बहुत हो चुका। छोटा मुँह, बड़ी बात।"

नायकराम—"तो भैरो को धमकाते क्यों हो? क्या कोई भगोड़ा समझ लिया है? तुमने जब दंगल मारे थे, तब मारे थे। अब तुम वह नहीं हो। आजकल भैरो की दुहाई है।"

भैरो नायकराम के व्यंग्य-हास्य पर झल्लाया नहीं, हँस पड़ा। व्यंग्य में विष नहीं था, रस था। संखिया मरकर रस हो जाती है।

भैरो का हँसना था कि लोगों ने अपने-अपने साज़ सँभाले, और भजन होने लगा। सूरदास की सुरीली तान आकाश-मंडल में यों नृत्य करती हुई मालूम होती थी, जैसे प्रकाश-ज्योति जल के अंतस्तल में नृत्य करती है—

"झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना, काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया?
इँगला-पिंगला ताना-भरनी, सुखमन-तार से बीनी चदरिया।

आठ कँवल-दल-चरखा डोले, पाँच तत्त, गुन तीनी चदरिया ;
साईं को सियत मास दस लागैं, ठोक-ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ैं, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया :
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।"

बातों में रात अधिक जा चुकी थी। ग्यारह का घंटा सुनाई दिया। लोगों ने ढोल-मजीरे समेट दिए। सभा विसर्जित हुई। सूरदास ने मिट्ठू को फिर गोद में उठाया, और अपनी झोपड़ी में लाकर टाट पर सुला दिया। आप ज़मीन पर लेट रहा।

[३]

मि० जॉन सेवक का बँगला सिगरा में था। उनके पिता मि० ईश्वर सेवक ने सेन-विभाग से पेंशन पाने के बाद वहीं मकान बनवा लिया था, और अब तक उसके स्वामी थे। इसके आगे उनके पुरखों का पता नहीं चलता, और न हमें उसकी खोज करने की विशेष ज़रूरत है। हाँ, इतनी बात अवश्य निश्चित है कि प्रभु ईसा की शरण जाने का गौरव ईश्वर सेवक को नहीं, उनके पिता को था। ईश्वर सेवक को अब भी अपना बाल्य जीवन कुछ-कुछ याद आता था, जब वह अपनी माता के साथ गंगा-स्नान को जाया करते थे। माता की दाह-क्रिया की स्मृति भी अभी न भूली थी। माता के देहांत के बाद उन्हें याद आता था कि मेरे घर में कई सैनिक घुस आए थे, और मेरे पिता को पकड़कर ले गए थे। इसके बाद स्मृति विश्ऱृंखल हो जाती थी। हाँ, उनके गोरे रंग और आकृति से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि वह उच्च-वंशीय थे, और कदाचित् इसी सूबे में उनका पूर्व-निवास भी था।

यह बँगला जिस ज़माने में बना था, सिगरा में भूमि का इतना आदर न था। अहाते में फूल-पत्तियों की जगह शाक-भाजी और फलों के वृक्ष थे। यहाँ तक कि गमलों में भी सुरुचि की अपेक्षा उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया गया था। बेलें परवल, कद्दू, कुँदरू, सेम आदि की थीं, जिनसे बँगले की शोभा भी होती थी, और फल भी मिलता था। एक किनारे खपरैल का बरामदा था, जिसमें गाय-भैंसें पली हुई थीं। दूसरी ओर अस्तबल था। मोटर का शौक़ न बाप को था, न बेटा को। फ़िटन रखने में किफ़ायत भी

था, और आराम भी। ईश्वर सेवक को तो मोटरों से चिढ़ थी। उनके शोर से उनकी शांति में विघ्न पड़ता था। फ़िटन का घोड़ा अहाते में एक लंबी रस्सी से बाँधकर छोड़ दिया जाता था। अस्तबल से बाग़ के लिये खाद निकल आती थी, और केवल एक साईस से काम चल जाता। ईश्वर सेवक गृह-प्रबंध में निपुण थे, और गृह-कार्यों में उनका उत्साह लेश-मात्र भी कम न हुआ था। उनकी आराम-कुर्सी बँगले के सायबान में पड़ी रहती थी। उस पर वह सुबह से शाम तक बैठे जॉन सेवक की फ़िज़ूल-ख़र्ची और घर की बरबादी का रोना रोया करते थे। वह अब भी नियमित रूप से पुत्र को घंटे-दो घंटे उपदेश दिया करते थे, और शायद इसी उपदेश का फल था कि जॉन सेवक का धन और मान दिनोंदिन बढ़ता जाता था। 'किफ़ायत' उनके जीवन का मूल तत्त्व था, और इसका उल्लंघन उन्हें असह्य था। वह अपने घर में धन का अपव्यय नहीं देख सकते थे, चाहे वह किसी मेहमान ही का धन क्यों न हो। धर्मानुरागी इतने थे कि बिला नाग़ा दोनो वक़्त गिरजा-घर जाते। उनकी अपनी अलग सवारी थी। एक आदमी इस तामजान को खींचकर गिरजा-घर के द्वार तक पहुँचा आया करता था। वहाँ पहुँचकर ईश्वर सेवक उसे तुरंत घर लौटा देते थे। गिरजा के अहाते में तामजान की रक्षा के लिये किसी आदमी के बैठे रहने की ज़रूरत न थी। घर आकर वह आदमी और कोई काम कर सकता था। बहुधा उसे लौटाते समय वह काम भी बतलाया करते थे। दो घंटे बाद वह आदमी जाकर उन्हें खींच लाता था। लौटती बार वह यथासाध्य ख़ाली हाथ न लौटते थे, कभी दो-चार पपीते मिल जाते, कभी नारंगियाँ, कभी सेर-आध सेर मकोय। पादरी उनका बहुत सम्मान करता था। उसकी सारी उम्मत (अनुयायियों की मंडली) में इतना वयोवृद्ध और दूसरा आदमी न था, उस पर धर्म का इतना प्रेमी!

वह उसके धर्मोपदेशों को जितनी तन्मयता से सुनते थे, और जितनी भक्ति से कीर्तन में भाग लेते थे, वह आदर्श कही जा सकती थी।

प्रातःकाल था। लोग जल-पान करके, या छोटी हाज़िरी खाकर, मेज़ पर से उठे थे। मि० जॉन सेवक ने गाड़ी तैयार करने का हुक्म दिया। ईश्वर सेवक ने अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे चाय का एक प्याला पिया था, और झुँझला रहे थे कि इसमें शकर क्यों इतनी झोंक दी गई है। शकर कोई नियामत नहीं कि पेट फाड़कर खाई जाय, एक तो मुश्किल से पचती है, दूसरे इतनी महँगी। इसकी आधी शकर चाय को मज़ेदार बनाने के लिये काफ़ी थी। अंदाज़ से काम करना चाहिए, शकर कोई पेट भरने की चीज़ नहीं है। सैकड़ों बार कह चुका हूँ; पर मेरी कौन सुनता है। मुझे तो सबने कुत्ता समझ लिया है। उसके भूँकने की कौन परवा करता है?

मिसेज़ सेवक ने धर्मानुराग और मितव्ययता का पाठ भली भाँति अभ्यस्त किया था। लज्जित होकर बोलीं—"पापा, क्षमा कीजिए। आज सोफ़ी ने शकर ज़्यादा डाल दी थी। कल से आपको यह शिकायत न रहेगी, मगर करूँ क्या, यहाँ तो हलकी चाय किसी को अच्छी ही नहीं लगती।"

ईश्वर सेवक ने उदासीन भाव से कहा—"मुझे क्या करना है, कुछ क़यामत तक तो बैठा रहूँगा नहीं, मगर घर के बरबाद होने के ये ही लक्षण हैं। ईसू, मुझे अपने दामन में छुपा।"

मिसेज़ सेवक—"पापा, मैं अपनी भूल स्वीकार करती हूँ। मुझे अंदाज़ से शकर निकालकर देनी चाहिए थी।"

ईश्वर सेवक—"अरे, तो आज यह कोई नई बात थोड़े ही है। रोज़ तो यही रोना रहता है। जॉन समझता है, मैं घर का मालिक हूँ, रुपए कमाता हूँ, ख़र्च क्यों न करूँ? मगर धन कमाना एक बात है, उसका सद्व्यय करना दूसरी बात। होशियार आदमी उसे कहते हैं,

जो धन का उचित उपयोग करे। इधर से लाकर उधर ख़र्च कर दिया, तो क्या फ़ायदा? इससे तो न लाना ही अच्छा। समझाता ही रहा; पर इतनी ऊँची रास का घोड़ा ले लिया। इसकी क्या ज़रूरत थी? तुम्हें घुड़दौड़ नहीं करना है। एक टट्टू से काम चल सकता था। यही न कि औरों के घोड़े आगे निकल जाते, तो इसमें तुम्हारी क्या शेख़ी मारी जाती थी? कहीं दूर जाना नहीं पड़ता। टट्टू होता, छ सेर की जगह दो सेर दाना खाता। आख़िर चार सेर दाना व्यर्थ ही जाता है न? मगर मेरी कौन सुनता है। ईसू, मुझे अपने दामन में छुपा। सोफ़ी, यहाँ आ बेटी, कलामे-पाक सुना।"

सोफ़िया प्रभु सेवक के कमरे में बैठी हुई उनसे मसीह के इस कथन पर शंका कर रही थी कि ग़रीबों के लिये आसमान की बादशाहत है, और अमीरों का स्वर्ग में जाना उतना ही असंभव है, जितना ऊँट का सुई की नोक में जाना। उसके मन में शंका हो रही थी, क्या दरिद्र होना स्वयं कोई गुण है, और धनी होना स्वयं कोई अवगुण? उसकी बुद्धि इस कथन की सार्थकता को ग्रहण न कर सकती थी। क्या मसीह ने केवल अपने भक्तों को ख़ुश करने के लिये ही धन की इतनी निंदा की है? इतिहास बतला रहा है कि पहले केवल दीन, दुखी, दरिद्र और समाज से पतित जनता ही ने मसीह के दामन में पनाह ली। इसीलिये तो उन्होंने धन की इतनी अवहेलना नहीं की? कितने ही ग़रीब ऐसे हैं, जो सिर से पाँव तक अधर्म और अविचार में डूबे हुए हैं। शायद उनकी दुष्टता ही उनकी दरिद्रता का कारण है। क्या केवल दरिद्रता उनके सब पापों का प्रायश्चित कर देगी? कितने ही धनी हैं, जिनके हृदय आईने की भाँति निर्मल हैं। क्या उनका वैभव उनके सारे सत्कर्मों को मिटा देगा?

सोफ़िया सत्यासत्य के निरूपण में सदैव रत रहती थी। धर्म-

तत्वों को बुद्धि की कसौटी पर कसना उसका स्वाभाविक गुण था, और जब तक तर्क-बुद्धि स्वीकार न करे, वह केवल धर्म-ग्रंथों के आधार पर किसी सिद्धांत को न मान सकती थी। जब उसके मन में कोई शंका होती, तो वह प्रभु सेवक की सहायता से उसके निवारण की चेष्टा किया करती।

सोफ़िया—"मैं इस विषय पर बड़ी देर से ग़ौर कर रही हूँ; पर कुछ समझ में नहीं आता। प्रभु मसीह ने दरिद्रता को इतना महत्त्व क्यों दिया, और धन-वैभव को क्यों निषिद्ध बतलाया?"

प्रभु सेवक—"जाकर मसीह से पूछो।"

सोफ़िया—"तुम क्या समझते हो?"

प्रभु सेवक—"मैं कुछ नहीं समझता, और न कुछ समझना ही चाहता हूँ। भोजन, निद्रा और विनोद, ये ही मनुष्य-जीवन के तीन तत्त्व हैं। इनके सिवा सब गोरख-धंधा है। मैं धर्म को बुद्धि से बिलकुल अलग समझता हूँ। धर्म को तोलने के लिये बुद्धि उतनी ही अनुपयुक्त है, जितना बैंगन तोलने के लिये सुनार का काँटा। धर्म धर्म है, बुद्धि बुद्धि। या तो धर्म का प्रकाश इतना तेजोमय है कि बुद्धि की आँखें चौंधिया जाती हैं, या इतना घोर अंधकार है कि बुद्धि को कुछ नज़र ही नहीं आता। इन झगड़ों में व्यर्थ सिर खपाती हो। सुना, आज पापा चलते-चलते क्या कह गए?"

सोफ़िया—"नहीं, मेरा ध्यान उधर न था।"

प्रभु सेवक—"यही कि मशीनों के लिये शीघ्र ऑर्डर दे दो। उस ज़मीन को लेने का इन्होंने निश्चय कर लिया। उसका मौक़ा बहुत पसंद आया। चाहते हैं कि जल्द-से-जल्द बुनियाद पड़ जाय, लेकिन मेरा जी इस काम से घबराता है। मैंने यह व्यवसाय सीखा तो; पर सच पूछो, तो मेरा दिल वहाँ भी न लगता था। अपना

समय दर्शन, साहित्य, काव्य की सैर में काटता था। वहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों और साहित्य-सेवियों से वार्तालाप करने में जो आनंद मिलता था, वह कारख़ाने में कहाँ नसीब था। सच पूछो, तो मैं इसीलिये वहाँ गया ही था। अब घोर संकट में पड़ा हुआ हूँ। अगर इस काम में हाथ नहीं लगाता, तो पापा को दुख होगा, वह समझेंगे कि मेरे हज़ारों रुपए पानी में गिर गए! शायद मेरी सूरत से घृणा करने लगें। काम शुरू करता हूँ, तो यह भय होता है कि कहीं मेरी बेदिली से लाभ के बदले हानि न हो। मुझे इस काम में ज़रा भी उत्साह नहीं। मुझे तो रहने को एक झोपड़ी चाहिए, और दर्शन तथा साहित्य का एक अच्छा-सा पुस्तकालय। और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता। यह लो, दादा को तुम्हारी याद आ गई। जाओ, नहीं तो वह यहाँ आ पहुँचेंगे, और व्यर्थ की बकवास से घंटों समय नष्ट कर देंगे।"

सोफ़िया—"यह बिपत्ति मेरे सिर बुरी पड़ी है। जहाँ कुछ पढ़ने बैठी कि इनका बुलावा पहुँचा। आजकल 'उत्पत्ति' की कथा पढ़वा रहे हैं। मुझे एक-एक शब्द पर शंका होती है। कुछ बोलूँ, तो बिगड़ जायँ। बिलकुल बेगार करनी पड़ती है।"

मिसेज़ सेवक बेटी को बुलाने आ रही थीं। अंतिम शब्द उनके कानों में पड़ गए। तिलमिला गईं। आकर बोलीं—"बेशक, ईश्वर-ग्रंथ पढ़ना बेगार है, मसीह का नाम लेना पाप है, तुझे तो उस भिखारी अंधे की बातों में आनंद आता है, हिंदुओं के गपोड़े पढ़ने में तेरा जी लगता है, ईश्वर-वाक्य तो तेरे लिये ज़हर है। ख़ुदा जाने, तेरे दिमाग़ में यह ख़ब्त कहाँ से समा गया है। जब देखती हूँ, तुझे अपने पवित्र धर्म की निंदा ही करते देखती हूँ। तू अपने मन में भले ही समझ ले कि ईश्वर-वाक्य कपोल-कल्पना है, लेकिन अंधे की आँखों में अगर सूर्य का प्रकाश न पहुँचे, तो यह सूर्य का

दोष नहीं, अंधे की आँखों ही का दोष है। आज तीन-चौथाई दुनिया जिस महात्मा के नाम पर जान देती है, जिस महान् आत्मा की अमृत वाणी आज सारी दुनिया को जीवन प्रदान कर रही है, उससे यदि तेरा मन विमुख हो रहा है, तो यह तेरा दुर्भाग्य और तेरी दुर्बुद्धि है। ख़ुदा तेरे हाल पर रहम करे।"

सोफ़िया—"महात्मा ईसा के प्रति कभी मेरे मुँह से कोई अनुचित शब्द नहीं निकला। मैं उन्हें धर्म, त्याग और सद्विचार का अवतार समझती हूँ। लेकिन उनके प्रति श्रद्धा रखने का यह आशय नहीं है कि भक्तों ने उनके उपदेशों में जो असंगत बातें भर दी हैं, या उनके नाम से जो विभूतियाँ प्रसिद्ध कर रक्खी हैं, उन पर भी ईमान लाऊँ। और, यह अनर्थ कुछ प्रभु मसीह ही के साथ नहीं किया गया, संसार के सभी महात्माओं के साथ यही अनर्थ किया गया है।"

मिसेज़ सेवक—"तुझे ईश्वर-ग्रंथ के प्रत्येक शब्द पर ईमान लाना पड़ेगा, वरना तू अपनी गणना प्रभु मसीह के भक्तों में नहीं कर सकती।"

सोफ़िया—"तो मैं मज़बूर होकर अपने को उनकी उम्मत से बाहर समझूँगी ; क्योंकि बाइबिल के प्रत्येक शब्द पर ईमान लाना मेरे लिये असंभव है।"

मिसेज़ सेवक—"तू विधर्मिणी और भ्रष्टा है। प्रभु मसीह तुझे कभी क्षमा न करेंगे।"

सोफ़िया—"अगर धार्मिक संकीर्णता से दूर रहने के कारण ये नाम दिए जाते हैं, तो मुझे उनके स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।"

मिसेज़ सेवक से अब ज़ब्त न हो सका। अभी तक उन्होंने क़ातिल वार न किया था। मातृस्नेह हाथों को रोके हुए था।

लेकिन सोफ़िया के वितंडावाद ने अब उनके धैर्य का अंत कर दिया। बोलीं—"प्रभु मसीह से बिमुख होनेवाले के लिये इस घर में जगह नहीं है।"

प्रभु सेवक—"मामी, आप घोर अन्याय कर रही हैं। सोफ़िया यह कब कहती है कि मुझे प्रभु मसीह पर विश्वास नहीं है।"

मिसेज़ सेवक—"हाँ, वह यही कह रही है, तुम्हारी समझ का फेर है। ईश्वर-ग्रंथ पर ईमान न लाने का और क्या अर्थ हो सकता है? इसे प्रभु मसीह के अलौकिक कृत्यों पर अविश्वास और उनके नैतिक उपदेशों पर शंका है। यह उनके प्रायश्चित्त के तत्त्व को नहीं मानती, उनके पवित्र आदेशों को स्वीकार नहीं करती।"

प्रभु सेवक—"मैंने इसे मसीह के आदेशों का उल्लंघन करते कभी नहीं देखा।"

सोफ़िया—"धार्मिक विषयों में मैं अपनी विवेक-बुद्धि के सिवा और किसी के आदेशों को नहीं मानती।"

मिसेज़ सेवक—"मैं तुझे अपनी संतान नहीं समझती, और तेरी सूरत नहीं देखना चाहती।"

यह कहकर सोफ़िया के कमरे में घुस गईं, और उसकी मेज़ पर से बौद्ध-धर्म और वेदांत के कई ग्रंथ उठाकर बाहर बरामदे में फेंक दिए। उसी आवेश में उन्हें पैरों से कुचला, और जाकर ईश्वर सेवक से बोलीं—"पापा, आप सोफ़ी को नाहक़ बुला रहे हैं, वह प्रभु मसीह की निंदा कर रही है।"

मि० ईश्वर सेवक ऐसे चौंके, मानो देह पर आग की चिनगारी गिर पड़ी हो, और अपनी ज्योति-विहीन आँखों को फाड़कर बोले—"क्या कहा, सोफ़ी प्रभु मसीह की निंदा कर रही है? सोफ़ी?"

मिसेज़ सेवक—"हाँ-हाँ, सोफ़ी। कहती है, मुझे उनकी विभूतियों पर, उनके उपदेशों और आदेशों पर, विश्वास नहीं है।"

ईश्वर सेवक—(ठंडी साँस खींचकर) "प्रभु मसीह, मुझे अपने दामन में छुपा, अपनी भटकती हुई भेड़ों को सच्चे मार्ग पर ला। कहाँ है सोफ़ी ? मुझे उसके पास ले चलो, मेरे हाथ पकड़कर उठाओ। ख़ुदा, मेरी बेटी के हृदय को अपनी ज्योति से जगा। मैं उसके पैरों पर गिरूँगा, उसको मिन्नतें करूँगा, उसे दीनता से समझाऊँगा। मुझे उसके पास तो ले चलो।"

मिसेज़ सेवक—"मैं सब कुछ करके हार गई। उस पर ख़ुदा की लानत है। मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहती।"

ईश्वर सेवक—"ऐसी बातें न करो। वह मेरे ख़ून का ख़ून, मेरी जान की जान, मेरे प्राणों का प्राण है। मैं उसे कलेजे से लगाऊँगा। प्रभु मसीह ने विधर्मियों को छाती से लगाया था, कुकर्मियों को अपने दामन में शरण दी थी, वह मेरी सोफ़िया पर अवश्य दया करेंगे। ईसू, मुझे अपने दामन में छुपा।"

जब मिसेज़ सेवक ने अब भी सहारा न दिया, तो ईश्वर सेवक लकड़ी के सहारे उठे, और लाठी टेकते हुए सोफ़िया के कमरे के द्वार पर आकर बोले—"बेटी सोफ़ी, कहाँ है ? इधर आ बेटी, तुझे गले से लगाऊँ। मेरा मसीह ख़ुदा का दुलारा बेटा था, दीनों का सहायक, निर्बलों का रक्षक, दरिद्रों का मित्र, डूबतों का सहारा, पापियों का उद्धारक, दुखियों का बेड़ा पार लगानेवाला ! बेटी, ऐसा और कौन-सा नबी है, जिसका दामन इतना चौड़ा हो, जिसकी गोद में संसार के सारे पापों, सारी बुराइयों के लिये स्थान हो ? वही एक ऐसा नबी है, जिसने दुरात्माओं को, अधर्मियों को, पापियों को मुक्ति की शुभ सूचना दी। नहीं तो हम-जैसे मलिनआत्माओं के लिये मुक्ति कहाँ थी ? हमें उबारनेवाला कौन था ?"

यह कहकर उन्होंने सोफ़ी को हृदय से लगा लिया। माता के कठोर शब्दों ने उसके निर्बल क्रोध को जाग्रत् कर दिया था। अपने

कमरे में आकर रो रही थी, बार-बार मन उद्विग्न हो उठता था। सोचती थी, अभी, इसी क्षण, इस घर से निकल जाऊँ। क्या इस अनंत संसार में मेरे लिये जगह नहीं है? मैं परिश्रम कर सकती हूँ, अपना भार आप सँभाल सकती हूँ। आत्मस्वातंत्र्य का खून करके अगर जीवन की चिंताओं से निवृत्ति हुई, तो क्या? मेरी आत्मा इतनी तुच्छ वस्तु नहीं है कि उदर-पालन के लिये उसकी हत्या कर दी जाय। प्रभु सेवक को अपनी बहन से सहानुभूति थी। धर्म पर उन्हें उससे कहीं कम श्रद्धा थी। किंतु वह अपने स्वतंत्र विचारों को अपने मन ही में संचित रखते थे। गिरजा चले जाते थे, पारिवारिक प्रार्थनाओं में भाग लेते थे; यहाँ तक कि धार्मिक भजन भी गा लेते थे। वह धर्म को गंभीर विचार के क्षेत्र से बाहर समझते थे। वह गिरजा उसी भाव से जाते थे, जैसे थियेटर देखने जाते। पहले अपने कमरे से झाँककर देखा कि कहीं मामा तो नहीं देख रही हैं; नहीं तो मुझ पर वज्र-प्रहार होने लगेंगे। तब चुपके से सोफ़िया के पास आए, और बोले—"सोफ़ी, क्यों नादान बनती हो? साँप के मुँह में उँगली डालना कौन-सी बुद्धिमानी है? अपने मन में चाहे जो विचार रक्खो, जिन बातों को जी चाहे, मानो; जिनको जी न चाहे, न मानो; पर इस तरह ढिंढोरा पीटने से क्या फ़ायदा? समाज में नक्कू बनने की क्या ज़रूरत? कौन तुम्हारे दिल के अंदर देखने जाता है?"

सोफ़िया ने भाई को अवहेलना की दृष्टि से देखकर कहा—"धर्म के विषय में मैं कर्म को वचन के अनुरूप ही रखना चाहती हूँ। चाहती हूँ, दोनो से एक ही स्वर निकले। धर्म का स्वाँग भरना मेरी क्षमता से बाहर है। आत्मा के लिये मैं संसार के सारे दुःख झेलने को तैयार हूँ। अगर मेरे लिये इस घर में स्थान नहीं है, तो ईश्वर

का बनाया हुआ विस्तृत संसार तो है। कहीं भी अपना निर्वाह कर सकती हूँ। मैं सारी विडंबनाएँ सह लूँगी, लोक-निंदा की मुझे चिंता नहीं है; मगर अपनी ही नज़रों में गिरकर मैं ज़िंदा नहीं रह सकती। अगर यही मान लूँ कि मेरे लिये चारो तरफ़ से द्वार बंद हैं, तो भी मैं आत्मा को बेचने की अपेक्षा भूखों मर जाना कहीं अच्छा समझती हूँ।"

प्रभु सेवक—"दुनिया उससे कहीं तंग है, जितना तुम समझती हो।"

सोफ़िया—"क़ब्र के लिये तो जगह निकल ही आएगी।"

सहसा ईश्वर सेवक ने आकर उसे छाती से लगा लिया, और अपने भक्ति-गद्गद नेत्र-जल से उसके संतप्त हृदय को शांत करने लगे। सोफ़िया को उसकी श्रद्धालुता पर दया आ गई। कौन ऐसा निर्दय प्राणी है, जो भोले-भाले बालक के कठघोड़े का उपहास करके उसका दिल दुखाए, उसके मधुर स्वप्न को विशृंखल कर दे?

सोफ़िया ने कहा—"दादा, आप आकर इस कुर्सी पर बैठ जायँ, खड़े-खड़े आपको तकलीफ़ होती है।"

ईश्वर सेवक—"जब तक तू अपने मुख से न कहेगी कि मैं प्रभु मसीह पर विश्वास करती हूँ, तब तक मैं तेरे द्वार पर, यों ही, भिखारियों की भाँति, खड़ा रहूँगा।"

सोफ़िया—"दादा, मैंने यह कभी नहीं कहा कि मैं प्रभु ईसू पर ईमान नहीं रखती, या मुझे उन पर श्रद्धा नहीं है। मैं उन्हें महान् आदर्श पुरुष और क्षमा तथा दया का अवतार समझती हूँ, और समझती रहूँगी।"

ईश्वर सेवक ने सोफ़िया के कपोलों का चुंबन करके कहा—"बस, मेरा चित्त शांत हो गया। ईसू तुझे अपने दामन में ले। मैं बैठता हूँ, मुझे ईश्वर-वाक्य सुना, कानों को प्रभु मसीह की वाणी से पवित्र कर।"

सोफ़िया इनकार न कर सकी। 'उत्पत्ति' का एक परिच्छेद खोलकर पढ़ने लगी। ईश्वर सेवक आँखें बंद करके कुर्सी पर बैठ गए, और तन्मय होकर सुनने लगे। मिसेज़ सेवक ने यह दृश्य देखा, और विजय-गर्व से मुस्किराती हुई चली गईं।

यह समस्या तो हल हो गई; पर ईश्वर सेवक के मरहमों से उसके अंतःकरण का नासूर न अच्छा हो सकता था। आए दिन उसके मन में धार्मिक शंकाएँ उठती रहती थीं, और दिन-प्रतिदिन उसे अपने घर में रहना दुस्सह होता जाता था। शनैः-शनैः प्रभु सेवक की सहानुभूति भी क्षीण होने लगी। मि० जॉन सेवक को अपने व्यावसायिक कामों से इतना अवकाश ही न मिलता था कि उसके मानसिक विप्लव का निवारण करते। मिसेज़ सेवक पूर्ण निरंकुशता से उस पर शासन करती थीं। सोफ़िया के लिये सबसे कठिन परीक्षा का समय वह होता था, जब वह ईश्वर सेवक को बाइबिल पढ़कर सुनाती थी। इस परीक्षा से बचने के लिये वह नित्य बहाने ढूँढ़ती रहती थी। अतः अपने कृत्रिम जीवन से उसे घृणा होती जाती थी। उसे बार-बार प्रबल अंतःप्रेरणा होती कि घर छोड़कर कहीं चली जाऊँ, और स्वाधीन होकर सत्यासत्य की विवेचना करूँ; पर यह इच्छा व्यवहार-क्षेत्र में पैर रखते हुए संकोच से विवश हो जाती थी। पहले प्रभु सेवक से अपनी शंकाएँ प्रकट करके वह शांत-चित्त हो जाया करती थी; पर ज्यों-ज्यों उनकी उदासीनता बढ़ने लगी, सोफ़िया के हृदय से भी उनके प्रति प्रेम और आदर उठने लगा। उसे धारणा होने लगी कि इनका मन केवल भोग और विलास का दास है। जिसे सिद्धांतों से कोई लगाव नहीं। यहाँ तक कि उनकी काव्य-रचनाएँ भी, जिन्हें वह पहले बड़े शौक़ से सुना करती थी, अब उसे कृत्रिम भावों से परिपूर्ण मालूम होतीं। वह बहुधा टाल दिया करती कि मेरे सिर में दर्द है, सुनने को जी नहीं चाहता।

अपने मन में कहती, इन्हें उन सद्भावों और पवित्र आवेगों को व्यक्त करने का क्या अधिकार है, जिनका आधार आत्मदर्शन और अनुभव पर न हो।

एक दिन जब घर के सब प्राणी गिरजा-घर जाने लगे, तो सोफ़िया ने सिर-दर्द का बहाना किया। अब तक वह शंकाओं के होते हुए भी रविवार को गिरजा चली जाया करती थी। प्रभु सेवक उसका मनोभाव ताड़ गए, बोले—"सोफ़ी, गिरजा जाने में तुम्हें क्या आपत्ति है? वहाँ जाकर आध घंटे चुपचाप बैठे रहना कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं।"

प्रभु सेवक बड़े शौक़ से गिरजा जाया करते थे, वहाँ उन्हें बनाव और दिखाव, पाखंड और ढकोसलों की दार्शनिक मीमांसा करने और व्यंग्योक्तियों के लिये सामग्री जमा करने का अवसर मिलता था। सोफ़िया के लिये आराधना विनोद की वस्तु नहीं, शांति और तृप्ति की वस्तु थी। बोली—"तुम्हारे लिये आसान हो, मेरे लिये मुश्किल ही है।"

प्रभु सेवक—"क्यों अपनी जान बवाल में डालती हो। अम्मा का स्वभाव तो जानती हो।"

सोफ़िया—मैं तुमसे परामर्श नहीं चाहती, अपने कामों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेने को तैयार हूँ।"

मिसेज़ सेवक ने आकर पूछा—"सोफ़ी, क्या सिर में इतना दर्द है कि गिरजे तक नहीं चल सकती?"

सोफ़िया—"जा क्यों नहीं सकती; पर जाना नहीं चाहती।"

मिसेज़ सेवक—"क्यों?"

सोफ़िया—"मेरी इच्छा। मैंने गिरजा जाने की प्रतिज्ञा नहीं की है।"

मिसेज़ सेवक—"क्या तू चाहती है कि हम कहीं मुँह दिखाने के लायक़ न रहें?"

सोफ़िया—"हरगिज़ नहीं, मैं सिर्फ़ इतना ही चाहती हूँ कि आप मुझे चर्च जाने के लिये मजबूर न करें।"

ईश्वर सेवक पहले ही अपने तामजान पर बैठकर चल दिए थे। जॉन सेवक ने आकर केवल इतना पूछा—"क्या बहुत ज़्यादा दर्द है? मैं उधर से कोई दवा लेता आऊँगा, ज़रा पढ़ना कम कर दो, और रोज़ घूमने जाया करो।"

यह कहकर वह प्रभु सेवक के साथ फ़िटन पर आ बैठे। लेकिन मिसेज़ सेवक इतनी आसानी से उसका गला छोड़नेवाली न थीं। बोलीं—"तुझे ईसू के नाम से क्यों इतनी घृणा है?"

सोफ़िया—"मैं हृदय से उन पर श्रद्धा रखती हूँ।"

मा—"तू झूठ बोलती है।"

सोफ़िया—"अगर दिल में श्रद्धा न होती, तो ज़बान से कदापि न कहती।"

मा—"तू प्रभु मसीह को अपना मुक्तिदाता समझती है। तुझे यह विश्वास है कि वही तेरा उद्धार करेंगे?"

सोफ़िया—"कदापि नहीं। मेरा विश्वास है कि मेरी मुक्ति, अगर मुक्ति हो सकती है, तो मेरे कर्मों से होगी।"

मा—"तेरे कर्मों से तेरे मुँह में कालिख लगेगी, मुक्ति न होगी।"

यह कहकर मिसेज़ सेवक भी फ़िटन पर जा बैठीं। संध्या हो गई थी। सड़क पर ईसाइयों के दल-के-दल, कोई ओवरकोट पहने, कोई माघ की ठंड से सिकुड़े हुए, खुश गिरजे चले जा रहे थे; पर सोफ़िया को सूर्य की मलिन ज्योति भी असह्य हो रही थी। वह एक ठंडी साँस खींचकर बैठ गई। "तेरे कर्मों से तेरे मुँह में कालिख लगेगी"—ये शब्द उसके अंतःकरण को भाले के समान बेधने लगे। सोचने लगी—"मेरी स्वार्थ-सेवा का यही उचित दंड है। मैं केवल रोटियों के लिये अपनी आत्मा की हत्या कर रही हूँ, अपमान और

अनादर के झोंके सह रही हूँ । इस घर में कौन मेरा हितैषी है ? कौन है, जो मेरे मरने की ख़बर पाकर आँसू की चार बूँदें गिरा दे ? शायद मेरे मरने से लोगों को ख़ुशी होगी । मैं इनकी नज़रों में इतनी गिर गई हूँ ! ऐसे जीवन पर धिक्कार है । मैंने देखे हैं, हिंदू-घरानों में भिन्न-भिन्न मतों के प्राणी कितने प्रेम से रहते हैं । बाप सनातनधर्मावलंबी है, तो बेटा आर्यसमाजी । पति ब्रह्मसमाज में है, तो स्त्री पाषाण-पूजकों में । सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं । कोई किसी से नहीं बोलता । हमारे यहाँ आत्मा कुचली जाती है । फिर भी यह दावा है कि हमारी शिक्षा और सभ्यता विचार-स्वातंत्र्य के पोषक हैं । हैं तो हमारे यहाँ भी उदार विचारों के लोग, प्रभु सेवक ही उनकी एक मिसाल हैं, पर इनकी उदारता यथार्थ में विवेक-शून्यता है । ऐसे उदार प्राणियों से तो अनुदार ही अच्छे । इनमें कुछ विश्वास तो है, निरे बहुरूपिए तो नहीं हैं । आख़िर मामी अपने दिल में क्या समझती हैं कि बात-बात पर वाग्बाणों से छेदने लगती हैं ? उनके दिल में यही विचार होगा कि इसे कहीं और ठिकाना नहीं है, कोई इसका पूछनेवाला नहीं है । मैं इन्हें दिखा दूँगी कि मैं अपने पैरों पर खड़ी हो सकती हूँ । अब इस घर में रहना नरक वास के समान है । इस बेहयाई की रोटियाँ खाने से भूखों मर जाना अच्छा है । बला से लोग हँसेंगे, आज़ाद तो हो जाऊँगी । किसी के ताने-मेहने तो न सुनने पड़ेंगे ।"

सोफ़िया उठी, और मन में कोई स्थान निश्चित किए बिना ही अहाते से बाहर निकल आई । उस घर की वायु अब उसे दूषित मालूम होती थी । वह आगे बढ़ती जाती थी ; पर दिल में लगातार प्रश्न हो रहा था, कहाँ जाऊँ ? जब वह घनी आबादी में पहुँची, तो शोहदों ने उस पर इधर-उधर से आवाज़ें कसने शुरू किए । किंतु वह शर्म से सिर नीचा करने के बदले उन आवाज़ों

और कुवासनामयी दृष्टियों का जवाब घृणा-युक्त नेत्रों से देती चली जाती थी, जैसे कोई सवेग जल-धारा पत्थरों को ठुकराती हुई आगे बढ़ती चली जाय। यहाँ तक कि वह उस खुली हुई सड़क पर आ गई, जो दशाश्वमेध-घाट की ओर जाती है।

उसके जी में आया, ज़रा दरिया की सैर करती चलूँ। कदाचित् किसी सज्जन से भेंट हो जाय। जब तक दो-चार आदमियों से परिचय न हो, और वे मेरा हाल न जानें, मुझसे कौन सहानुभूति प्रकट करेगा? कौन मेरे हृदय की बात जानता है? ऐसे सदय प्राणी सौभाग्य ही से मिलते हैं। जब अपने माता-पिता अपने शत्रु हो रहे हैं, तो दूसरों से भलाई की क्या आशा?

वह इसी नैराश्य की दशा में चली जा रही थी कि सहसा उसे एक विशाल प्रासाद देख पड़ा, जिसके सामने बहुत चौड़ा हरा मैदान था। अंदर जाने के लिये एक ऊँचा फाटक था, जिसके ऊपर एक सुनहरा गुंबद बना हुआ था। इस गुंबद में नौबत बज रही थी। फाटक से भवन तक सुर्ख़ी की एक रविश थी, जिसके दोनो ओर बेलें और गुलाब की क्यारियाँ थीं। हरी-हरी घास पर बैठे कितने ही नर-नारी माघ की शीतल वायु का आनंद ले रहे थे। कोई लेटा हुआ था, कोई तकिएदार चौकियों पर बैठा सिगार पी रहा था।

सोफ़िया ने शहर में ऐसा रमणीक स्थान न देखा था। उसे आश्चर्य हुआ कि शहर के मध्य भाग में भी ऐसे मनोरम स्थान मौजूद हैं। वह एक चौकी पर बैठ गई, और सोचने लगी—"अब लोग चर्च से आ गए होंगे। मुझे घर में न देखकर चौंकेंगे तो ज़रूर; पर समझेंगे, कहीं घूमने गई होगी। अगर रात-भर यहीं बैठी रहूँ, तो भी वहाँ किसी को चिंता न होगी, आराम से खा-पीकर सोएँगे। हाँ, दादा को अवश्य दुःख होगा, वह भी केवल

इसलिये कि उन्हें बाइबिल पढ़कर सुनानेवाला कोई नहीं। मामा तो दिल में ख़ुश होंगी कि अच्छा हुआ, आँखों से दूर हो गई। मेरा किसी से परिचय नहीं। इसी से कहा है कि सबसे मिलते रहना चाहिए, न-जाने कब किससे काम पड़ जाय। मुझे बरसों रहते हो गए, और किसी से राह-रस्म न पैदा की। मेरे साथ नैनीताल में यहाँ के किसी रईस की लड़की पढ़ती थी, भला-सा नाम था। हाँ, इंदु। कितना कोमल स्वभाव था। बात-बात से प्रेम टपका पड़ता था। हम दोनो गले में बाँहें डाले टहलती थीं। वहाँ कोई बालिका इतनी सुंदर और ऐसी सुशील न थी। मेरे और उसके विचारों में कितना सादृश्य था। कहीं उसका पता मिल जाता, तो दस-पाँच दिन उसी के यहाँ मेहमान हो जाती। उसके पिता का अच्छा-सा नाम था। हाँ, कुँअर भरतसिंह। पहले यह बात ध्यान में न आई, नहीं तो एक कार्ड लिखकर डाल देती। मुझे भूल तो क्या गई होगी, इतनी निष्ठुर तो न मालूम होती थी। कम-से-कम मानव-चरित्र का तो अनुभव हो जायगा।"

मजबूरी में हमें उन लोगों की याद आती है, जिनकी सूरत भी विस्मृत हो चुकी होती है। विदेश में हमें अपने मुहल्ले का नाई या कहार भी मिल जाय, तो हम उसके गले मिल जाते हैं, चाहे देश में उससे कभी सीधे मुँह बात भी न की हो।

सोफ़िया सोच ही रही थी कि किसी से कुँअर भरतसिंह का पता पूछूँ, इतने में भवन के सामनेवाले पक्के चबूतरे पर फ़र्श बिछ गया। कई आदमी सितार, बेला, मृदंग लिए आ बैठे, और इन साज़ों के साथ स्वर मिलाकर कई नवयुवक एक स्वर से गाने लगे—

"शांति-समर में कभी भूलकर धैर्य नहीं खोना होगा;
वज्र-प्रहार भले सिर पर हो, नहीं किंतु रोना होगा।

अरि से बदला लेने का मन बीज नहीं बोना होगा ;
घर में कान तूल देकर फिर तुझे नहीं सोना होगा ।
देश-दाग़ को रुधिर-वारि से हर्षित हो धोना होगा ;
देश-कार्य की भारी गठरी सिर पर रख ढोना होगा ।
आँखें लाल, भवें टेढ़ी कर, क्रोध नहीं करना होगा ;
बलि-वेदी पर तुझे हर्ष से चढ़कर कट मरना होगा ।
नश्वर है नर-देह, मौत से कभी नहीं डरना होगा ;
सत्य मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पैर नहीं धरना होगा ।
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा ;
मातृभूमि के लिये जगत में जीना औ' मरना होगा ।"

संगीत में न लालित्य था, न माधुरी; पर वह शक्ति, वह जागृति भरी हुई थी, जो सामूहिक संगीत का गुण है। आत्मसमर्पण और उत्कर्ष का पवित्र संदेश विराट् आकाश में, नीरव गगन में और सोफ़िया के अशांत हृदय में गूँजने लगा। वह अब तक धार्मिक विवेचन ही में रत रहती थी। राष्ट्रीय संदेश सुनने का अवसर उसे कभी न मिला था। उसके रोम-रोम से वही ध्वनि, दीपक से ज्योति के समान, निकलने लगी—

"मातृभूमि के लिये जगत में जीना औ' मरना होगा ।"

उसके मन में एक तरंग उठी कि मैं भी जाकर गानेवालों के साथ गाने लगती। भाँति-भाँति के उद्गार उठने लगे—"मैं किसी दूर देश में जाकर भारत का आर्तनाद सुनाती। यहीं खड़ी होकर कह दूँ, मैं अपने को भारत-सेवा के लिये समर्पित करती हूँ। अपने जीवन के उद्देश्य पर एक व्याख्यान देती—हम भाग्य के दुखड़े रोने के लिये, अपनी अवनत दशा पर आँसू बहाने के लिये नहीं बनाए गए हैं।"

समा बँधा हुआ था, सोफ़िया के हृदय की आँखों के सामने इन्हीं भावों के चित्र नृत्य करते हुए मालूम होते थे।

अभी संगीत की ध्वनि गूँज ही रही थी कि अकस्मात् उसी अहाते के अंदर एक खपरैल के मकान में आग लग गई। जब तक लोग उधर दौड़ें, अग्नि की ज्वाला प्रचंड हो गई। सारा मैदान जगमगा उठा। वृक्ष और पौदे प्रदीप्त प्रकाश के सागर में नहा उठे। गानेवालों ने तुरत अपने-अपने साज़ वहीं छोड़े, धोतियाँ ऊपर उठाईं, आस्तीनें चढ़ाईं, और आग बुझाने दौड़े। भवन से और भी कितने ही युवक निकल पड़े। कोई कुएँ से पानी लाने दौड़ा, कोई आग के मुँह में घुसकर अंदर की चीज़ों को निकाल-निकालकर बाहर फेकने लगा। लेकिन कहीं वह उतावलापन, वह घबराहट, वह भगदड़, वह कुहराम, वह 'दौड़ो-दौड़ो' का शोर, वह स्वयं कुछ न करके दूसरों को हुक्म देने का गुल न था, जो ऐसी दैवी आपदाओं के समय साधारणतः हुआ करता है। सभी आदमी ऐसे सुचारु और सुव्यवस्थित रूप से अपना-अपना काम कर रहे थे कि एक बूँद पानी भी व्यर्थ न गिरने पाता था, और अग्नि का वेग प्रतिक्षण घटता जाता था, लोग इतनी निर्भयता से आग में कूदते थे, मानो वह जल-कुंड है।

अभी अग्नि का वेग पूर्णतः शांत न हुआ था कि दूसरी तरफ़ से आवाज़ आई—"दौड़ो-दौड़ो आदमी डूब रहा है।" भवन के दूसरी ओर एक पक्की बावली थी, जिसके किनारे झाड़ियाँ लगी हुई थीं, तट पर एक छोटी-सी नौका खूँटे से बँधी हुई पड़ी थी। आवाज़ सुनते ही आग बुझानेवाले दल से कई आदमी निकलकर बावली की तरफ़ लपके, और डूबनेवाले को बचाने के लिये पानी में कूद पड़े। उनके कूदने की आवाज़ 'धम! धम!' सोफ़िया के कानों में आई। ईश्वर का यह कैसा प्रकोप कि एक ही साथ दोनो प्रधान तत्वों में यह विप्लव! और एक ही स्थान पर! वह उठकर बावली की ओर जाना ही चाहती थी कि अचानक उसने

एक आदमी को पानी का डोल लिए फिसलकर ज़मीन पर गिरते देखा। चारो ओर अग्नि शांत हो गई थी; पर जहाँ वह आदमी गिरा था, वहाँ अब तक बड़े वेग से धधक रही थी। अग्नि-ज्वाला विकराल मुँह खोले उस अभागे मनुष्य की तरफ़ लपकी। आग की लपटें उसे निगल जातीं; पर सोफ़िया विद्युत्-गति से ज्वाला की तरफ़ दौड़ी, और उस आदमी को खींचकर बाहर निकाल लाई। यह सब कुछ पल-मात्र में हो गया, अभागे की जान बच गई; लेकिन सोफ़िया का कोमल गात आग की लपट से झुलस गया। वह ज्वालाओं के घेरे से बाहर आते ही अचेत होकर ज़मीन पर गिर पड़ी।

सोफ़िया ने तीन दिन तक आँखें नहीं खोलीं। मन न-जाने किन लोकों में भ्रमण किया करता था। कभी अद्भुत, कभी भयावह दृश्य दिखाई देते। कभी ईसा की सौम्य मूर्ति आँखों के सामने आ जाती, कभी किसी विदुषी महिला के चंद्रमुख के दर्शन होते, जिन्हें वह सेंट मेरी समझती।

चौथे दिन प्रातःकाल उसने आँखें खोलीं, तो अपने को एक सजे हुए कमरे में पाया। गुलाब और चंदन की सुगंध आ रही थी। उसके सामने कुर्सी पर वही महिला बैठी हुई थीं, जिन्हें उसने सुषुप्तावस्था में सेंट मेरी समझा था, और सिरहाने की ओर एक वृद्ध पुरुष बैठे हुए थे, जिनकी आँखों से दया टपकी पड़ती थी। इन्हीं को कदाचित् उसने, अर्द्ध-चेतना की दशा में, ईसा समझा था। स्वप्न की रचना स्मृतियों की पुनरावृत्ति-मात्र होती है।

सोफ़िया ने क्षीण स्वर में पूछा—"मैं कहाँ हूँ? मामा कहाँ हैं?"

वृद्ध पुरुष ने कहा—"तुम कुँअर भरतसिंह के घर में हो। तुम्हारे सामने रानी साहब बैठी हुई हैं, तुम्हारा जी अब कैसा है?"

सोफ़िया—"अच्छी हूँ, प्यास लगी है। मामा कहाँ हैं, पापा कहाँ हैं, आप कौन हैं?"

रानी—"यह डॉक्टर गंगुली हैं, तीन दिन से तुम्हारी दवा कर रहे हैं। तुम्हारे पापा-मामा कौन हैं?"

सोफ़िया—"पापा का नाम मि० जॉन सेवक है। हमारा बँगला सिगरा में है।"

डॉक्टर—"अच्छा, तुम मि० जॉन सेवक की बेटी हो? हम उसे जानता है; अभी बुलाता है।"

रानी—"किसी को अभी भेज दूँ?"

सोफ़िया—"कोई जल्दी नहीं है, आ जायँगे। मैंने जिस आदमी को पकड़कर खींचा था, उसकी क्या दशा हुई?"

रानी—"बेटी, वह ईश्वर की दया से बहुत अच्छी तरह है। उसे ज़रा भी आँच नहीं लगी। वह मेरा बेटा विनय है। अभी आता होगा। तुम्हीं ने तो उसके प्राण बचाए। अगर तुम दौड़कर न पहुँच जातीं, तो आज न-जाने क्या होता। मैं तुम्हारे ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकती। तुम मेरे कुल की रक्षा करनेवाली देवी हो।"

सोफ़िया—"जिस घर में आग लगी थी, उसके आदमी सब बच गए?"

रानी—"बेटी, वह तो केवल अभिनय था। विनय ने यहाँ एक सेवा-समिति बना रक्खी है! जब शहर में कोई मेला होता है, या कहीं से किसी दुर्घटना का समाचार आता है, तो समिति वहाँ पहुँचकर सेवा-सहायता करती है। उस दिन समिति की परीक्षा के लिए कुँअर साहब ने यह अभिनय किया था।"

डॉक्टर—"कुँअर साहब देवता है, कितने गरीब लोगों की रक्षा करता है। यह समिति, अभी थोड़े दिन हुए, बंगाल गई थी। यहाँ सूर्य-ग्रहण का स्नान होनेवाला है। लाखों यात्री दूर-दूर से आएगा। उसके लिये यह सब तैयारी हो रही है।"

इतने में एक युवती रमणी आकर खड़ी हो गई। उसके मुख से

उज्ज्वल दीपक के समान प्रकाश की रश्मियाँ छिटक रही थीं। गले में मोतियों के हार के सिवा उसके शरीर पर कोई आभूषण न था। ऊषा की शुभ्र छटा मूर्तिमान् हो गई थी।

सोफ़िया ने उसे एक क्षण-भर देखा, तब बोली—"इंदु, तुम यहाँ कहाँ? आज कितने दिनों बाद तुम्हें देखा है?"

इंदु चौंक पड़ी। तीन दिन से बराबर सोफ़िया को देख रही थी, ख़याल आता था कि इसे कहीं देखा है; पर कहाँ देखा है, यह याद न आती थी। उसकी बातें सुनते ही स्मृति जाग्रत् हो गई, आँखें चमक उठीं, गुलाब खिल गया। बोली—"ओहो! सोफी, तुम हो?"

दोनो सहेलियाँ गले मिल गईं। यह वही इंदु थी, जो सोफ़िया के साथ नैनीताल में पढ़ती थी। सोफ़िया को आशा न थी कि इंदु इतने प्रेम से मिलेगी। इंदु कभी पिछली बातें याद करके रोती, कभी हँसती, कभी गले मिल जाती। अपनी मा से उसका गुणानुवाद करने लगी। मा उसका प्रेम देख-देखकर फूली न समाती थी। अंत में सोफ़िया ने झेंपते हुए कहा—"इंदु, ईश्वर के लिये अब मेरी और ज़्यादा तारीफ़ न करो, नहीं तो मैं तुमसे न बोलूँगी। इतने दिनों तक कभी एक ख़त भी न लिखा, मुँह-देखे का प्रेम करती हो।"

रानी—"नहीं बेटी सोफ़ी, इंदु मुझसे कई बार तुम्हारी चर्चा कर चुकी है। यहाँ कितने ही रईसों की लड़कियाँ इससे मिलने आती हैं, पर किसी से इसका मन नहीं मिलता, किसी से हँसकर बोलती तक नहीं। तुम्हारे सिवा मैंने इसे और किसी की तारीफ़ करते नहीं सुना।"

इंदु—"बहन, तुम्हारी शिकायत वाजिब है, पर करूँ क्या, मुझे ख़त ही नहीं लिखना आता। एक तो बड़ी भूल यह हुई कि तुम्हारा पता नहीं पूछा, और अगर पता मालूम भी होता, तो भी मैं ख़त न लिख सकती। मुझे डर लगता है कि कहीं तुम हँसने न लगो।

मेरा पत्र कभी समाप्त ही न होता, और न-जाने क्या-क्या लिख जाती।"

कुँअर साहब को मालूम हुआ कि सोफ़िया बातें कर रही है, तो वह भी उसे धन्यवाद देने के लिये आए। पूरे छ फ़ीट के मनुष्य थे, बड़ी-बड़ी आँखें, लंबे बाल, लंबी दाढ़ी, मोटे कपड़े का एक नीचा कुरता पहने हुए थे। सोफ़िया ने ऐसा तेजस्वी स्वरूप कभी न देखा था। उसने अपने मन में ऋषियों की जो कल्पना कर रक्खी थी, वह बिलकुल ऐसी ही थी। इस विशाल शरीर में बैठी हुई विशाल आत्मा दोनो नेत्रों से ताक रही थी। सोफ़ी ने सम्मान-भाव से उठना चाहा; पर कुँअर साहब मधुर, सरल स्वर में बोले—"बेटी, लेटी रहो, तुम्हें उठने में कष्ट होगा। लो, मैं बैठ जाता हूँ, तुम्हारे पापा से मेरा परिचय है, पर क्या मालूम था कि तुम मि० सेवक की बेटी हो। मैंने उन्हें बुलाया है, लेकिन मैं कहे देता हूँ, मैं अभी तुम्हें न जाने दूँगा। यह कमरा अब तुम्हारा है, और यहाँ से चले जाने पर भी तुम्हें एक बार यहाँ नित्य आना पड़ेगा। (रानी से) जाह्नवी, यहाँ प्यानो मँगवाकर रख दो। आज मिस सोहराबजी को बुलवाकर सोफ़िया का एक तैल-चित्र खिंचवाओ। सोहराबजी ज़्यादा कुशल हैं; पर मैं नहीं चाहता कि सोफ़िया को उनके सामने बैठना पड़े। वह चित्र हमें याद दिलाता रहेगा कि किसने महान् संकट के अवसर पर हमारी रक्षा की।"

रानी—"कुछ नाज भी दान करा दूँ?"

यह कहकर रानी ने डॉक्टर गंगुली की ओर देखकर आँखें मटकाईं। कुँअर साहब तुरंत बोले—"फिर वही ढकोसले! इस ज़माने में जो दरिद्र है, उसे दरिद्र होना चाहिए; जो भूखों मरता है, उसे भूखों मरना चाहिए; जब घंटे-दो घंटे की मिहनत से खाने-भर को मिल सकता है, तो कोई सबब नहीं कि क्यों कोई आदमी भूखों मरे।

दान ने हमारी जाति में जितने आलसी आदमी पैदा कर दिए हैं, उतने सब नशों ने मिलकर भी न पैदा किए होंगे। दान का इतना महत्त्व क्यों रक्खा गया, यह मेरी समझ में नहीं आता।"

रानी—"ऋषियों ने भूल की कि तुमसे सलाह न ले ली।"

कुँअर—"हाँ, मैं होता, तो साफ़ कह देता—आप लोग यह आलस्य, कुकर्म और अनर्थ का बीज बो रहे हैं। दान आलस्य का मूल है, और आलस्य सब पापों का मूल है। इसलिये दान ही सब पापों का मूल है, कम-से-कम पोषक तो अवश्य ही है। दान नहीं, अगर जी चाहता हो, तो मित्रों को एक भोज दे दो।"

डॉक्टर गंगुली—"सोफिया, तुम राजा साहब का बात सुनता है? तुम्हारा प्रभु मसीह तो दान को सबसे बढ़कर महत्त्व देता है, तुम कुँअर साहब से कुछ नहीं कहता?"

सोफ़िया ने इंदु की ओर देखा, और मुस्किराकर आँखें नीची कर लीं, मानो कह रही थी कि मैं इनका आदर करती हूँ, नहीं तो जवाब देने में असमर्थ नहीं हूँ।

सोफ़िया मन-ही-मन इन प्राणियों के पारस्परिक प्रेम की तुलना अपने घरवालों से कर रही थी। आपस में कितनी मुहब्बत है! मा-बाप दोनो इंदु पर प्राण देते हैं। एक मैं अभागिनी हूँ कि कोई मुँह भी नहीं देखना चाहता। चार दिन यहाँ पड़े हो गए, किसी ने ख़बर तक न ली। किसी ने खोज ही न की होगी। अम्मा ने तो समझा होगा, कहीं डूब मरी। मन में प्रसन्न हो रही होंगी कि अच्छा हुआ, सिर से बला टली। मैं ऐसे सहृदय प्राणियों में रहने योग्य नहीं हूँ। मेरी इनसे क्या बराबरी!

यद्यपि यहाँ किसी के व्यवहार में दया की झलक भी न थी, लेकिन सोफ़िया को उन्हें अपना इतना आदर-सत्कार करते देखकर अपनी दीनावस्था पर ग्लानि होती थी। इंदु से भी शिष्टाचार करने

लगी। इंदु उसे प्रेम मे 'तुम' कहती थी; पर वह उसे 'आप' कहकर संबोधित करती थी।

कुँअर साहब कह गए थे, मैंने मि० सेवक को सूचना दे दी है, वह आते ही होंगे। सोफ़िया को अब यह भय होने लगा कि कहीं वह आ न रहे हों। आते-ही-आते मुझे अपने साथ चलने को कहेंगे। मेरे सिर फिर वही विपत्ति पड़ेगी। इंदु से अपनी विपत्ति-कथा कहूँ, तो शायद उसे मुझसे कुछ सहानुभूति हो। यह नौक-रानी यहाँ व्यर्थ ही बैठी हुई है। इंदु आई भी, तो उससे कैसे बातें करूँगी। पापा के आने के पहले एक बार इंदु से एकांत में मिलने का मौक़ा मिल जाता, तो अच्छा होता। क्या करूँ, इंदु को बुला भेजूँ? न-जाने क्या करने लगी। प्यानो बजाऊँ, तो शायद सुनकर आए।

उधर इंदु भी सोफ़िया से कितनी ही बातें करना चाहती थी। रानीजी के सामने उसे दिल की बातें कहने का अवसर न मिला था। डर रही थी कि सोफ़िया के पिता उसे लेते गए, तो मैं फिर अकेली हो जाऊँगी। डॉक्टर गंगुली ने कहा था कि इन्हें ज़्यादा बातें मत करने देना, आज और आराम से सो लें, तो फिर कोई चिंता न रहेगी। इसलिये वह आने का इरादा करके भी रह जाती थी। आख़िर नौ बजते-बजते वह अधीर हो गई। आकर नौकरानी को अपना कमरा साफ़ करने के बहाने से हटा दिया, और सोफ़िया के सिरहाने बैठकर बोली—"क्यों बहन, बहुत कमज़ोरी तो नहीं मालूम होती?"

सोफ़िया—"बिलकुल नहीं। मुझे तो मालूम होता है कि मैं चंगी हो गई।"

इंदु—"तुम्हारे पापा कहीं तुम्हें अपने साथ ले गए, तो मेरे प्राण ही निकल जायँगे। तुम भी उनकी राह देख रही हो। उनके आते

ही ख़ुश होकर चली जाओगी, और शायद फिर कभी मेरी याद भी न करोगी।"

यह कहते-कहते इंदु की आँखें सजल हो गईं। मनोभावों के अनुचित आवेश को हम बहुधा मुस्किराहट से छिपाते हैं। इंदु की आँखों में आँसू भरे हुए थे, पर वह मुस्किरा रही थी।

सोफ़िया बोली—"आप मुझे भूल सकती हैं, पर मैं आपको कैसे भूलूँगी?"

वह अपने दिल का दर्द सुनाने ही जा रही थी कि संकोच ने आकर ज़बान बंद कर दी, बात फेरकर बोली—"मैं कभी-कभी आपसे मिलने आया करूँगी।"

इंदु—"मैं तुम्हें यहाँ से अभी पंद्रह दिन तक न जाने दूँगी। धर्म बाधक न होता, तो कभी न जाने देती। अम्माजी तुम्हें अपनी बहू बनाकर छोड़तीं। तुम्हारे ऊपर बेतरह रीझ गई हैं। जहाँ बैठती हैं, तुम्हारी ही चर्चा करती हैं। विनय भी तुम्हारे हाथों बिका हुआ-सा जान पड़ता है। तुम चली जाओगी, तो सबसे ज़्यादा दुख उसी को होगा। एक बात भेद की तुमसे कहती हूँ। अम्माजी तुम्हें कोई चीज़ तोहफ़ा समझकर दें, तो इनकार मत करना, नहीं तो उन्हें बहुत दुख होगा।"

इस प्रेममय आग्रह ने संकोच का लंगर उखाड़ दिया। जो अपने घर में नित्य कटु शब्द सुनने का आदी हो, उसके लिये इतनी मधुर सहानुभूति काफ़ी से ज़्यादा थी। अब सोफ़ी को इंदु से अपने मनोभावों को गुप्त रखना मैत्री के नियमों के विरुद्ध प्रतीत हुआ। करुण स्वर में बोली—"इंदु, मेरा बस चलता, तो कभी रानी के चरणों को न छोड़ती, पर अपना क्या क़ाबू है? यह स्नेह और कहाँ मिलेगा?"

इंदु यह भाव न समझ सकी। अपनी स्वाभाविक सरलता से बोली—"कहीं विवाह की बातचीत हो रही है क्या?"

उसकी समझ में विवाह के सिवा लड़कियों के इतना दुखी होने का कोई कारण न था।

सोफ़िया—"मैंने तो इरादा कर लिया है कि विवाह न करूँगी।"

इंदु—"क्यों?"

सोफ़िया—"इसलिये कि विवाह से मुझे अपनी धार्मिक स्वाधीनता त्याग देनी पड़ेगी। धर्म विचार-स्वातंत्र्य का गला घोट देता है। मैं अपनी आत्मा को किसी मनुष्य के हाथ नहीं बेचना चाहती। मुझे ऐसा ईसाई पुरुष मिलने की आशा नहीं, जिसका हृदय इतना उदार हो कि वह मेरी धार्मिक शंकाओं को दरगुज़र कर सके। मैं परिस्थिति से विवश होकर ईसा को ख़ुदा का बेटा और अपना मुक्तिदाता नहीं मान सकती, विवश होकर गिरजा-घर में ईश्वर की प्रार्थना करने नहीं जाना चाहती। मैं ईसा को ईश्वर नहीं मान सकती।"

इंदु—"मैं तो समझती थी, तुम्हारे यहाँ हम लोगों के यहाँ से कहीं ज़्यादा आज़ादी है; जहाँ चाहो, अकेली जा सकती हो। हमारा तो घर से निकलना मुश्किल है।"

सोफ़िया—"लेकिन इतनी धार्मिक संकीर्णता तो नहीं है?"

इंदु—"नहीं, कोई किसी को पूजा-पाठ के लिये मजबूर नहीं करता। बाबूजी नित्य गंगा-स्नान करते हैं, घंटों शिव की आराधना करते हैं। अम्माजी कभी भूलकर भी स्नान करने नहीं जातीं, न किसी देवता की पूजा करती हैं; पर बाबूजी कभी आग्रह नहीं करते। भक्ति तो अपने विश्वास और मनोवृत्ति पर ही निर्भर है। हम भाई-बहन के विचारों में भी आकाश-पाताल का अंतर है। मैं कृष्ण की उपासिका हूँ, विनय ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता; पर बाबूजी हम लोगों से कभी कुछ नहीं कहते, और न हम भाई-बहन में कभी इस विषय पर वाद-विवाद होता है।"

सोफ़िया— "हमारी स्वाधीनता लौकिक और इसलिये मिथ्या है। आपकी स्वाधीनता मानसिक और इसलिये सत्य है। असली स्वाधीनता वही है, जो विचार के प्रवाह में बाधक न हो।"

इंदु—"तुम गिरजे में कभी नहीं जातीं?"

सोफ़िया—"पहले दुराग्रह-वश जाती थी, अब की नहीं गई। इस पर घर के लोग बहुत नाराज़ हुए। बुरी तरह तिरस्कार किया गया।"

इंदु ने प्रेममयी सरलता से कहा—"वे लोग नाराज़ हुए होंगे, तो तुम बहुत रोई होगी। इन प्यारी आँखों से आँसू बहे होंगे। मुझसे किसी का रोना नहीं देखा जाता।"

सोफ़िया—"पहले रोया करती थी, अब परवा नहीं करती।"

इंदु—"मुझे तो कभी कोई कुछ कह देता है, तो हृदय पर तीर-सा लगता है। दिन-दिन-भर रोती ही रह जाती हूँ। आँसू ही नहीं थमते। वह बात बार-बार हृदय में चुभा करती है। सच पूछो, तो मुझे किसी के क्रोध पर रोना नहीं आता, रोना आता है अपने ऊपर कि मैंने क्यों उन्हें नाराज़ किया, क्यों मुझसे ऐसी भूल हुई।"

सोफ़िया को भ्रम हुआ कि इंदु मुझे अपनी क्षमाशीलता से लज्जित करना चाहती है, माथे पर शिकन पड़ गई। बोली—"मेरी जगह पर आप होतीं, तो ऐसा न कहतीं। आख़िर क्या आप अपने धार्मिक विचारों को छोड़ बैठतीं?"

इंदु—"यह तो नहीं कह सकती कि क्या करती; पर घरवालों को प्रसन्न रखने की चेष्टा किया करती।"

सोफ़िया—"आपकी माताजी अगर आपको ज़बरदस्ती कृष्ण की उपासना करने से रोकें, तो आप मान जायँगी?"

इंदु—"हाँ, मैं तो मान जाऊँगी। अम्मा को नाराज़ न करूँगी। कृष्ण तो अंतर्यामी हैं, उन्हें प्रसन्न रखने के लिये उपासना की ज़रूरत नहीं। उपासना तो केवल अपने मन के संतोष के लिये है।"

सोफ़िया—(आश्चर्य से) "आपको ज़रा भी मानसिक पीड़ा न होगी ?"

इंदु—"अवश्य होगी; पर उनकी ख़ातिर मैं सह लूँगी ।"

सोफ़िया—"अच्छा, अगर वह आपकी इच्छा के विरुद्ध आपका विवाह करना चाहें, तो ?"

इंदु—(लजाते हुए) "वह समस्या तो हल हो चुकी । मा-बाप ने जिससे उचित समझा, कर दिया । मैंने ज़बान तक नहीं खोली ।"

सोफ़िया—"अरे ! यह कब ?"

इंदु—"इसे तो दो साल हो गए । (आँखें नीची करके) अगर मेरा अपना बस होता, तो उन्हें कभी न वरती, चाहे कुँआरी ही रहती । मेरे स्वामी मुझसे प्रेम करते हैं, धन की कोई कमी नहीं । पर मैं उनके हृदय के केवल चतुर्थांश की अधिकारिणी हूँ, उसके तीन भाग सार्वजनिक कामों की भेंट होते हैं । एक के बदले चौथाई पाकर कौन संतुष्ट हो सकता है । मुझे तो बाजरे की पूरी बिस्कुट के चौथाई हिस्से से कहीं अच्छी मालूम होती है । क्षुधा तो तृप्त हो जाती है, जो भोजन का यथार्थ उद्देश्य है ।"

सोफ़िया—"आपकी धार्मिक स्वाधीनता में तो बाधा नहीं डालते ?"

इंदु—"नहीं । उन्हें इतना अवकाश कहाँ है ?"

सोफ़िया—"तब तो मैं आपको मुबारकबाद दूँगी ।"

इंदु—"अगर किसी क़ैदी को बधाई देना उचित हो, तो शौक़ से दो ।"

सोफ़िया—"बेड़ी प्रेम की हो, तो ?"

इंदु—"ऐसा होता, तो मैं स्वयं तुमसे बधाई देने को आग्रह करती । मैं बँध गई, वह मुक्त हैं । मुझे यहाँ आए तीन महीने होने आते हैं; पर तीन बार से ज़्यादा नहीं आए, और वह भी एक-एक

घंटे के लिये। इसी शहर में रहते हैं, दस मिनट में मोटर आ सकती है; पर इतनी फ़ुर्सत किसे है। हाँ, पत्रों से अपनी मुलाक़ात का काम निकालना चाहते हैं, और वे पत्र भी क्या होते हैं, आदि से अंत तक अपने दुखड़ों से भरे हुए। आज यह काम है, कल वह काम है; इनसे मिलने जाना है, उनका स्वागत करना है। म्युनिसिपैलिटी के प्रधान क्या हो गए, राज्य मिल गया। अब देखो, वही धुन सवार! और सब कामों के लिये फ़ुर्सत है। अगर फ़ुर्सत नहीं है, तो सिर्फ़ यहाँ आने को। मैं तुम्हें चिताए देती हूँ, किसी देश-सेवक से विवाह न करना, नहीं तो पछताओगी। तुम उसके अवकाश के समय की मनोरंजन-सामग्री-मात्र रहोगी।"

सोफ़िया—"मैं तो पहले ही अपना मन स्थिर कर चुकी; सबसे अलग-ही-अलग रहना चाहती हूँ, जहाँ मेरी स्वाधीनता में बाधा डालनेवाला कोई न हो। मैं सत्पथ पर रहूँगी, या कुपथ पर चलूँगी, यह ज़िम्मेदारी भी अपने ही सिर लेना चाहती हूँ। मैं बालिग़ हूँ, और अपना नफ़ा-नुक़सान देख सकती हूँ। आजन्म किसी की रक्षा में नहीं रहना चाहती; क्योंकि रक्षा का अर्थ पराधीनता के सिवा और कुछ नहीं।"

इंदु—"क्या तुम अपने मामा और पापा के अधीन नहीं रहना चाहतीं?"

सोफ़िया—"न, पराधीनता में प्रकार का नहीं, केवल मात्राओं का अंतर है।"

इंदु—"तो मेरे ही घर क्यों नहीं रहतीं? मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी। और, अम्माजी तो तुम्हें आँखों की पुतली बनाकर रक्खेंगी। मैं चली जाती हूँ, तो वह अकेले घबराया करती हैं। तुम्हें पा जायँ, तो फिर गला न छोड़ें। कहो, तो अम्मा से कहूँ। यहाँ तुम्हारी स्वाधीनता में कोई दख़ल न देगा। बोलो, कहूँ जाकर अम्मा से?"

सोफ़िया—"नहीं, अभी भूलकर भी नहीं। आपकी अम्माजी को जब मालूम होगा कि इसके मा-बाप इसकी बात नहीं पूछते, तो मैं उनकी आँखों से भी गिर जाऊँगी। जिसकी अपने घर में इज़्ज़त नहीं, उसकी बाहर भी इज़्ज़त नहीं होती।"

इंदु—"नहीं सोफ़ी, अम्माजी का स्वभाव बिलकुल निराला है। जिस बात से तुम्हें अपने निरादर का भय है, वही बात अम्माजी के आदर की वस्तु है। वह स्वयं अपनी मा से किसी बात पर नाराज़ हो गई थीं। तब से मैके नहीं गईं। नानी मर गईं; पर अम्माजी ने उन्हें क्षमा नहीं किया। सैकड़ों बुलावे आए; पर उन्हें देखने तक न गईं। उन्हें ज्यों ही यह बात मालूम होगी; तुम्हारी दूनी इज़्ज़त करने लगेंगी।"

सोफ़ी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"बहन, मेरी लाज अब आप ही के हाथ है।"

इंदु ने उसका सिर अपनी जाँघ पर रखकर कहा—"वह मुझे अपनी लाज से कम प्रिय नहीं है।"

उधर मि० जॉन सेवक को कुँअर साहब का पत्र मिला, तो जाकर स्त्री से बोले—"देखा, मैं कहता न था कि सोफ़ी पर कोई संकट आ पड़ा। यह देखो, कुँअर भरतसिंह का पत्र है। तीन दिनों से उनके घर पड़ी हुई है। उनके एक झोपड़े में आग लग गई थी। वह भी उसे बुझाने लगी। कहीं लपट में आ गई।"

मिसेज़ सेवक—"ये सब बहाने हैं। मुझे उसकी किसी बात पर विश्वास नहीं रहा। जिसका दिल ख़ुदा से फिर गया, उसे झूठ बोलने का क्या डर? यहाँ से बिगड़कर गई थी, समझा होगा, घर से निकलते ही फूलों की सेज बिछी हुई मिलेगी। जब कहीं शरण न मिली, तो यह पत्र लिखवा दिया। अब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। यह भी संभव है, ख़ुदा ने उसके अविचार का यह दंड दिया हो।"

मि० जॉन सेवक—"चुप भी रहो, तुम्हारी निर्दयता पर मुझे आश्चर्य होता है। मैंने तुझ-जैसी कठोर-हृदया स्त्री नहीं देखी।"

मिसेज़ सेवक—"मैं तो नहीं जाती, तुम्हें जाना हो, जाओ।"

जॉन सेवक—"मुझे तो देख रही हो, मरने की फ़ुरसत नहीं है। उसी पाँड़ेपुरवाली ज़मीन के विषय में बातचीत कर रहा हूँ। ऐसे मूर्ज़ी से पाला पड़ा है कि किसी तरह चंगुल ही में नहीं आता। देहातियों को जो लोग सरल कहते हैं, बड़ी भूल करते हैं। इनसे ज़्यादा चालाक आदमी मिलना मुश्किल है। तुम्हें इस वक्त कोई काम नहीं है, मोटर मँगवाए देता हूँ, शान से चली जाओ, और उसे अपने साथ लेती आओ।"

ईश्वर सेवक वहीं आराम-कुर्सी पर आँखें बंद किए ईश्वर-भजन में मग्न बैठे थे। जैसे बहरा आदमी मतलब की बात सुनते ही सचेत हो जाता है, मोटरकार का ज़िक्र सुनते ही ध्यान टूट गया। बोले— मोटरकार की क्या ज़रूरत है? क्या दस-पाँच रुपए काट रहे हैं? यों उड़ाने से तो क़ारूँ का ख़ज़ाना भी काफ़ी न होगा। क्या गाड़ी पर जाने से शान में फ़र्क़ आ जायगा? तुम्हारी मोटर देखकर कुँअर साहब रोब में न आएँगे, उन्हें ख़ुदा ने बहुतेरी मोटरें दी हैं। प्रभु, दास को अपनी शरण में लो, अब देर न करो, मेरी सोफ़ी बेचारी वहाँ बेगानों में पड़ी हुई है, न-जाने इतने दिन किस तरह काटे होंगे। ख़ुदा उसे सच्चा रास्ता दिखाए। मेरी आँखें उसे ढूँढ़ रही हैं। जब से वह गई है, कलामे-पाक सुनने की नौबत नहीं आई। ईसू, मुझ पर साया कर। वहाँ उस बेचारी का कौन पुछत्तर होगा, अमीरों के घर में ग़रीबों का कहाँ गुज़र!"

जॉन सेवक—"अच्छा ही हुआ, यहाँ होती, तो रोज़ाना डॉक्टर की फ़ीस न देनी पड़ती?"

ईश्वर सेवक—"डॉक्टर का क्या काम था। ईश्वर की दया से मैं

ख़ुद थोड़ी-बहुत डॉक्टरी कर लेता हूँ। घरवालों का स्नेह डॉक्टर की दवाओं से कहीं ज़्यादा लाभदायक होता है। मैं अपनी बच्ची को गोद में लेकर कलामे-पाक सुनाता, उसके लिये ख़ुदा से दुआ माँगता।"

मिसेज़ सेवक—"तो आप ही चले जाइए?"

ईश्वर सेवक—"सिर और आँखों से; मेरा ताँगा मँगवा दो। हम सबों को चलना चाहिए। भूले-भटके को प्रेम ही सन्मार्ग पर लाता है। मैं भी चलता हूँ। अमीरों के सामने दीन बनना पड़ता है। उनसे बराबरी का दावा नहीं किया जाता।"

जॉन सेवक—"मुझे अभी साथ न ले जाइए, मैं किसी दूसरे अवसर पर जाऊँगा। इस वक़्त वहाँ शिष्टाचार के सिवा और कोई काम न होगा। मैं उन्हें धन्यवाद दूँगा, वह मुझे धन्यवाद देंगे। मैं इस परिचय को दैवी प्रेरणा समझता हूँ। इतमीनान से मिलूँगा। कुँअर साहब का शहर में बहुत दबाव है। म्युनिसिपैलिटी के प्रधान उनके दामाद हैं। उनकी सहायता से मुझे पाँड़ेपुरवाली ज़मीन बड़ी आसानी से मिल जायगी। संभव है, वह कुछ हिस्से भी ख़रीद लें। मगर आज इन बातों का मौक़ा नहीं है।"

ईश्वर सेवक—"मुझे तुम्हारी बुद्धि पर हँसी आती है। जिस आदमी से राह-रस्म पैदा करके तुम्हारे इतने काम निकल सकते हैं, उससे मिलने में भी तुम्हें इतना संकोच! तुम्हारा समय इतना बहु-मूल्य है कि आध घंटे के लिये भी वहाँ नहीं जा सकते? पहली ही मुलाक़ात में सारी बातें तय कर लेना चाहते हो? ऐसा सुनहरा अवसर पाकर भी तुम्हें उससे फ़ायदा उठाना नहीं आता।"

जॉन सेवक—"ख़ैर, आपका अनुरोध है, तो मैं ही चला जाऊँगा। मैं एक ज़रूरी काम कर रहा था, फिर कर लूँगा। आपको कष्ट करने की ज़रूरत नहीं। (स्त्री से) तुम तो चल रही हो?"

मिसेज़ सेवक—"मुझे नाहक़ ले चलते हो; मगर ख़ैर, चलो।"

भोजन के बाद चलना निश्चित हुआ। अँगरेज़ी प्रथा के अनुसार यहाँ दिन का भोजन एक बजे होता था। बीच का समय तैयारियों में कटा। मिसेज़ सेवक ने अपने आभूषण निकाले, जिनसे वृद्धावस्था ने भी उन्हें विरक्त नहीं किया था। अपना अच्छे-से-अच्छा गाउन और ब्लाउज़ निकाला। इतना शृंगार वह अपनी बरस-गाँठ के सिवा और किसी उत्सव में न करती थीं। उद्देश्य था सोफ़िया को जलाना, उसे दिखाना कि तेरे चले आने से मैं रो-रोकर मरी नहीं जा रही हूँ। कोचवान को गाड़ी धोकर साफ़ करने का हुक्म दिया गया। प्रभु सेवक को भी साथ ले चलने की राय हुई। लेकिन जॉन सेवक ने जाकर उसके कमरे में देखा, तो उसका पता न था। उसकी मेज़ पर एक दर्शन-ग्रंथ खुला पड़ा था। मालूम होता था, पढ़ते-पढ़ते उठकर कहीं चला गया है। वास्तव में यह ग्रंथ तीन दिनों से इसी भाँति खुला पड़ा था। प्रभु सेवक को उसे बंद करके रख देने का भी अवकाश न था। वह प्रातःकाल से दो घड़ी रात तक शहर का चक्कर लगाया करता। केवल दो बार भोजन करने घर पर आता था। ऐसा कोई स्कूल न था, जहाँ उसने सोफ़ी को न ढूँढ़ा हो। कोई जान-पहचान का आदमी, कोई मित्र ऐसा न था, जिसके घर जाकर उसने तलाश न की हो। दिन-भर की दौड़-धूप के बाद रात को निराश होकर लौट आता, और चारपाई पर लेटकर घंटों सोचता और रोता। कहाँ चली गई? पुलिस के दफ़्तर में दिन-भर में दस-दस बार जाता और पूछता, कुछ पता चला? समाचार-पत्रों में भी सूचना दे रक्खी थी। वहाँ भी रोज़ कई बार जाकर दरियाफ़्त करता। उसे विश्वास होता जाता था कि सोफ़ी हमसे सदा के लिये विदा हो गई। आज भी, रोज़ की भाँति, एक बजे थका-माँदा, उदास और निराश लौटकर आया, तो जॉन सेवक ने शुभ-सूचना दी—"सोफ़िया का पता मिल गया।"

प्रभु सेवक का चेहरा खिल उठा। बोला—"सच! कहाँ है? क्या उसका कोई पत्र आया है?"

जॉन सेवक—"कुँअर भरतसिंह के मकान पर है। आओ, खाना खा लो। तुम्हें भी वहाँ चलना है।"

प्रभु सेवक—"मैं तो लौटकर खाना खाऊँगा। भूख ग़ायब हो गई। है तो अच्छी तरह?"

मिसेज़ सेवक—"हाँ, हाँ, बहुत अच्छी तरह है। ख़ुदा ने यहाँ से रूठकर जाने की सज़ा दे दी।"

प्रभु सेवक—"मामा, ख़ुदा ने आपका दिल न-जाने किस पत्थर का बनाया है। क्या घर से आप ही रूठकर चली गई थी? आप ही ने उसे निकाला, और अब भी आपको उस पर ज़रा भी दया नहीं आती।"

मिसेज़ सेवक—"गुमराहों पर दया करना पाप है।"

प्रभु सेवक—"अगर सोफ़ी गुमराह है, तो ईसाइयों में १०० में ६६ आदमी गुमराह हैं। वह धर्म का स्वाँग नहीं दिखाना चाहती, यही उसमें दोष है। नहीं तो प्रभु मसीह से जितनी श्रद्धा उसे है, उतनी उन्हें भी न होगी, जो ईसा पर जान देते हैं।"

मिसेज़ सेवक—"ख़ैर, मालूम हो गया कि तुम उसकी वकालत ख़ूब कर सकते हो। मुझे इन दलीलों के सुनने की फ़ुरसत नहीं।"

यह कहकर मिसेज़ सेवक वहाँ से चली गईं। भोजन का समय आया। लोग मेज़ पर बैठे। प्रभु सेवक बहुत आग्रह करने पर भी न गया। तीनो आदमी फ़िटन पर बैठे, तो ईश्वर सेवक ने चलते-चलते जॉन सेवक से कहा—"सोफ़ी को ज़रूर साथ लाना, और इस अवसर को हाथ से न जाने देना। प्रभु मसीह तुम्हें सुबुद्धि दें, सफल-मनोरथ करें।"

थोड़ी देर में फ़िटन कुँअर साहब के मकान पर पहुँच गई।

कुँअर साहब ने बड़े तपाक से उनका स्वागत किया। मिसेज़ सेवक ने मन में सोच रक्खा था, मैं सोफ़िया से एक शब्द भी न बोलूँगी, दूर से खड़ी देखती रहूँगी। लेकिन जब सोफ़िया के कमरे में पहुँचीं, और उसका मुरझाया हुआ चेहरा देखा, तो शोक से कलेजा मसोस उठा। मातृस्नेह उबल पड़ा। अधीर होकर उससे लिपट गईं। आँखों से आँसू बहने लगे। इस प्रवाह में सोफ़िया का मनोमालिन्य बह गया। उसने दोनो हाथ माता की गरदन में डाल दिए, और कई मिनट तक दोनो प्रेम का स्वर्गीय आनंद उठाती रहीं। जॉन सेवक ने सोफ़िया का माथा चूमा; किंतु प्रभु सेवक आँखों में आँसू भरे उसके सामने खड़ा रहा। आलिंगन करते हुए उसे भय होता था कि कहीं हृदय फट न जाय। ऐसे अवसरों पर उसके भाव और भाषा, दोनो ही शिथिल हो जाते थे।

जब जॉन सेवक सोफ़ी को देखकर कुँअर साहब के साथ बाहर चले गए, तो मिसेज़ सेवक बोलीं—"तुझे उस दिन क्या सूझी कि यहाँ चली आई? यहाँ अजनबियों में पड़े-पड़े तेरी तबियत घबराती रही होगी। ये लोग अपने धन के घमंड में तेरी बात भी न पूछते होंगे।"

सोफ़िया—"नहीं मामा, यह बात नहीं है। घमंड तो यहाँ किसी में छू भी नहीं गया है। सभी सहृदयता और विनय के पुतले हैं। यहाँ तक कि नौकर-चाकर भी इशारों पर काम करते हैं। मुझे आज चौथे दिन होश आया है, पर इन लोगों ने इतने प्रेम से सेवा-शुश्रूषा न की होती, तो शायद मुझे हफ़्तों बिस्तर पर पड़ा रहना पड़ता। मैं अपने घर में भी ज़्यादा-से-ज़्यादा इतने ही आराम से रहती।"

मिसेज़ सेवक—"तुमने अपनी जान जोखिम में डाली थी, तो क्या ये लोग इतना भी करने से रहे?"

सोफिया—"नहीं मामा, ये लोग अत्यंत सुशील और सज्जन हैं।

ख़ुद रानीजी प्रायः मेरे पास बैठी पंखा झलती रहती हैं। कुँअर साहब दिन में कई बार आकर देख जाते हैं, और इंदु से तो मेरा बहनापा-सा हो गया है। यही लड़की है, जो मेरे साथ नैनीताल में पढ़ा करती थी।"

मिसेज़ सेवक—(चिढ़कर) "तुझे दूसरों में सब गुण-ही-गुण नज़र आते हैं। अवगुण सब घरवालों ही के हिस्से में पड़े हैं। यहाँ तक कि दूसरे धर्म भी अपने धर्म से अच्छे हैं।"

प्रभु सेवक—"मामा, आप तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठती हैं। अगर कोई अपने साथ अच्छा बरताव करे, तो क्या उसका एहसान न माना जाय? कृतघ्नता से बुरा कोई दूषण नहीं है।"

मिसेज़ सेवक—"यह आज कोई नई बात थोड़े ही है। घरवालों की निंदा तो इसकी आदत हो गई है। यह मुझे जताना चाहती है कि ये लोग इसके साथ मुझसे ज़्यादा प्रेम करते हैं। देखूँ, यहाँ से जाती है, तो कौन-सा तोहफ़ा दे देते हैं। कहाँ हैं तेरी रानी साहब? मैं भी उन्हें धन्यवाद दे दूँ। उनसे आज्ञा ले लो, और घर चलो। पापा अकेले घबरा रहे होंगे।"

सोफ़िया—"वह तो तुमसे मिलने को बहुत उत्सुक थीं। कब की आ गई होतीं, पर कदाचित् हमारे बीच में बिना बुलाए आना अनुचित समझती होंगी।"

प्रभु सेवक—"मामा, अभी सोफ़ी को यहाँ दो-चार दिन और आराम से पड़ी रहने दीजिए। अभी इसे उठने में कष्ट होगा। देखिए, कितनी दुर्बल हो गई है!"

सोफ़िया—"रानीजी भी यही कहती थीं कि अभी मैं तुम्हें न जाने दूँगी।"

मिसेज़ सेवक—"यह क्यों नहीं कहती कि तेरा ही जी यहाँ से जाने को नहीं चाहता। वहाँ तेरा इतना प्यार कौन करेगा!"

सोफ़िया—"नहीं मामा, आप मेरे साथ अन्याय कर रही हैं। मैं अब यहाँ एक दिन भी नहीं रहना चाहती। इन लोगों को मैं अब और कष्ट न दूँगी। मगर एक बात मुझे मालूम हो जानी चाहिए। मुझ पर फिर तो अत्याचार न किया जायगा? मेरी धार्मिक स्वतंत्रता में फिर तो कोई बाधा न डाली जायगी?"

प्रभु सेवक—"सोफ़ी, तुम व्यर्थ इन बातों की क्यों चर्चा करती हो। तुम्हारे साथ कौन-सा अत्याचार किया जाता है। ज़रा-सी बात का बतंगड़ बनाती हो।"

मिसेज़ सेवक—"नहीं, तूने यह बात पूछ ली, बहुत अच्छा किया। मैं भी मुग़ालते में नहीं रखना चाहती। मेरे घर में प्रभु मसीह के द्रोहियों के लिये जगह नहीं है।"

प्रभु सेवक—"आप नाहक़ उससे उलझती हैं। समझ लीजिए, कोई पगली बक रही है।"

मिसेज़ सेवक—"क्या करूँ, मैंने तुम्हारी तरह दर्शन नहीं पढ़ा। यथार्थ को स्वप्न नहीं समझ सकती। यह गुण तो तत्त्वज्ञानियों ही में हो सकता है। यह मत समझो कि मुझे अपनी संतान से प्रेम नहीं है। ख़ुदा जानता है, मैंने तुम्हारी ख़ातिर क्या-क्या कष्ट नहीं झेले। उस समय तुम्हारे पापा एक दफ़्तर में क्लर्क थे। घर का सारा काम-काज मुझी को करना पड़ता था। बाज़ार जाती, खाना पकाती, झाड़ू लगाती; तुम दोनो ही बचपन में कमज़ोर थे, नित्य एक-न-एक रोग लगा ही रहता था। घर के कामों से ज़रा फ़ुरसत मिलती, तो डॉक्टर के पास जाती। बहुधा तुम्हें गोद में लिए-ही-लिए रातें कट जातीं। इतने आत्मसमर्पण से पाली हुई संतान को जब ईश्वर से विमुख होते देखती हूँ, तो मैं दुःख और क्रोध से बावली हो जाती हूँ। तुम्हें मैं सच्चा, ईमान का पक्का, मसीह का भक्त बनाना चाहती थी। इसके विरुद्ध जब तुम्हें ईसू से मुँह मोड़ते

देखती हूँ; उनके उपदेश, उनके जीवन और उनके अलौकिक कृत्यों पर शंका करते पाती हूँ, तो मेरे हृदय के टुकड़े हो जाते हैं, और यही इच्छा होती है कि इसकी सूरत न देखूँ। मुझे अपना मसीह सारे संसार से, संतान से, यहाँ तक कि अपनी जान से भी, प्यारा है।"

सोफ़िया—"आपको ईसू इतना प्यारा है, तो मुझे भी अपनी आत्मा, अपना ईमान उससे कम प्यारा नहीं है। मैं उस पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं सह सकती।"

मिसेज़ सेवक—"ख़ुदा तुझे इस अभक्ति की सज़ा देगा। मेरी उससे यही प्रार्थना है कि वह फिर मुझे तेरी सूरत न दिखाए।"

यह कहकर मिसेज़ सेवक कमरे से बाहर निकल आईं। रानी और इंदु उधर से आ रही थीं। द्वार पर उनसे भेंट हो गई। रानी-जी मिसेज़ सेवक के गले लिपट गईं, और कृतज्ञता-पूर्ण शब्दों का दरिया बहा दिया। मिसेज़ सेवक को इस साधु प्रेम में बनावट की बू आई। लेकिन रानी को मानव-चरित्र का ज्ञान न था। इंदु से बोलीं—"देख, मिस सोफ़िया से कह दे, अभी जाने की तैयारी न करे। मिसेज़ सेवक, आप मेरी ख़ातिर से सोफ़िया को अभी दो-चार दिन यहाँ और रहने दें, मैं आपसे सविनय अनुरोध करती हूँ। अभी मेरा मन उसकी बातों से तृप्त नहीं हुआ, और न उसकी कुछ सेवा ही कर सकी। मैं आपसे वादा करती हूँ, मैं स्वयं उसे आपके पास पहुँचा दूँगी। जब तक वह यहाँ रहेगी, आपसे दिन में एक बार भेंट तो होती ही रहेगी। धन्य हैं आप, जो ऐसी सुशील लड़की पाई! दया और विवेक की मूर्ति है। आत्मत्याग तो इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ है।"

मिसेज़ सेवक—"मैं इसे अपने साथ चलने के लिये मजबूर नहीं करती। आप जितने दिन चाहें, शौक़ से रक्खें।"

रानी—"बस-बस, मैं इतना ही चाहती थी। आपने मुझे मोल ले लिया। आपसे ऐसी ही आशा भी थी। आप इतनी सुशीला न होतीं, तो लड़की में ये गुण कहाँ से आते? एक मेरी इंदु है कि बातें करने का भी ढंग नहीं जानती। एक बड़ी रियासत की रानी है; पर इतना भी नहीं जानती कि मेरी वार्षिक आय कितनी है! लाखों के गहने संदूक़ में पड़े हुए हैं, उन्हें छूती तक नहीं। हाँ, सैर करने को कह दीजिए, तो दिन-भर घूमा करे। क्यों इंदु, झूठ कहती हूँ?"

इंदु—"तो क्या करूँ, मन-भर सोना लादे बैठी रहूँ? मुझे तो इस तरह अपनी देह को जकड़ना अच्छा नहीं लगता।"

रानी—"सुनीं आपने इसकी बातें। गहनों से इसकी देह जकड़ जाती है! आइए, अब आपको अपने घर की सैर कराऊँ। इंदु, चाय बनाने को कह दे।"

मिसेज़ सेवक—"मिस्टर सेवक बाहर खड़े मेरा इंतज़ार कर रहे होंगे। देर होगी।"

रानी—"वाह, इतनी जल्दी। कम-से-कम आज यहाँ भोजन तो कर ही लीजिए। लंच करके हवा खाने चलें, फिर लौटकर कुछ देर गप-शप करें। डिनर के बाद मेरी मोटर आपको घर पहुँचा देगी।"

मिसेज़ सेवक इनकार न कर सकीं। रानी ने उनका हाथ पकड़ लिया, और अपने राजभवन की सैर कराने लगीं। आध घंटे तक मिसेज़ सेवक मानो इंद्रलोक की सैर करती रहीं। भवन क्या था, आमोद, विलास, रसज्ञता और वैभव का क्रीड़ास्थल था। संगमरमर के फ़र्श पर बहुमूल्य क़ालीन बिछे हुए थे। चलते समय उनमें पैर धँस जाते थे। दीवारों पर मनोहर पच्चीकारी; कमरों की दीवारों में बड़े-बड़े आदम-क़द आईने; गुलकारी इतनी सुंदर कि आँखें मुग्ध हो जायँ; शीशे की अमूल्य, अलभ्य वस्तुएँ; प्राचीन चित्रकारों की विभूतियाँ; चीनी के विलक्षण गुलदान; जापान, चीन, यूनान और

ईरान की कला-निपुणता के उत्तम नमूने; सोने के गमले; लखनऊ की बोलती हुई मूर्तियाँ; इटाली के बने हुए हाथी-दाँत के पलँग; लकड़ी के नफ़ीस ताक; दीवारगीरें; किश्तियाँ; आँखों को लुभानेवाली, पिंजड़ों में चहकती हुई, भाँति-भाँति की चिड़ियाँ; आँगन में संगमरमर का हौज़ और उसके किनारे संगमरमर की अप्सराएँ—मिसेज़ सेवक ने इन सारी वस्तुओं में से किसी की प्रशंसा नहीं की, कहीं भी विस्मय या आनंद का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उन्हें आनंद के बदले ईर्ष्या हो रही थी। ईर्षा में गुणग्राहकता नहीं होती। वह सोच रही थीं—एक यह भाग्यवान् हैं कि ईश्वर ने इन्हें भोग-विलास और आमोद-प्रमोद की इतनी सामग्रियाँ प्रदान कर रक्खी हैं। एक अभागिनी मैं हूँ कि एक झोपड़े में पड़ी हुई दिन काट रही हूँ। सजावट और बनावट का ज़िक्र ही क्या, आवश्यक वस्तुएँ भी काफ़ी नहीं। इस पर तुर्रा यह कि हम प्रात: से संध्या तक छाती फाड़कर काम करती हैं, यहाँ कोई तिनका तक नहीं उठाता। लेकिन इसका क्या शोक! आसमान की बादशाहत में तो अमीरों का हिस्सा नहीं। वह तो हमारी मीरास होगी। अमीर लोग कुत्तों की भाँति दुत्कारे जायँगे, कोई झाँकने तक न पाएगा।

इस विचार से उन्हें कुछ तसल्ली हुई। ईर्ष्या की व्यापकता ही भाग्यवाद की सर्वप्रियता का कारण है। रानी साहब को आश्चर्य हो रहा था कि इन्हें मेरी कोई चीज़ पसंद न आई, किसी वस्तु का बखान न किया। मैंने एक-एक चित्र और एक-एक प्याले के लिये हज़ारों ख़र्च किए हैं। ऐसी चीज़ें यहाँ और किसके पास हैं। अब अलभ्य हैं, लाखों में भी न मिलेंगी। कुछ नहीं, बन रही हैं, या इतना गुण-ज्ञान ही नहीं है कि इनकी क़द्र कर सकें।

इतने पर भी रानीजी को निराशा नहीं हुई। उन्हें अपना बाग़

दिखाने लगीं। भाँति-भाँति के फूल और पौदे दिखाए। माली बड़ा चतुर था। प्रत्येक पौदे का गुण और इतिहास बतलाता जाता था—कहाँ से आया, कब आया, किस तरह लगाया गया, कैसे उसकी रक्षा की जाती है; पर मिसेज़ सेवक का मुँह अब भी न खुला। यहाँ तक कि अंत में उसने एक ऐसी नन्ही-सी जड़ी दिखाई, जो येरुसलम से लाई गई थी। कुँअर साहब उसे स्वयं बड़ी सावधानी से लाए थे, और उसमें एक-एक पत्ती का निकलना उनके लिये एक-एक शुभ-संवाद से कम न था। मिसेज़ सेवक ने तुरंत उस गमले को उठा लिया, उसे आँखों से लगाया, और पत्तियों को चूमा। बोलीं—"मेरा सौभाग्य है कि इस दुर्लभ वस्तु के दर्शन हुए।"

रानी ने कहा—"कुँअर साहब स्वयं इसका बड़ा आदर करते हैं। अगर यह आज सूख जाय, तो दो दिन तक उन्हें भोजन अच्छा न लगेगा।"

इतने में चाय तैयार हुई। मिसेज़ सेवक लंच पर बैठीं। रानीजी को चाय से रुचि न थी। विनय और इंदु के बारे में बातें करने लगीं। विनय के आचार-विचार, सेवा-भक्ति और परोपकार-प्रेम की सराहना की, यहाँ तक कि मिसेज़ सेवक का जी उकता गया। इसके जवाब में वह अपनी संतानों का बखान न कर सकती थीं।

उधर मि० जॉन सेवक और कुँअर साहब दीवानख़ाने में बैठे लंच कर रहे थे। चाय और अंडों से कुँअर साहब को रुचि न थी। विनय भी इन दोनो वस्तुओं को त्याज्य समझते थे। जॉन सेवक उन मनुष्यों में थे, जिनका व्यक्तित्व शीघ्र ही दूसरों को आकर्षित कर लेता है। उनकी बातें इतनी विचार-पूर्ण होती थीं कि दूसरे अपनी बातें भूलकर उन्हीं को सुनने लगते थे। और, यह बात न थी कि उनका भाषण शब्दाडंबर-मात्र होता हो। अनुभवशील और

मानव-चरित्र के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। ईश्वर-दत्त प्रतिभा थी, जिसके बिना किसी सभा में सम्मान नहीं प्राप्त हो सकता। इस समय वह भारत की औद्योगिक और व्यावसायिक दुर्बलता पर अपने विचार प्रकट कर रहे थे। अवसर पाकर उन साधनों का भी उल्लेख करते जाते थे, जो इस कुदशा-निवारण के लिये उन्होंने सोच रक्खे थे। अंत में बोले—"हमारी जाति का उद्धार कला-कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारख़ाने से कम-से-कम एक हज़ार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जायगी, और खेती के सिर से उनका बोझ टल जायगा। जितनी ज़मीन को एक आदमी अच्छी तरह जोत-बो सकता है, उसमें घर-भर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारख़ाना ऐसे बेकारों को अपनी रोटी कमाने का अवसर देगा।"

कुँअर साहब—"लेकिन जिन खेतों में इस वक़्त नाज बोया जाता है, उन्हीं खेतों में तंबाकू बोई जाने लगेगी। फल यह होगा कि नाज और महँगा हो जायगा।"

जॉन सेवक—"मेरी समझ में तंबाकू की खेती का असर जूट, सन, तेलहन और अफ़ीम पर पड़ेगा। निर्यात जिंस कुछ कम हो जायगी। ग़ल्ले पर इसका कोई असर नहीं पड़ सकता। फिर हम उस ज़मीन को भी जोत में लाने का प्रयास करेंगे, जो अभी तक परती पड़ी हुई है।"

कुँअर साहब—"लेकिन तंबाकू कोई अच्छी चीज़ तो नहीं। इसकी गणना मादक वस्तुओं में है, और स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर पड़ता है।"

जॉन सेवक—(हँसकर) "यह सब डॉक्टरों की कोरी कल्पनाएँ हैं, जिन पर गंभीर विचार करना हास्यास्पद है। डॉक्टरों के आदेशानुसार हम जीवन व्यतीत करना चाहें, तो जीवन का अंत ही हो

जाय। दूध में सिल के कीड़े रहते हैं, घी में चरबी की मात्रा अधिक है, चाय और क़हवा उत्तेजक हैं, यहाँ तक कि साँस लेने से भी कीटाणु शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। उनके सिद्धांतों के अनुसार समस्त संसार कीटों से भरा हुआ है, जो हमारा प्राण लेने पर तुले हुए हैं। व्यवसायी लोग इन गोरख-धंधों में नहीं पड़ते; उनका लक्ष्य केवल वर्तमान परिस्थितियों पर रहता है। हम देखते हैं कि इस देश में विदेश से करोड़ों रुपए के सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्तव्य है कि इस धन-प्रवाह को विदेश जाने से रोकें। इसके बग़ैर हमारा आर्थिक जीवन कभी पनप नहीं सकता।"

यह कहकर उन्होंने कुँअर साहब को गर्व-पूर्ण नेत्रों से देखा। कुँअर साहब की शंकाएँ बहुत कुछ निवृत्त हो चुकी थीं। प्रायः वादी को निरुत्तर होते देखकर हम दिलेर हो जाते हैं। बच्चा भी भागते हुए कुत्ते पर निर्भय होकर पत्थर फेकता है।

जॉन सेवक निश्शंक होकर बोले—"मैंने इन सब पहलुओं पर विचार करके ही यह मत स्थिर किया, और आपके इस दास को (प्रभु सेवक की ओर इशारा करके) इस व्यवसाय का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये अमेरिका भेजा। मेरी कंपनी के अधिकांश हिस्से बिक चुके हैं; पर अभी रुपए नहीं वसूल हुए। इस प्रांत में अभी सम्मिलित व्यवसाय करने का दस्तूर नहीं। लोगों में विश्वास नहीं। इसलिये मैंने दस प्रति सैकड़े वसूल करके काम शुरू कर देने का निश्चय किया है। साल-दो साल में जब आशातीत सफलता होगी, और वार्षिक लाभ होने लगेगा, तो पूँजी आप-ही-आप दौड़ी आवेगी। छत पर बैठा हुआ कबूतर 'आ-आ' की आवाज़ सुनकर सशंक हो जाता है, और ज़मीन पर नहीं उतरता; पर थोड़ा-सा दाना बखेर दीजिए, तो तुरत उतर आता है। मुझे पूरा विश्वास है कि पहले ही साल हमें २५ प्रति सैकड़े लाभ होगा। यह प्रॉसपेक्टस

है, इसे ग़ौर से देखिए। मैंने लाभ का अनुमान करने में बड़ी सावधानी से काम लिया है; बढ़ भले ही जाय, कम नहीं हो सकता।"

कुँअर साहब—"पहले ही साल २५ प्रति सैकड़े!"

जॉन सेवक—"जी हाँ, बड़ी आसानी से। आपसे में हिस्से लेने के लिये विनय करता, पर जब तक एक साल का लाभ दिखा न दूँ, आग्रह नहीं कर सकता। हाँ, इतना अवश्य निवेदन करूँगा कि उस दशा में, संभव है, हिस्से बराबर पर न मिल सकें। १००) के हिस्से शायद २००) पर मिलें।"

कुँअर साहब—"मुझे अब एक ही शंका और है। यदि इस व्यवसाय में इतना लाभ हो सकता है, तो अब तक ऐसी और कंपनियाँ क्यों न खुलीं?"

जॉन सेवक—(हँसकर) "इसलिये कि अभी तक शिक्षित समाज में व्यवसाय-बुद्धि पैदा नहीं हुई। लोगों की नस-नस में ग़ुलामी समाई हुई है। क़ानून और सरकारी नौकरी के सिवा और किसी ओर निगाह जाती ही नहीं। दो-चार कंपनियाँ खुलीं भी; किंतु उन्हें विशेषज्ञों के परामर्श और अनुभव से लाभ उठाने का अवसर न मिला। अगर मिला भी, तो बड़ा महँगा पड़ा! मशीनरी मँगाने में एक के दो देने पड़े, प्रबंध अच्छा न हो सका। विवश होकर कंपनियों को कारबार बंद करना पड़ा। यहाँ प्रायः सभी कंपनियों का यही हाल है। डाइरेक्टरों की थैलियाँ भरी जाती हैं, हिस्से बेचने और विज्ञापन देने में लाखों रुपए उड़ा दिए जाते हैं, बड़ी उदारता से दलालों का आदर-सत्कार किया जाता है, इमारतों में पूँजी का बड़ा भाग ख़र्च कर दिया जाता है, मैनेजर भी बहुवेतन-भोगी रक्खा जाता है। परिणाम क्या होता है? डाइरेक्टर अपनी जेब भरते हैं, मैनेजर अपना पुरस्कार भोगता है, दलाल अपनी दलाली

लेता है; मतलब यह कि सारी पूँजी ऊपर-ही-ऊपर उड़ जाती है। मेरा सिद्धांत है, कम-से-कम ख़र्च और ज़्यादा-से-ज़्यादा नफ़ा। मैंने एक कौड़ी दलाली नहीं दी, विज्ञापनों की मद उड़ा दी। यहाँ तक कि मैंने मैनेजर के लिये भी केवल ५००) ही वेतन देना निश्चित किया है, हालाँकि किसी दूसरे कारख़ाने में एक हज़ार सहज ही में मिल जाते। उस पर घर का आदमी। डाइरेक्टरों के बारे में भी मेरा यही निश्चय है कि सफ़र-ख़र्च के सिवा और कुछ न दिया जाय।"

कुँअर साहब सांसारिक पुरुष न थे। उनका अधिकांश समय धर्म-ग्रंथों के पढ़ने में लगता था। वह किसी ऐसे काम में शरीक न होना चाहते थे, जो उनकी धार्मिक एकाग्रता में बाधक हो। धूर्तों ने उन्हें मानव-चरित्र का छिद्रान्वेषी बना दिया था। उन्हें किसी पर विश्वास न होता था। पाठशालाओं और अनाथालयों को चंदे देते हुए वह बहुत डरते रहते थे, और बहुधा इस विषय में औचित्य की सीमा से बाहर निकल जाते थे—सुपात्रों को भी उनसे निराश होना पड़ता था। पर संयमशीलता जहाँ इतनी सशंक रहती है, वहाँ लाभ का विश्वास होने पर उचित से अधिक निःशंक भी हो जाती है। मिस्टर जॉन सेवक का भाषण व्यावसायिक ज्ञान से परिपूर्ण था; पर कुँअर साहब पर इससे ज़्यादा प्रभाव उनके व्यक्तित्व का पड़ा। उनकी दृष्टि में जॉन सेवक अब केवल धन के उपासक न थे, वरन् हितैषी मित्र थे। ऐसा आदमी उन्हें मुगालता न दे सकता था। बोले—"जब आप इतनी किफ़ायत से काम करेंगे, तो आपका उद्योग अवश्य सफल होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। आपको शायद अभी मालूम न हो, मैंने यहाँ एक सेवा-समिति खोल रक्खी है। कुछ दिनों से यही ख़ब्त सवार है। उसमें इस समय लगभग एक सौ स्वयंसेवक हैं। मेले-

ठेलों में जनता की रक्षा और सेवा करना उसका काम है। मैं चाहता हूँ कि उसे आर्थिक कठिनाइयों से सदा के लिये मुक्त कर दूँ। हमारे देश की संस्थाएँ बहुधा धनाभाव के कारण अल्पायु होती हैं। मैं इस संस्था को सुदृढ़ बनाना चाहता हूँ, और मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि इससे देश का कुछ कल्याण हो। मैं किसी से इस काम में सहायता नहीं लेना चाहता। उसके निर्विघ्न संचालन के लिये एक स्थायी कोष की व्यवस्था कर देना चाहता हूँ। मैं आपको अपना मित्र और हितचिंतक समझकर पूछता हूँ, क्या आपके कारखाने में हिस्से ले लेने से मेरा उद्देश्य पूरा हो सकता है? आपके अनुमान में कितने रुपए लगाने से एक हज़ार की मासिक आमदनी हो सकती है?"

जॉन सेवक की व्यावसायिक लोलुपता ने अभी उनकी सद्भावनाओं को शिथिल नहीं किया था। कुँअर साहब ने उनकी राय पर फ़ैसला छोड़कर उन्हें दुविधा में डाल दिया। अगर उन्हें पहले से मालूम होता कि यह समस्या सामने आवेगी, तो नफ़े का तख़मीना बताने में ज़्यादा सावधान हो जाते। ग़ैरों से चालें चलना क्षम्य समझा जाता है; लेकिन ऐसे स्वार्थ के भक्त कम मिलेंगे, जो मित्रों से दग़ा करें। सरल प्राणियों के सामने कपट भी लज्जित हो जाता है।

जॉन सेवक ऐसा उत्तर देना चाहते थे, जो स्वार्थ और आत्मा, दोनो ही को स्वीकार हो। बोले—"कंपनी की जो स्थिति है, वह मैंने आपके सामने खोलकर रख दी है। संचालन-विधि भी आपसे बतला चुका हूँ। मैंने सफलता के सभी साधनों पर निगाह रक्खी है। इस पर भी, संभव है, मुझसे भूलें हो गई हों, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य विधाता के हाथों का खिलौना-मात्र है। उसके सारे अनुमान, सारी बुद्धिमत्ता, सारी शुभ-चिंताएँ नैसर्गिक शक्तियों के अधीन हैं। तंबाकू की उपज बढ़ाने के लिये किसानों को

पेशगी रुपए देने ही पड़ेंगे। एक रात का पाला कपनी के लिये घातक हो सकता है। जले हुए सिगरेट का एक टुकड़ा कारख़ाने को ख़ाक में मिला सकता है। हाँ, मेरी परिमित बुद्धि की दौड़ जहाँ तक है, मैंने कोई बात बढ़ाकर नहीं कही है। आकस्मिक बाधाओं को देखते हुए आप लाभ के अनुमान में कुछ और कमी कर सकते हैं।"

कुँअर साहब—"आख़िर कहाँ तक ?"

जॉन सेवक—"२०) सैकड़े समझिए।"

कुँअर साहब—"और पहले वर्ष ?"

जॉन सेवक—"कम-से-कम १५) प्रति सैकड़े।"

कुँअर साहब—"मैं पहले वर्ष १० और उसके बाद १५ प्रति सैकड़े पर संतुष्ट हो जाऊँगा।"

जॉन सेवक—"तो फिर मैं आपसे यही कहूँगा कि आप हिस्से लेने में विलंब न करें। ख़ुदा ने चाहा, तो आपको कभी निराशा न होगी।"

सौ-सौ रुपए के हिस्से थे। कुँअर साहब ने ५०० हिस्से लेने का वादा किया, और बोले—"कल पहली क़िस्त के दस हज़ार रुपए बैंक द्वारा आपके पास भेज दूँगा।"

जॉन सेवक की ऊँची-से-ऊँची उड़ान भी यहाँ तक न पहुँची थी; पर वह इस सफलता पर प्रसन्न न हुए। उनकी आत्मा अब भी उनका तिरस्कार कर रही थी कि "तुमने एक सरल-हृदय सज्जन पुरुष को धोका दिया। तुमने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये नहीं, अपने स्वार्थ के लिये यह प्रयत्न किया है। देश के सेवक बनकर तुम अपनी पाँचो उँगलियाँ घी में रखना चाहते हो। तुम्हारा मनोवांछित उद्देश्य यही है कि नफ़े का बड़ा भाग किसी-न-किसी हीले से आप हज़म करो। तुमने इस लोकोक्ति को प्रमाणित कर दिया कि 'बनिया मारे जान, चोर मारे अनजान'।"

अगर कुँअर साहब के सहयोग से जनता में कंपनी की साख जम जाने का विश्वास न होता, तो मिस्टर जॉन सेवक साफ़ कह देते कि कंपनी इतने हिस्से आपको नहीं दे सकती। एक परोपकारी संस्था के धन को किसी संदिग्ध व्यवसाय में लगाकर उसके अस्तित्व को ख़तरे में डालना स्वार्थपरता के लिये भी कड़ुवा ग्रास था; मगर धन का देवता आत्मा का बलिदान पाए बिना प्रसन्न नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि अब तक वह निजी स्वार्थ के लिये यह स्वाँग भर रहे थे, उनकी नीयत साफ़ नहीं थी, लाभ को भिन्न-भिन्न नामों से अपने ही हाथ में रखना चाहते थे। अब उन्होंने निःस्पृह होकर नेकनीयती का व्यवहार करने का निश्चय किया। बोले—"मैं कंपनी के संस्थापक की हैसियत से इस सहायता के लिये हृदय से आपका अनुगृहीत हूँ। ख़ुदा ने चाहा, तो आपको आज के फ़ैसले पर कभी पछताना न पड़ेगा। अब मैं आपसे एक और प्रार्थना करता हूँ। आपकी कृपा ने मुझे धृष्ट बना दिया है। मैंने कारख़ाने के लिये जो ज़मीन पसंद की है, वह पाँड़ेपुर के आगे पक्की सड़क पर स्थित है। रेल का स्टेशन वहाँ से निकट है, और आस-पास बहुत-से गाँव हैं। रक़बा दस बीघे का है। ज़मीन परती पड़ी हुई है। हाँ, बस्ती के जानवर उसमें चरने आया करते हैं। उसका मालिक एक अंधा फ़क़ीर है। अगर आप उधर कभी हवा खाने गए होंगे, तो आपने उस अंधे को अवश्य देखा होगा।"

कुँअर साहब—"हाँ-हाँ, अभी तो कल ही गया था, वही अंधा है न काला-काला, दुबला-दुबला, जो सवारियों के पीछे दौड़ा करता है?"

जॉन सेवक—"जी हाँ, वही-वही। वह ज़मीन उसी की है; किंतु वह उसे किसी दाम पर नहीं छोड़ना चाहता। मैं उसे पाँच हज़ार तक देता था; पर राज़ी न हुआ। वह कुछ झक्की-सा है। कहता है,

मैं यहाँ धर्मशाला, मंदिर और तालाब बनवाऊँगा। दिन-भर भीख माँगकर तो गुज़र करता है, उस पर इरादे इतने लंबे हैं। कदाचित् मुहल्लेवालों के भय से उसे कोई मामला करने का साहस नहीं होता। मैं एक निजी मामले में सरकार से सहायता लेना उचित नहीं समझता; पर ऐसी दशा में मुझे इसके सिवा दूसरा कोई उपाय भी नहीं सूझता। और, फिर यह बिलकुल निजी बात भी नहीं है। म्युनिसिपैलिटी और सरकार दोनो ही को इस कारख़ाने से हज़ारों रुपए साल की आमदनी होगी, हज़ारों शिक्षित और अशिक्षित मनुष्यों का उपकार होगा। इस पहलू से देखिए, तो यह सार्व-जनिक काम है, और इसमें सरकार से सहायता लेने में मैं औचित्य का उल्लंघन नहीं करता। आप अगर ज़रा तवज्जह करें, तो बड़ी आसानी से काम निकल जाय।"

कुँअर साहब—"मेरा उस फ़क़ीर पर कुछ दबाव नहीं है, और होता भी, तो मैं उससे काम न लेता।"

जॉन सेवक—"आप राजा साहब चतारी ...."

कुँअर साहब—"नहीं, मैं उनसे कुछ नहीं कह सकता। वह मेरे दामाद हैं, और इस विषय में मेरा उनसे कहना नीति-विरुद्ध है। क्या वह आपके हिस्सेदार नहीं हैं?"

जॉन सेवक—"जी नहीं, वह स्वयं अतुल संपत्ति के स्वामी होकर भी धनियों की उपेक्षा करते हैं। उनका विचार है कि कल-कारख़ाने पूँजीवालों का प्रभुत्व बढ़ाकर जनता का अपकार करते हैं। इन्हीं विचारों ने तो उन्हें यहाँ प्रधान बना दिया।"

कुँअर साहब—"यह तो अपना-अपना सिद्धांत है। हम दूध जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और मेरा विचार है कि जनतावाद के प्रेमी उच्च श्रेणी में जितने मिलेंगे, उतने निम्न श्रेणी में न मिल सकेंगे। ख़ैर, आप उनसे मिलकर देखिए तो। क्या कहूँ, शहर के आस-पास मेरी

एक एकड़ ज़मीन भी नहीं है, नहीं तो आपको यह कठिनाई न होती। मेरे योग्य और जो काम हो, उसके लिये हाज़िर हूँ।"

जॉन सेवक—"जी नहीं, मैं आपको और कष्ट नहीं देना चाहता, मैं स्वयं उनसे मिलकर तय कर लूँगा।"

कुँअर साहब—"अभी तो मिस सोफ़िया पूर्ण स्वस्थ होने तक यहीं रहेंगी न? आपको तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है?"

जॉन सेवक इस विषय में सिर्फ़ दो-चार बातें करके यहाँ से बिदा हुए। मिसेज़ सेवक फ़िटन पर पहले ही से आ बैठी थीं। प्रभु सेवक विनय के साथ बाग़ में टहल रहे थे। विनय ने आकर जॉन सेवक से हाथ मिलाया। प्रभु सेवक उनसे कल फिर मिलने का वादा करके पिता के साथ चले। रास्ते में बातें होने लगीं।

जॉन सेवक—"आज एक मुलाक़ात में जितना काम हुआ, उतना महीनों की दौड़-धूप से भी न हुआ था। कुँअर साहब बड़े सज्जन आदमी हैं। ५० हज़ार के हिस्से ले लिए। ऐसे ही दो-चार भले आदमी और मिल जायँ, तो बेड़ा पार है।"

प्रभु सेवक—"इस घर के सभी प्राणी दया और धर्म के पुतले हैं। मैंने विनयसिंह-जैसा काव्य-मर्मज्ञ नहीं देखा। मुझे तो इनसे प्रेम हो गया।"

जॉन सेवक—"कुछ काम की बातचीत भी की?"

प्रभु सेवक—"जी नहीं, आपके नज़दीक जो काम की बातचीत है, उन्हें उसमें ज़रा भी रुचि नहीं। वह सेवा का व्रत ले चुके हैं, और इतनी देर तक अपनी समिति की ही चर्चा करते रहे।"

जॉन सेवक—"क्या तुम्हें आशा है कि तुम्हारा यह परिचय चतारी के राजा साहब पर भी कुछ असर डाल सकता है? विनयसिंह राजा साहब से हमारा कुछ काम निकलवा सकते हैं?"

प्रभु सेवक—"उनसे कहे कौन, मुझमें तो इतनी हिम्मत नहीं है।

उन्हें आप स्वदेशानुरागी संन्यासी समझिए। मुझसे अपनी समिति में आने के लिये उन्होंने बहुत आग्रह किया है।"

जॉन सेवक—"शरीक हो गए न ?"

प्रभु सेवक—"जी नहीं, कह आया हूँ कि सोचकर उत्तर दूँगा। बिना सोचे-समझे इतना कठिन व्रत क्योंकर धारण कर लेता।"

जॉन सेवक—"मगर सोचने-समझने में महीनों न लगा देना। दो-चार दिन में आकर नाम लिखा लेना। तब तुम्हें उनसे कुछ काम की बात करने का अधिकार हो जायगा। (स्त्री से) तुम्हारी रानीजी से कैसी निभी ?"

मिसेज़ सेवक—"मुझे तो उनसे घृणा हो गई। मैंने किसी में इतना घमंड नहीं देखा।"

प्रभु सेवक—"मामी, आप उनके साथ घोर अन्याय कर रही हैं।"

मिसेज़ सेवक—"तुम्हारे लिये देवी होंगी, मेरे लिये तो नहीं हैं।"

जॉन सेवक—"यह तो मैं पहले ही समझ गया था कि तुम्हारी उनसे न पटेगी। काम की बातें न तुम्हें आती हैं, न उन्हें। तुम्हारा काम तो दूसरों में ऐब निकालना है। सोफ़ी को क्यों नहीं लाईं ?"

मिसेज़ सेवक—"वह आए भी तो, या जबरन् घसीट लाती ?"

जॉन सेवक—"आई नहीं, या रानी ने आने नहीं दिया ?"

प्रभु सेवक—"वह तो आने को तैयार थी, किंतु इसी शर्त पर कि मुझ पर कोई धार्मिक अत्याचार न किया जाय।"

जॉन सेवक—"इन्हें यह शर्त क्यों मंज़ूर होने लगी !"

मिसेज़ सेवक—"हाँ, इस शर्त पर मैं उसे नहीं ला सकती। वह मेरे घर रहेगी, तो मेरी बात माननी पड़ेगी।"

जॉन सेवक—"तुम दोनो में एक को भी बुद्धि से सरोकार नहीं। तुम सिड़ी हो, वह ज़िद्दी है। उसे मन-मनाकर जल्द लाना चाहिए।"

प्रभु सेवक—"अगर मामा अपनी बात पर अड़ी रहेंगी, तो शायद वह फिर घर न जाय।"

जॉन सेवक—"आखिर जायगी कहाँ ?"

प्रभु सेवक—"उसे कहीं जाने की ज़रूरत ही नहीं। रानी उस पर जान देती हैं।"

जॉन सेवक—"यह बेल मुँढ़े चढ़ने की नहीं है। दो में से एक को दबना पड़ेगा।"

लोग घर पहुँचे, तो गाड़ी की आहट पाते ही ईश्वर सेवक ने बड़ी स्नेहमयी उत्सुकता से पूछा—"सोफ़ी आ गई न ? आ, तुझे गले लगा लूँ। ईसू तुझे अपने दामन में ले।"

जॉन सेवक—"पापा, वह अभी यहाँ आने योग्य नहीं है। बहुत अशक्त हो गई है। दो-चार दिन बाद आवेगी।"

ईश्वर सेवक—"ग़ज़ब ख़ुदा का ! उसकी यह दशा है, और तुम सब उसे उसके हाल पर छोड़ आए ! क्या तुम लोगों में ज़रा भी मानापमान का विचार नहीं रहा ! बिलकुल ख़ून सफ़ेद हो गया !"

मिसेज़ सेवक—"आप जाकर उसकी ख़ुशामद कीजिएगा, तो आवेगी। मेरे कहने से तो नहीं आई। बच्ची तो नहीं कि गोद में उठा लाती।"

जॉन सेवक—"पापा, वहाँ बहुत आराम से है। राजा और रानी, दोनो ही उसके साथ प्रेम करते हैं। सच पूछिए, तो रानी ही ने उसे नहीं छोड़ा।"

ईश्वर सेवक—"कुँवर साहब से कुछ काम की बातचीत भी हुई ?"

जॉन सेवक—"जी हाँ, मुबारक हो। ५० हज़ार की गोटी हाथ लगी।

ईश्वर सेवक—"शुक्र है, शुक्र है। ईसू मुझ पर अपना साया कर।"

यह कहकर वह फिर आराम-कुर्सी पर बैठ गए।

*

चंचल-प्रकृति बालकों के लिये अंधे विनोद की वस्तु हुआ करते। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-क्रीड़ाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह-अँधेरे घर से निकल पड़ता, और चिराग़ जलने के बाद लौटता। जिस दिन उसे आने में देर होती, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर, राहगीरों के सामने, उसे कोई शंका न होती थी; किंतु बस्ती की गलियों में पग-पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनी रहती थी। कोई उसकी लाठी छीनकर भागता; कोई कहता—"सूरदास, सामने गड्ढा है, बाईं तरफ़ हो जाओ।" सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता। मगर बजरंगी का लड़का घीसू इतना दुष्ट था कि सूरदास को छेड़ने के लिये घड़ी-भर रात रहते ही उठ पड़ता। उसकी लाठी छीनकर भागने में उसे बड़ा आनंद मिलता था।

एक दिन सूर्योदय के पहले सूरदास घर से चले, तो घीसू एक तंग गली में छिपा हुआ खड़ा था। सूरदास को वहाँ पहुँचते ही कुछ शंका हुई। वह खड़ा होकर आहट लेने लगा। घीसू अब हँसी को न रोक सका। झपटकर सूरे का डंडा पकड़ लिया। सूरदास डंडे को मज़बूत पकड़े हुए था। घीसू ने पूरी शक्ति से खींचा। हाथ फिसल गया, अपने ही ज़ोर में गिर पड़ा, सिर में चोट लगी, ख़ून निकल आया। उसने ख़ून देखा, तो चीखता-चिल्लाता घर पहुँचा। बजरंगी ने पूछा, क्यों रोता है रे? क्या हुआ? घीसू ने उसे कुछ जवाब न दिया। लड़के ख़ूब जानते हैं कि किस न्यायशाला में उनकी जीत होगी। आकर मा से बोला—"सूरदास ने मुझे ढकेल दिया।" मा ने सिर की चोट देखी, तो आँखों में ख़ून उतर आया। लड़के

का हाथ पकड़े हुए आकर बजरंगी के सामने खड़ी हो गई, और बोली—"अब इस अंधे की सामत आ गई है। लड़के को ऐसा ढकेला कि लहूलुहान हो गया। उसकी इतनी हिम्मत! रुपए का घमंड उतार दूँगी।"

बजरंगी ने शांत भाव से कहा—"इसी ने कुछ छेड़ा होगा, वह बेचारा तो इससे आप अपनी जान छिपाता फिरता है।"

जमुनी—"इसी ने छेड़ा था, तो भी क्या उसे इतनी बेदर्दी से ढकेलना चाहिए था कि सिर फूट जाय! अंधों को सभी लड़के छेड़ते हैं; पर वे सबसे लठिआँव नहीं करते फिरते।"

इतने में सूरदास भी आकर खड़ा हो गया। मुख पर ग्लानि छाई हुई थी। जमुनी लपककर उसके सामने आई, और बिजली की तरह कड़ककर बोली—"क्यों सूरे, साँझ होते ही रोज लुटिया लेकर दूध के लिये सिर पर सवार हो जाते हो, और अभी घिसुआ ने जरा लाठी पकड़ ली, तो उसे इतनी जोर से धक्का दिया कि सिर फूट गया। जिस पत्तल में खाते हो, उसी में छेद करते हो। क्यों, रुपए का घमंड हो गया है क्या!"

सूरदास—"भगवान जानते हैं, जो मैंने घीसू को पहचाना हो। समझा, कोई लौंडा होगा, लाठी को मजबूत पकड़े रहा। घीसू का हाथ फिसल गया, गिर पड़ा। मुझे मालूम होता कि घीसू है, तो लाठी उसे दे देता। इतने दिन हो गए, लेकिन कोई कह दे कि मैंने किसी लड़के को झूठ-मूठ मारा है। तुम्हारा ही दिया खाता हूँ, तुम्हारे ही लड़के को मारूँगा?"

जमुनी—"नहीं, अब तुम्हें घमंड हुआ है। भीख माँगते हो, फिर भी लाज नहीं आती, सबकी बराबरी करने को मरते हो। आज मैं लहू का घूँट पीकर रह गई; नहीं तो जिन हाथों से तुमने उसे ढकेला है, उसमें लूका लगा देती।"

बजरंगी जमुनी को मना कर रहा था, और लोग भी समझा रहे थे, लेकिन वह किसी की न सुनती थी। सूरदास अपराधियों की भाँति सिर झुकाए यह वाग्बाण सह रहा था। मुँह से एक शब्द भी न निकलता था।

भैरो ताड़ी उतारने जा रहा था, रुक गया, और सूरदास पर दो-चार छींटे उड़ा दिए—"जमाना ही ऐसा है, सब रोजगारों से अच्छा भीख माँगना। अभी चार दिन पहले घर में भूँजी भाँग न थी, अब चार पैसे के आदमी हो गए हैं। पैसे होते हैं, तभी घमंड होता है। नहीं क्या घमंड करेंगे हम और तुम, जिसकी एक रुपया कमाई है, तो दो खर्च है!"

जगधर औरों से तो भीगी बिल्ली बना रहता था, सूरदास को धिक्कारने के लिये वह भी निकल पड़ा। सूरदास पछता रहा था कि मैंने लाठी क्यों न छोड़ दी, कौन कहे कि दूसरी लकड़ी न मिलती। जगधर और भैरो के कटु वाक्य सुन-सुनकर वह और भी दुखी हो रहा था। अपनी दीनता पर रोना आता था। सहसा मिठुआ भी आ पहुँचा। वह भी शरारत का पुतला था, घीसू से भी दो अंगुल बढ़ा हुआ। जगधर को देखते ही यह सरस पद गा-गाकर चिढ़ाने लगा—

लालू का लाल मुँह, जगधर का काला,
जगधर तो हो गया लालू का साला।

भैरो को भी उसने एक स्व-रचित पद सुनाया—

भैरो, भैरो, ताड़ी बेच,
या बीबी की साड़ी बेच।

चिढ़नेवाले चिढ़ते क्यों हैं, इसकी मीमांसा तो मनोविज्ञान के पंडित ही कर सकते हैं। हमने साधारणतया लोगों को प्रेम और भक्ति के भाव ही से चिढ़ते देखा है। कोई राम या कृष्ण के नामों से इसलिये चिढ़ता है कि लोग उसे चिढ़ाने ही के बहाने से ईश्वर के नाम लें। कोई

इसलिये चिढ़ता है कि बाल-वृंद उसे घेरे रहें। कोई बैंगन या मछली से इसलिये चिढ़ता है कि लोग इन अखाद्य वस्तुओं के प्रति घृणा करें। सारांश यह कि चिढ़ना एक दार्शनिक क्रिया है। इसका उद्देश्य केवल सत्‌शिक्षा है। लेकिन भैरो और जगधर में यह भक्तिमयी उदारता कहाँ। वे बाल-विनोद का रस लेना क्या जानें। दोनो झल्ला उठे। जगधर मिठुआ को गालियाँ देने लगा; लेकिन भैरो को गालियाँ देने से संतोष न हुआ। उसने लपककर उसे पकड़ लिया। दो-तीन तमाचे ज़ोर-ज़ोर से मारे, और बड़ी निठुरता से उसके कान पकड़कर खींचने लगा। मिठुआ बिलबिला उठा। सूरदास अब तक दीन भाव से सिर झुकाए खड़ा था। मिठुआ का रोना सुनते ही उसकी त्योरियाँ बदल गईं। चेहरा तमतमा उठा। सिर उठाकर फूटी हुई आँखों से ताकता हुआ बोला—"भैरो, भला चाहते हो, तो उसे छोड़ दो; नहीं तो ठीक न होगा। उसने तुम्हें कौन-सी ऐसी गोली मार दी थी कि उसकी जान लिए लेते हो। क्या समझते हो कि उसके सिर पर कोई है ही नहीं। जब तक मैं जीता हूँ, कोई उसे तिरछी निगाह से नहीं देख सकता। दिलावरी तो जब देखता कि किसी बड़े आदमी से हाथ मिलाते! इस बालक को पीट लिया, तो कौन-सी बड़ी बहादुरी दिखाई!"

भैरो—"मार की इतनी अखर है, तो इसे रोकते क्यों नहीं। हमको चिढ़ाएगा, तो हम पीटेंगे—एक बार नहीं, हजार बार; तुमको जो करना हो, कर लो।"

जगधर—"लड़के को डाटना तो दूर, ऊपर से और सह देते हो। तुम्हारा दुलारा होगा, दूसरे क्यों ...."

सूरदास—"चुप भी रहो, आए वहाँ से न्याय करने। लड़कों की तो यह बान ही होती है; पर कोई उन्हें मार नहीं डालता। तुम्हीं लोगों को अगर किसी दूसरे लड़के ने चिढ़ाया होता, तो मुँह तक न

खोलते। देखता तो हूँ, जिधर से निकलते हो, लड़के तालियाँ बजा-कर चिढ़ाते हैं; पर आँखें बंद किए अपनी राह चले जाते हो। जानते हो न कि जिन लड़कों के मा-बाप हैं, उन्हें मारेंगे, तो वे आँखें निकाल लेंगे। केले के लिये ठीकरा भी तेज होता है।"

भैरो—"दूसरे लड़कों की और उसकी बराबरी है? दरोगाजी की गालियाँ खाते हैं, तो क्या डोमड़ों की गालियाँ भी खाएँ? अभी तो दो ही तमाचे लगाए हैं, फिर चिढ़ाए, तो उठाकर पटक दूँगा, मरे या जिए।"

सूरदास—(मिट्टू का हाथ पकड़कर) "मिठुआ, चिढ़ा तो, देखूँ, यह क्या करते हैं। आज जो कुछ होना होगा, यहीं हो जायगा।"

लेकिन मिठुआ के गालों में अभी तक जलन हो रही थी, मुँह भी सूज गया था, सिसकियाँ बंद न होती थीं। भैरो का रौद्र रूप देखा, तो रहे-सहे होश भी उड़ गए। जब बहुत बढ़ावे देने पर भी उसका मुँह न खुला, तो सूरदास ने झुँझलाकर कहा—"अच्छा, मैं ही चिढ़ाता हूँ, देखूँ, मेरा क्या बना लेते हो!"

यह कहकर उसने लाठी मज़बूत पकड़ ली, और बार-बार उसी पद की रट लगाने लगा, मानो कोई बालक अपना सबक़ याद कर रहा हो

भैरो, भैरो, ताड़ी बेच,
या बीबी की साड़ी बेच।

एक ही साँस में उसने कई बार यही रट लगाई। भैरो कहाँ तो क्रोध से उन्मत्त हो रहा था, कहाँ सूरदास का यह बाल-हठ देखकर हँस पड़ा। और लोग भी हँसने लगे। अब सूरदास को ज्ञात हुआ कि मैं कितना दीन और बेकस हूँ। मेरे क्रोध का यह सम्मान है! मैं सबल होता, तो मेरा क्रोध देखकर ये लोग थर-थर काँपने लगते। नहीं तो खड़े-खड़े हँस रहे हैं, समझते हैं कि हमारा कर ही क्या सकता है। भगवान ने इतना अपंग न बना दिया होता

तो क्यों यह दुर्गत होती। यह सोचकर हठात् उसे रोना आ गया। बहुत जतन करने पर भी आँसू न रुक सके।

बजरंगी ने भैरो और जगधर दोनो को धिक्कारा—"क्या अंधे से हैकड़ी जताते हो! सरम नहीं आती? एक तो लड़के का तमाचों से मुँह लाल कर दिया, उस पर और गरजते हो। वह भी तो लड़का ही है, गरीब का है, तो क्या। जितना लाड़-प्यार उसका होता है, उतना भले घरों के लड़कों का भी नहीं होता। जैसे और सब लड़के चिढ़ाते हैं, वह भी चिढ़ाता है। इसमें इतना बिगड़ने की क्या बात है। (जमुनी की ओर देखकर) यह सब तेरे कारन हुआ। अपने लौंडे को डाटती नहीं, बेचारे अंधे पर गुस्सा उतारने चली है।"

जमुनी सूरदास का रोना देखकर सहम गई थी; जानती थी, दीन की हाय कितनी मोटी होती है। लज्जित होकर बोली—"मैं क्या जानती थी कि जरा-सी बात का इतना बखेड़ा हो जायगा। आ बेटा मिठ्ठू, चल, बछुवा पकड़ ले, तो दूध दुहूँ।"

दुलारे लड़के तिनके की मार भी नहीं सह सकते। मिट्ठू दूध की पुचकार से भी शांत न हुआ, तो जमुनी ने आकर उसके आँसू पोंछे, और गोद में उठाकर घर ले गई। उसे क्रोध जल्द आता था; पर जल्द ही पिघल भी जाती थी।

मिठ्ठू तो उधर गया, भैरो और जगधर भी अपनी-अपनी राह चले; पर सूरदास सड़क की ओर न गया। अपनी झोपड़ी में जाकर अपनी बेकसी पर रोने लगा। अपने अंधेपन पर आज उसे जितना दुख हो रहा था, उतना और कभी न हुआ था। सोचा, मेरी यह दुर्गत इसीलिये न है कि अंधा हूँ, भीख माँगता हूँ। मसक्कत की कमाई खाता होता, तो मैं भी गरदन उठाकर न चलता, मेरा भी आदर-मान न होता; क्यों चिउँटी की भाँति पैरों के नीचे मसला जाता। आज भगवान ने अपंग न बना दिया होता, तो क्या दोनो

आदमी लड़के को मारकर हँसते हुए चले जाते, एक-एक की गरदन मरोड़ देता। बजरंगी से क्यों नहीं कोई बोलता। घिसुआ ने भैरो की ताड़ी का मटका फोड़ दिया था, कई रुपए का नुकसान हुआ; लेकिन भैरो ने चूँ तक न की। जगधर को उसके मारे घर से निकलना मुश्किल है। अभी दस-ही-पाँच दिनों की बात है, उसका खोंचा उलट दिया था। जगधर ने चूँ तक न की। जानते हैं न कि जरा भी गरम हुए कि बजरंगी ने गरदन पकड़ी। न-जाने उस जनम में ऐसे कौन-से अपराध किए थे, जिसकी यह सजा मिल रही है। लेकिन भीख न माँगूँ, तो खाऊँ क्या। और फिर जिंदगी पेट ही पालने के लिये थोड़े ही है। कुछ आगे के लिये भी तो करना है। नहीं, इस जनम में तो अंधा हूँ ही, उस जनम में इससे भी बड़ी दुर्दशा होगी। पितरों का रिन सिर पर सवार है, गयाजी में उनका सराध न किया, तो वे भी क्या समझेंगे कि मेरे बंस में कोई है। मेरे साथ तो कुल का अंत ही है। मैं यह रिन न चुकाऊँगा, तो और कौन लड़का बैठा हुआ है, जो चुका देगा। कौन उद्दम करूँ? किसी बड़े आदमी के घर पंखा खींच सकता हूँ, लेकिन यह काम भी तो साल में चार ही महीने रहता है, बाकी आठ महीने क्या करूँगा। सुनता हूँ, अंधे कुर्सी, मोढ़े, दरी, टाट बुन सकते हैं; पर ये काम किससे सीखूँ? कुछ भी हो, अब भीख न माँगूँगा।

चारो ओर से निराश होकर सूरदास के मन में विचार आया कि इस जमीन को क्यों न बेच दूँ। इसके सिवा अब मुझे और कोई सहारा नहीं है। कहाँ तक बाप-दादों के नाम को रोऊँ। साहब उसे लेने को मुँह फैलाए हुए हैं। दाम भी अच्छा दे रहे हैं। उन्हीं को दे दूँ। चार-पाँच हजार बहुत होते हैं। अपने घर सेठ की तरह बैठा हुआ चैन की बंसी बजाऊँगा। चार आदमी घेरे रहेंगे, मुहल्ले में अपना मान होने लगेगा। ये ही लोग, जो आज मुझ पर रोब

जमा रहे हैं, मेरा मुँह जोहेंगे, मेरी खुसामद करेंगे। यहाँ न होगा, मुहल्ले की गउएँ मारी-मारी फिरेंगी; फिरें, इसको मैं क्या करूँ। जब तक निभ सका, निभाया। अब नहीं निभता, तो क्या करूँ। जिनकी गाएँ चरती हैं, कौन मेरी बात पूछते हैं। आज कोई मेरी पीठ पर खड़ा हो जाता, तो भैरो मुझे रुलाकर यों मूछों पर ताव देता हुआ न चला जाता। जब इतना भी नहीं है, तो मुझे क्या पड़ी है कि दूसरों के लिये मरूँ। जी से जहान है; जब आबरू ही न रही, तो जीने पर धिक्कार है।

मन में यह विचार स्थिर करके सूरदास अपनी झोपड़ी से निकला, और लाठी टेकता हुआ गोदाम की तरफ़ चला। गोदाम के सामने पहुँचा, तो दयागिर से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा—"इधर कहाँ चले सूरदास? तुम्हारी जगह तो पीछे छूट गई।"

सूरदास—"जरा इन्हीं मियाँ साहब से कुछ बातचीत करनी है।"

दयागिर—"क्या इसी जमीन के बारे में?"

सूरदास—"हाँ, मेरा विचार है कि यह जमीन बेचकर कहीं तीर्थयात्रा करने चला जाऊँ। इस मुहल्ले में अब निबाह नहीं है।"

दयागिर—"सुना, आज भैरो तुम्हें मारने की धमकी दे रहा था।"

सूरदास—"मैं तरह न दे जाता, तो उसने मार ही दिया था। सारा मुहल्ला बेठा हँसता रहा, किसी की जबान न खुली कि अंधे-अपाहिज आदमी पर यह कुन्याव क्यों करते हो। तो जब मेरा कोई हितू नहीं है, तो मैं क्यों दूसरों के लिये मरूँ।"

दयागिर—"नहीं सूरे, मैं तुम्हें जमीन बेचने की सलाह न दूँगा। धर्म का फल इस जीवन में नहीं मिलता। हमें आँखें बंद करके नारायन पर भरोसा रखते हुए धर्म-मार्ग पर चलते रहना चाहिए। सच पूछो, तो आज भगवान ने तुम्हारे धर्म की परीक्षा की है। संकट

ही में धीरज और धर्म की परीक्षा होती है। देखो, गुसाईं जी ने कहा है—

'आपति-काल परखिए चारी, धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।'
जमीन पड़ी है, पड़ी रहने दो। गउएँ चरती हैं, यह कितना बड़ा पुण्य है। कौन जानता है, कभी कोई दानी, धर्मात्मा आदमी मिल जाय, धर्मशाला, कुआँ, मंदिर बनवा दे, तो मरने पर भी तुम्हारा नाम अमर हो जायगा। रही तीर्थ-यात्रा, उसके लिये रुपए की जरूरत नहीं। साधु-संत जन्म-भर यही किया करते हैं; पर घर से रुपयों की थैली बाँधकर नहीं चलते। मैं भी शिवरात्रि के बाद बद्रीनारायण जानेवाला हूँ। हमारा-तुम्हारा साथ हो जायगा। रास्ते में तुम्हारी एक कौड़ी न खर्च होगी, इसका मेरा जिम्मा है।"

सूरदास—"नहीं बाबा, अब यह कुन्याव नहीं सहा जाता। भाग्य में धर्म करना नहीं लिखा हुआ है, तो कैसे धर्म करूँगा। जरा इन लोगों को भी तो मालूम हो जाय कि सूरे भी कुछ है।"

दयागिर—"सूरे, आँखें बंद होने पर भी कुछ नहीं सूझता। यह अहंकार है, इसे मिटाओ। नहीं तो यह जन्म भी नष्ट हो जायगा। यही अहंकार सब पापों का मूल है—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया, जेहि वश कीन्हे जीव निकाया।'
न यहाँ तुम हो, न तुम्हारी भूमि है; न तुम्हारा कोई मित्र है, न शत्रु है; जहाँ देखो, भगवान-ही-भगवान हैं—

'ज्ञान, मान जहँ एकौ नाहीं, देखत ब्रह्म-रूप सब माहीं।'
इन झगड़ों में न पड़ो।"

सूरदास—"बाबाजी, जब तक भगवान की दया न होगी, भक्ति और बैराग, किसी पर मन न जमेगा। इस घड़ी मेरा हृदय रो रहा है, उसमें उपदेस और ज्ञान की बातें नहीं पहुँच सकतीं। गीली लकड़ी खराद पर नहीं चढ़ती।"

दयागिर—"पछताओगे और क्या।"

यह कहकर दयागिर अपनी राह चले गए। वह नित्य गंगा-स्नान को जाया करते थे।

उनके जाने के बाद सूरदास ने मन में कहा—यह भी मुझी को ज्ञान का उपदेश करते हैं। दीनों पर उपदेश का भी दाँव चलता है, मोटों को कोई उपदेश नहीं करता। वहाँ तो जाकर ठकुरसुहाती करने लगते हैं। मुझे ज्ञान सिखाने चले हैं। दोनों जून भोजन मिल जाता है न। एक दिन न मिले, तो सारा ज्ञान निकल जाय।

वेग से चलती हुई गाड़ी रुकावटों को फाँद जाती है। सूरदास समझाने से और भी ज़िद पकड़ गया। सीधे गोदाम के बरामदे में जाकर रुका। इस समय वहाँ बहुत-से चमार जमा थे। खालों की ख़रीद हो रही थी। चौधरी ने कहा—"आओ सूरदास, कैसे चले?"

सूरदास इतने आदमियों के सामने अपनी इच्छा न प्रकट कर सका। संकोच ने उसकी ज़बान बंद कर दी। बोला—"कुछ नहीं, ऐसे ही चला आया।"

ताहिर—"साहब इनसे पीछेवाली ज़मीन माँगते हैं, मुँह-माँगे दाम देने पर तैयार हैं; पर यह किसी तरह राज़ी नहीं होते। उन्होंने ख़ुद समझाया, मैंने कितनी मिन्नत की; लेकिन इनके दिल में कोई बात जमती ही नहीं।"

लज्जा अत्यंत निर्लज्ज होती है। अंतिम काल में भी, जब हम समझते हैं कि उसकी उलटी साँसें चल रही हैं, वह सहसा चैतन्य हो जाती है, और पहले से भी अधिक कर्तव्यशील हो जाती है। हम दुरवस्था में पड़कर किसी मित्र से सहायता की याचना करने को घर से निकलते हैं, लेकिन मित्र से आँखें चार होते ही लज्जा हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है, और हम इधर-उधर की

बातें करके लौट आते हैं। यहाँ तक कि हम एक शब्द भी ऐसा मुँह से नहीं निकलने देते, जिसका भाव हमारी अंतर्वेदना का द्योतक हो।

ताहिरअली की बातें सुनते ही सूरदास की लज्जा ठट्ठा मारती हुई बाहर निकल आई। बोला—"मियाँ साहब, वह जमीन तो बाप-दादों की निसानी है, भला मैं उसे बय या पट्टा कैसे कर सकता हूँ। मैंने उसे धरम-काज के लिये संकल्प कर दिया है।"

ताहिर—"धरम-काज बिना रुपए के कैसे होगा। जब रुपए मिलेंगे, तभी तो तीरथ करोगे, साधु-संतों की सेवा करोगे, मंदिर-कुआँ बनवाओगे।"

चौधरी—"सूरे, इस बखत अच्छे दाम मिलेंगे। हमारी सलाह तो यही है कि दे दो, तुम्हारा कोई उपकार तो उससे होता नहीं।"

सूरदास—"मुहल्ले-भर की गउएँ चरती हैं, क्या इससे पुन्न नहीं होता! गऊ की सेवा से बढ़कर और कौन पुन्न का काम है?"

ताहिर—"अपना पेट पालने के लिये तो भीख माँगते फिरते हो, चले हो दूसरों के साथ पुन्न करने। जिनकी गाएँ चरती हैं, वे तो तुम्हारी बात भी नहीं पूछते, एहसान मानना तो दूर रहा। इसी धरम के पीछे तुम्हारी यह दशा हो रही है, नहीं तो ठोकरें न खाते फिरते।"

ताहिरअली ख़ुद बड़े दीनदार आदमी थे; पर अन्य धर्मों की अवहेलना करने में उन्हें संकोच न होता था। वास्तव में वह इस्लाम के सिवा और किसी धर्म को धर्म ही नहीं समझते थे।

सूरदास ने उत्तेजित होकर कहा—"मियाँ साहब, धरम एहसान के लिये नहीं किया जाता। नेकी करके दरिया में डाल देना चाहिए।"

ताहिर—"पछताओगे और क्या। साहब से जो कुछ कहोगे, वही करेंगे। तुम्हारे लिये घर बनवा देंगे, माहवार गुज़ारा देंगे,

मिठुआ को किसी मदरसे में पढ़ने को भेज देंगे, उसे नौकर रखा देंगे, तुम्हारी आँखों की दवा करा देंगे। मुमकिन है, सूझने लगे। आदमी बन जाओगे। नहीं तो धक्के खाते रहोगे।"

सूरदास पर और किसी प्रलोभन का असर तो न हुआ; हाँ, दृष्टि-लाभ की संभावना ने ज़रा नरम कर दिया। बोला—"क्या जनम के अंधों की दवा भी हो सकती है ?"

ताहिर—"तुम जनम के अंधे हो क्या ? तब तो मजबूरी है। लेकिन वह तुम्हारे आराम के इतने सामान जमा कर देंगे कि तुम्हें आँखों की ज़रूरत ही न रहेगी।"

सूरदास—"साहब, बड़ी नामूसी होगी। लोग चारो ओर से धिक्कारने लगेंगे।"

चौधरी—"तुम्हारी जायदाद है, बय करो, चाहे पट्टा लिखो, किसी दूसरे को दख़ल देने का क्या मजाज़ है !"

सूरदास—"बाप-दादों का नाम तो नहीं डुबाया जाता।"

मूर्खों के पास युक्तियाँ नहीं होतीं, युक्तियों का उत्तर वे हठ से देते हैं। युक्ति क़ायल हो सकती है, नरम हो सकती है, भ्रांत हो सकती है ; हठ को कौन क़ायल करेगा ?

सूरदास की ज़िद से ताहिरअली को क्रोध आ गया। बोले—"तुम्हारी तक़दीर में भीख माँगना लिखा है, तो कोई क्या कर सकता है। इन बड़े आदमियों से अभी पाला नहीं पड़ा है। अभी तुम्हारी ख़ुशामद कर रहे हैं, मुआवज़ा देने पर तैयार हैं ; लेकिन तुम्हारा मिज़ाज नहीं मिलता, और यही जब क़ानूनी दाँव-पेंच खेलकर ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लेंगे, दो-चार सौ रुपए बरायनाम मुआवज़ा दे देंगे, तो सीधे हो जाओगे। मुहल्लेवालों पर भूले बैठे हो। पर देख लेना, जो कोई पास भी फटके। साहब यह ज़मीन लेंगे ज़रूर, चाहे ख़ुशी से दो चाहे रोकर।"

सूरदास ने गर्व से उत्तर दिया—"खाँ साहब, अगर जमीन जायगी, तो इसके साथ मेरी जान भी जायगी।"

यह कहकर उसने लकड़ी सँभाली, और अपने अड्डे पर आ बैठा।

उधर दयागिर ने जाकर नायकराम से यह समाचार कहा। बजरंगी भी बैठा था। यह खबर सुनते ही दोनो के होश उड़ गए। सूरदास के बल पर दोनो उछलते रहे, उस दिन ताहिरअली से कैसी बातें कीं, और आज सूरदास ही ने धोका दिया। बजरंगी ने चिंतित होकर कहा—"अब क्या करना होगा पंडाजी, बताओ?"

नायकराम—"करना क्या होगा, जैसा किया है, वैसा भोगना होगा। जाकर अपनी घरवाली से पूछो। उसी ने आज आग लगाई थी। जानते तो हो कि सूरे मिठुआ पर जान देता है, फिर क्यों भैरो की मरम्मत नहीं की। मैं होता, तो कभी भैरो को दो-चार खरी-खोटी सुनाए बिना न जाने देता, और नहीं तो दिखावे के लिये सही। उस बेचारे को भी मालूम हो जाता कि मेरी पीठ पर है कोई। आज उसे बड़ा रंज हुआ है। नहीं तो जमीन बेचने का उसको कभी ध्यान ही न आया था।"

बजरंगी—"अरे, तो अब कोई उपाय निकालोगे, या बैठकर पिछली बातों के नाम को रोएँ!"

नायकराम—"उपाय यही है कि आज सूरे आए, तो चलकर उसके पैरों पर गिरो, उसे दिलासा दो, जैसे राजी हो, वैसे राजी करो, दादा-भैया करो, मान जाय तो अच्छा, नहीं तो साहब से लड़ने के लिये तैयार हो जाओ, उनका कड़ता न होने दो, जो कोई जमीन के पास आए, मारकर भगा दो। मैंने तो यही सोच रखा है। आज सूरे को अपने हाथ से बना के दूधिया पिलाऊँगा, और मिठुआ को भर पेट मिठाइयाँ खिलाऊँगा। जब न मानेगा, तो देखी जायगी।"

बजरंगी—"जरा मियाँ साहब के पास क्यों नहीं चले चलते?

सूरदास ने उनसे न-जाने क्या-क्या बातें की हों। कहीं लिखा-पढ़ी कराने को कह आया हो, तो फिर चाहे कितनी ही आरज़ू-बिनती करोगे, कभी अपनी बात न पलटेगा।"

नायकराम—"मैं उस मुंसी के द्वार पर न जाऊँगा। उसका मिजाज और भी आसमान पर चढ़ जायगा।"

बजरंगी—"नहीं पंडाजी, मेरी खातिर से जरा चले चलो।"

नायकराम आख़िर राज़ी हुए। दोनो आदमी ताहिरअली के पास पहुँचे। वहाँ इस वक़्त सन्नाटा था। खरीद का काम हो चुका था। चमार चले गए थे। ताहिरअली अकेले बैठे हुए हिसाब-किताब लिख रहे थे। मीज़ान में कुछ फ़र्क़ पड़ता था। बार-बार जोड़ते थे; पर भूल पर निगाह न पहुँचती थी। सहसा नायकराम ने कहा—"कहिए मुंसीजी, आज सूरे से क्या बातचीत हुई?"

ताहिर—"अहा, आइए पंडाजी, मुआफ़ कीजिएगा, मैं ज़रा मीज़ान लगाने में मसरूफ़ था, इस मोढ़े पर बैठिए। सूरे से कोई बात तय न होगी। उसकी तो शामतें आई हैं। आज तो धमकी देकर गया है कि ज़मीन के साथ मेरी जान भी जायगी। ग़रीब आदमी है, मुझे उस पर तरस आता है। आख़िर यही होगा कि साहब किसी क़ानून की रू से ज़मीन पर क़ाबिज़ हो जायँगे। कुछ मुआवज़ा मिला तो मिला, नहीं तो उसकी भी उम्मीद नहीं।"

नायकराम—"जब सूरे राजी नहीं है, तो साहब क्या खाके यह जमीन ले लेंगे! देख बजरंगी, हुई न वही बात, सूरे ऐसा कच्चा आदमी नहीं है।"

ताहिर—"साहब को अभी आप जानते नहीं हैं।"

नायकराम—"मैं साहब और साहब के बाप, दोनो को अच्छी तरह जानता हूँ। हाकिमों की खुसामद की बदौलत आज बड़े आदमी बने फिरते हैं।"

ताहिर—"ख़ुशामद ही का तो आजकल ज़माना है। वह अब इस ज़मीन को लिए बग़ैर न मानेंगे।"

नायकराम—"तो इधर भी यही तय है कि जमीन पर किसी का कब्जा न होने देंगे, चाहे जान रहे या जाय। इसके लिये मर मिटेंगे। हमारे हजारों जात्री आते हैं। इसी खेत में सबको टिका देता हूँ। जमीन निकल गई, तो क्या जात्रियों को अपने सिर पर ठहराऊँगा? आप साहब से कह दीजिएगा, यहाँ उनकी दाल न गलेगी। यहाँ भी कुछ दम रखते हैं। बारहो मास खुले-खजाने जुआ खेलते हैं। एक-एक दिन में हजारों के वारे-न्यारे हो जाते हैं। थानेदार से लेकर सुपरींटेंट तक जानते हैं; पर मजाल क्या कि कोई दौड़ लेकर आए। खून तक छिपा डाले हैं।"

ताहिर—"तो आप ये सब बातें मुझसे क्यों कहते हैं, क्या मैं जानता नहीं हूँ? आपने सैयद रज़ाअली थानेदार का नाम तो सुना ही होगा, मैं उन्हीं का लड़का हूँ। यहाँ कौन पंडा है, जिसे मैं नहीं जानता।"

नायकराम—"लीजिए, घर ही बैद, तो मरिए क्यों। फिर तो आप अपने घर ही के आदमी हैं। दरोगाजी की तरह भला क्या कोई अफसर होगा। कहते थे, 'बेटा, जो चाहे करो, लेकिन मेरे पंजे में न आना।' मेरे द्वार पर फड़ जमती थी, वह कुर्सी पर बैठे देखा करते थे। बिलकुल घराँव हो गया था। कोई बात बनी-बिगड़ी, जाके सारी कथा सुना देता था। पीठ पर हाथ फेरकर कहते—'बस जाओ, अब हम देख लेंगे।' ऐसे आदमी अब कहाँ। सतजुगी लोग थे। आप तो अपने भाई ही ठहरे, साहब को धता क्यों नहीं बताते? आपको भगवान ने विद्या-बुद्धि दी है, बीसों बहाने निकाल सकते हैं। बरसात में पानी जमता है, दीमक बहुत है, लोनी लगेगी, ऐसे ही और कितने बहाने हैं।"

ताहिर—"पंडाजी, जब आपसे भाईचारा हो गया, तो क्या परदा है, साहब पक्के सिरे का घाघ है। हाकिमों से उसका बड़ा मेल-जोल है। मुफ़्त में ज़मीन ले लेगा। सूरे को तो चाहे सौ-दो सौ मिल भी रहें, मेरा इनाम-इकराम ग़ायब हो जायगा। आप सूरे से मुआमला तय करा दीजिए, तो उसका भी फ़ायदा हो, मेरा भी फ़ायदा हो, और आपका भी फ़ायदा हो।"

नायकराम—"आपको वहाँ से जो इनाम-एकराम मिलनेवाला हो, वह हमीं लोगों से ले लीजिए। इसी बहाने कुछ आपकी खिदमत करेंगे। मैं तो दरोगाजी को जैसा समझता था, वैसा ही आपको समझता हूँ।"

ताहिर—"मुआज़अल्लाह, पंडाजी, ऐसी बात न कहिए। मैं मालिक की निगाह बचाकर एक कौड़ी लेना भी हराम समझता हूँ। वह अपनी ख़ुशी से जो कुछ दे देंगे, हाथ फैलाकर ले लूँगा; पर उनसे छिपाकर नहीं। ख़ुदा उस रास्ते से बचाए। वालिद ने इतना कमाया, पर मरते वक़्त घर में एक कौड़ी कफ़न को भी न थी।"

नायकराम—"अरे यार, मैं तुम्हें रुसवत थोड़े ही देने कहता हूँ। अब हमारा-आपका भाईचारा हो गया, तो हमारा काम आपसे निकलेगा, आपका काम हमसे। यह कोई रुसवत नहीं।"

ताहिर—"नहीं पंडाजी, ख़ुदा मेरी नीयत को पाक रक्खे, मुझसे नमकहरामी न होगी। मैं जिस हाल में हूँ, उसी में ख़ुश हूँ। जब उसके करम की निगाह होगी, तो मेरी भलाई की कोई सूरत निकल ही आएगी।"

नायकराम—"सुनते हो बजरंगी दरोगाजी की बातें? चलो, चुपके से घर बैठो, जो कुछ आगे आएगी, देखी जायगी। अब तो साहब ही से निबटना है।"

बजरंगी के विचार में नायकराम ने उतनी मिन्नत-समाजत न की थी, जितनी करनी चाहिए थी। आए थे अपना काम निकालने

कि हेकड़ी दिखाने। दीनता से जो काम निकल जाता है, वह डींग मारने से नहीं निकलता। नायकराम ने तो लाठी कंधे पर रक्खी, और चले। बजरंगी ने कहा—"मैं जरा गोरुओं को देखने जाता हूँ, उधर से होता हुआ आऊँगा।" यों बड़ा अक्खड़ आदमी था, नाक पर मक्खी न बैठने देता। सारा मुहल्ला उसके क्रोध से काँपता था, लेकिन क़ानूनी काररवाइयों से डरता था। पुलिस और अदालत के नाम ही से उसके प्राण सूख जाते थे। नायकराम को नित्य ही अदालत से काम रहता था, वह इस विषय में अभ्यस्त थे। बजरंगी को अपनी ज़िंदगी में कभी गवाही देने की भी नौबत न आई थी। नायकराम के चले आने के बाद ताहिरअली भी घर चले गए; पर बजरंगी वहीं आस-पास टहलता रहा कि वह बाहर निकलें, तो अपना दुखड़ा सुनाऊँ।

ताहिरअली के पिता पुलिस-विभाग में कांस्टेबिल से थानेदारी के पद तक पहुँचे थे। मरते समय कोई जायदाद तो न छोड़ी, यहाँ तक कि उनकी अंतिम क्रिया क़र्ज़ से की गई; लेकिन ताहिर-अली के सिर पर दो विधवाओं और उनकी संतानों का भार छोड़ गए। उन्होंने तीन शादियाँ की थीं। पहली स्त्री से ताहिरअली थे, दूसरी से माहिरअली और ज़ाहिरअली, और तीसरी से जाबिरअली। ताहिरअली धैर्यशील और विवेकी मनुष्य थे। पिता का देहांत होने पर साल-भर तक तो रोज़गार की तलाश में मारे-मारे फिरे। फिर कहीं मवेशीख़ाने की मुहर्रिरी मिल गई, कहीं किसी दवा बेचने-वाले के एजेंट हो गए, कहीं चुंगी-घर के मुंशी का पद मिल गया। इधर कुछ समय से मिस्टर जॉन सेवक के यहाँ स्थायी रूप से नौकर हो गए थे। उनके आचार-विचार अपने पिता से बिलकुल निराले थे। रोज़ा-नमाज़ के पाबंद और नीयत के साफ़ थे। हराम की कमाई से कोसों भागते थे। उनकी मा तो मर चुकी थी; पर दोनो

विमाताएँ जीवित थीं। विवाह भी हो चुका था; स्त्री के अतिरिक्त एक लड़का था—साबिरअली, और एक लड़की—नसीमा। इतना बड़ा कुटुंब था, और ३०) मासिक आय! इस महँगी के समय में, जब कि इससे पचगुनी आमदनी में सुचारु रूप से निर्वाह नहीं होता, उन्हें बहुत कष्ट झेलने पड़ते थे; पर नीयत खोटी न होती थी। ईश्वर-भीरुता उनके चरित्र का प्रधान गुण थी। घर में पहुँचे, तो माहिरअली बैठा पढ़ रहा था, ज़ाहिर और जाबिर मिठाई के लिये रो रहे थे, और साबिर आँगन में उछल-उछल कर बाजरे की रोटियाँ खा रहा था। ताहिरअली तख़्त पर बैठ गए, और दोनो छोटे भाइयों को गोद में उठाकर चुप कराने लगे। उनकी बड़ी विमाता ने, जिसका नाम ज़ैनब था, द्वार पर खड़ी होकर नायकराम और बजरंगी की बातें सुनी थीं। बजरंगी दस ही पाँच क़दम चला था कि माहिरअली ने पुकारा—"सुनोजी, ओ आदमी! ज़रा यहाँ आना, तुम्हें अम्मा बुला रही हैं।"

बजरंगी लौट पड़ा, कुछ आस बँधी। आकर फिर बरामदे में खड़ा हो गया। ज़ैनब टाट के परदे की आड़ में खड़ी थीं, पूछा—"क्या बात थी जी?"

बजरंगी—"वही जमीन की बातचीत थी। साहब इसे लेने कहते हैं। हमारा गुजर-बसर इसी जमीन से होता है। मुंसीजी से कर रहा हूँ, किसी तरह इस झगड़े को मिटा दीजिए। नजर-नियाज देने को भी तैयार हूँ, मुदा मुंसीजी सुनते ही नहीं।"

ज़ैनब—"सुनेंगे क्यों नहीं, सुनेंगे न, तो ग़रीबों की हाय किस पर पड़ेगी। तुम भी तो गँवार आदमी हो, उनसे क्या कहने गए। ऐसी बातें मरदों से कहने को थोड़े ही होती हैं। हमसे कहते, हम तय करा देते।"

जाबिर की मा का नाम था रक़िया। वह भी आकर खड़ी हो

गई। दोनो महिलाएँ साए की तरह साथ-साथ रहती थीं। दोनो के भाव एक, दिल एक, विचार एक, सौतिन का जलापा नाम को न था। बहनों का-सा प्रेम था। बोलीं—"और क्या, भला ऐसी बातें मरदों से की जाती हैं।"

बजरंगी—"माताजी, मैं गँवार आदमी इसका हाल क्या जानूँ। अब आप ही तय करा दीजिए। गरीब आदमी हूँ, बाल-बच्चे जिएँगे।"

ज़ैनब—"सच-सच कहना, यह मुआमला दब जाय, तो कहाँ तक दोगे?"

बजरंगी—"बेगम साहब, ४०) तक देने को तैयार हूँ।"

ज़ैनब—"तुम भी ग़ज़ब करते हो। ४०) ही में इतना बड़ा काम निकालना चाहते हो?"

रक़िया—(धीरे से) "बहन, कहीं बिदक न जाय।"

बजरंगी—"क्या करूँ, बेगम साहब, गरीब आदमी हूँ। लड़कों को दूध-दही, जो कुछ हुक्म होगा, खिलाता रहूँगा; लेकिन नगद तो इससे ज्यादा मेरा किया न होगा।"

रक़िया—"अच्छा, तो रुपयों का इंतज़ाम करो, ख़ुदा ने चाहा, तो सब तय हो जायगा।"

ज़ैनब—(धीरे से) "रक़िया, तुम्हारी जल्दबाज़ी से मैं आजिज़ हूँ।"

बजरंगी—"मामी, यह काम हो गया, तो सारा मुहल्ला आपका जस गाएगा।"

ज़ैनब—"मगर तुम तो ४०) से आगे बढ़ने का नाम ही नहीं लेते। इतने तो साहब ही दे देंगे, फिर गुनाह बेलज़्ज़त क्यों किया जाय!"

बजरंगी—"मामी, आपसे बाहर थोड़े ही हूँ। दस-पाँच रुपए और जुटा दूँगा।"

ज़ैनब—"तो कब तक रुपए आ जायँगे?"

बजरंगी—"बस, दो दिन की मोहलत मिल जाय। तब तक मुंसीजी से कह दीजिए, साहब से कहें-सुनें।"

ज़ैनब—"वाह महतो, तुम तो बड़े होशियार निकले। सेंत ही में काम निकालना चाहते हो। पहले रुपए लाओ, फिर तुम्हारा काम न हो, तो हमारा ज़िम्मा।"

बजरंगी दूसरे दिन आने का वादा करके ख़ुश-ख़ुश चला गया, तो ज़ैनब ने रक़िया से कहा—"तुम बेसब्र हो जाती हो। अभी चमारों से दो पैसे फ़ी खाल लेने पर तैयार हो गईं। मैं दो आने लेती, और वे ख़ुशी से देते। यही अहीर पूरे सौ गिनकर जाता। बेसब्री से ग़रज़मंद चौकन्ना हो जाता है। समझता है, शायद हमें बेवक़ूफ़ बना रही हैं। जितनी ही देर लगाओ, जितनी ही बेरुख़ी से काम लो, उतना ही एतबार बढ़ता है।"

रक़िया—"क्या करूँ बहन, मैं डरती हूँ कि कहीं बहुत सख़्ती से निशाना ख़ता न कर जाय।"

ज़ैनब—"वह अहीर रुपए ज़रूर लाएगा। ताहिर को आज ही से भरना शुरू कर दो। बस, अज़ाब का ख़ौफ़ दिलाना चाहिए। उन्हें हत्थे चढ़ाने का यही ढंग है।"

रक़िया—"और कहीं साहब न मानें, तो?"

ज़ैनब—"तो कौन हमारे ऊपर कोई नालिश करने जाता है।"

ताहिरअली खाना खाकर लेटे थे कि ज़ैनब ने जाकर कहा—"साहब दूसरों की ज़मीन क्यों लिए लेते हैं? बेचारे रोते फिरते हैं।"

ताहिर—"मुफ़्त थोड़े ही लेना चाहते हैं। उसका माक़ूल मुआवज़ा देने पर तैयार हैं।"

ज़ैनब—"यह तो ग़रीबों पर ज़ुल्म है।"

रक़िया—"ज़ुल्म ही नहीं है, अज़ाब है। भैया, तुम साहब से साफ़-साफ़ कह दो, मुझे इस अज़ाब में न डालिए। ख़ुदा ने मेरे

आगे भी बाल-बच्चे लिए हैं; न-जाने कैसी पड़े, कैसी न पड़े; मैं यह अज़ाब सिर पर न लूँगा।"

ज़ैनब—"गँवार तो हैं ही, तुम्हारे ही सिर हो जाएँ। तुम्हें साफ़ कह देना चाहिए कि मैं मुहल्लेवालों से दुश्मनी मोल न लूँगा, जान-जोखिम की बात है।"

रक़िया—"जान-जोखिम तो है ही, ये गँवार किसी के नहीं होते।"

ताहिर—"क्या आपने भी कुछ अफ़वाह सुनी है?"

रक़िया—"हाँ, ये सब चमार आपस में बातें करते जा रहे थे कि साहब ने ज़मीन ली, तो ख़ून की नदी बह जायगी। मैंने तो जब से सुना है, होश उड़े हुए हैं।"

ज़ैनब—"होश उड़ने की बात ही है।"

ताहिर—"मुझे सब नाहक़ बदनाम कर रहे हैं। मैं लेने में न देने में। साहब ने उस अंधे से ज़मीन की निस्बत बातचीत करने का हुक्म दिया था। मैंने हुक्म की तामील की, जो मेरा फ़र्ज़ था; लेकिन ये अहमक़ यही समझ रहे हैं कि मैंने ही साहब को इस ज़मीन की ख़रीदारी पर आमादा किया है, हालाँकि ख़ुदा जानता है, मैंने कभी उनसे इसका ज़िक्र ही नहीं किया।"

ज़ैनब—"मुझे बदनामी का ख़ौफ़ तो नहीं है; हाँ, ख़ुदा के क़हर से डरती हूँ। बेकसों की आह क्यों सिर पर लो।"

ताहिर—"मेरे ऊपर क्यों अज़ाब पड़ने लगा?"

ज़ैनब—"और किसके ऊपर पड़ेगा बेटा? यहाँ तो तुम्हीं हो, साहब तो नहीं बैठे हैं। वह तो भुस में आग लगाकर दूर से तमाशा देखेंगे, आई-गई तो तुम्हारे सिर जायगी। इस पर क़ब्ज़ा तुम्हें करना पड़ेगा। मुक़दमे चलेंगे, तो पैरवी तुम्हें करनी पड़ेगी। ना भैया, मैं इस आग में नहीं कूदना चाहती।"

रक़िया--"मेरे मैके में एक कारिंदे ने किसी काश्तकार की ज़मीन निकाल ली थी। दूसरे ही दिन जवान बेटा उठ गया। किया उसने ज़मींदार ही के हुक्म से, मगर बला आई उस ग़रीब के सिर। दौलतवालों पर अज़ाब भी नहीं पड़ता। उसका वार भी ग़रीबों ही पर पड़ता है। हमारे बच्चे रोज़ ही नज़र और आसेब की चपेट में आते रहते हैं; पर आज तक कभी नहीं सुना कि किसी अँगरेज़ के बच्चे को नज़र लगी हो। उन पर बलैयात का असर ही नहीं होता।"

यह पते की बात थी। ताहिरअली को भी इसका तजुर्बा था। उनके घर के सभी बच्चे गंडों और तावीज़ों से मढ़े हुए थे, उस पर भी आए-दिन झाड़-फूँक और राई-नोन की ज़रूरत पड़ा ही करती थी।

धर्म का मुख्य स्तंभ भय है। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिए, फिर तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, रोज़ा-नमाज़, किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें ख़ाली नज़र आएँगी, और मंदिर वीरान!

ताहिरअली को भय ने परास्त कर दिया। स्वामिभक्ति और कर्तव्य-पालन का भाव ईश्वरीय कोप का प्रतिकार न कर सका।

चतारी के राजा महेंद्रकुमारसिंह यौवनावस्था ही में अपनी कार्य-दक्षता और वंश-प्रतिष्ठा के कारण म्युनिसिपैलिटी के प्रधान निर्वाचित हो गए थे। विचारशीलता उनके चरित्र का दिव्य गुण था। रईसों की विलास-लोलुपता और सम्मान-प्रेम का उनके स्वभाव में लेश भी न था। बहुत ही सादे वस्त्र पहनते, ठाट-बाट से घृणा थी, और व्यसन तो उन्हें छू तक न गया था। घुड़दौड़, सिनेमा, थिएटर, राग-रंग, सैर और शिकार, शतरंज या ताशबाज़ी से उन्हें कोई प्रयोजन न था। हाँ, अगर कुछ प्रेम था, तो उद्यान-सेवा से। वह नित्य घंटे-दो घंटे अपनी वाटिका में काम किया करते थे। बस, शेष समय नगर के निरीक्षण और नगर-संस्था के संचालन में व्यतीत करते थे। राज्याधिकारियों से वह बिला ज़रूरत बहुत कम मिलते थे। उनके प्रधानत्व में शहर के केवल उन्हीं भागों को सबसे अधिक महत्त्व न दिया जाता था, जहाँ हाकिमों के बँगले थे; नगर की अँधेरी गलियों और दुर्गंधमय परनालों की सफ़ाई सुविस्तृत सड़कों और सुरम्य विनोद-स्थानों की सफ़ाई से कम आवश्यक न समझी जाती थी। इसी कारण हुक्काम उनसे खिंचे रहते थे, उन्हें दंभी और अभिमानी समझते थे। किंतु नगर के छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी उनसे अभिमान या अविनय की शिकायत न थी। हर समय हरएक प्राणी से प्रसन्न-मुख मिलते थे। नियमों का उल्लंघन करने के लिये उन्हें जनता पर जुर्माना करने या अभियोग चलाने की बहुत कम ज़रूरत पड़ती थी। उनका प्रभाव और सद्भाव कठोर नीति को दबाए रखता था। वह अत्यंत मित-भाषी थे। वृद्धावस्था में मौन विचार-प्रौढ़ता का द्योतक होता है, और

युवावस्था में विचार-दारिद्र्य का; लेकिन राजा साहब का वाक्-संयम इस धारणा को असत्य सिद्ध करता था। उनके मुँह से जो बात निकलती थी, विवेक और विचार से परिष्कृत होती थी। एक ऐश्वर्य-शाली ताल्लुक़ेदार होने पर भी उनकी प्रवृत्ति साम्यवाद की ओर थी। संभव है, यह उनके राजनीतिक सिद्धांतों का फल हो; क्योंकि उनकी शिक्षा, उनका प्रभुत्व, उनकी परिस्थिति, उनका स्वार्थ, सब इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल था; पर संयम और अभ्यास ने अब इसे उनके विचार-क्षेत्र से निकालकर उनके स्वभाव के अंतर्गत कर दिया था। नगर के निर्वाचन-क्षेत्रों के परिमार्जन में उन्होंने प्रमुख भाग लिया था; इसलिये शहर के अन्य रईस उनसे सावधान रहते थे; उनके विचार में राजा साहब का जनतावाद केवल उनकी अधिकार-रक्षा का साधन था। वह चिरकाल तक इस सम्मान्य पद का उपभोग करने के लिये यह आवरण धारण किए हुए थे। पत्रों में भी कभी-कभी इस पर टीकाएँ होती रहती थीं; किंतु राजा साहब इसका प्रतिवाद करने में अपनी बुद्धि और समय का अपव्यय न करते थे। यशस्वी बनना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था; पर वह ख़ूब जानते थे कि इस महान् पद पर पहुँचने के लिये सेवा—और निस्स्वार्थ सेवा—के सिवा और कोई मार्ग नहीं है।

प्रातःकाल था। राजा साहब स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर नगर का निरीक्षण करने जा ही रहे थे कि इतने में मिस्टर जॉन सेवक का मुलाक़ाती कार्ड पहुँचा। जॉन सेवक का राज्याधिकारियों से ज़्यादा मेल-जोल था, उनकी सिगरेट्-कंपनी के हिस्सेदार भी अधिकांश अधिकारी लोग थे। राजा साहब ने कंपनी की नियमावली देखी थी; पर जॉन सेवक से उनकी कभी भेंट न हुई थी। दोनो को एक दूसरे पर वह अविश्वास था, जिसका आधार अफ़वाहों पर होता है। राजा साहब उन्हें ख़ुशामदी और समय-सेवी समझते थे।

जॉन सेवक को वह एक रहस्य प्रतीत होते थे। किंतु राजा साहब कल इंदु से मिलने गए थे। वहाँ सोफ़िया से उनकी भेंट हो गई थी। जॉन सेवक की कुछ चर्चा आ गई थी। उस समय से मि० सेवक के विषय में उनकी धारणा बहुत कुछ परिवर्तित हो गई थी। कार्ड पाते ही बाहर निकल आए, और जॉन सेवक से हाथ मिलाकर अपने दीवानख़ाने में ले गए। जॉन सेवक को वह किसी योगी की कुटी-सा मालूम हुआ, जहाँ अलंकार और सजावट का नाम भी न था। चंद कुर्सियों और एक मेज़ के सिवा वहाँ और कोई सामान न था। हाँ, काग़ज़ों और समाचार-पत्रों का एक ढेर मेज़ पर तितर-बितर पड़ा हुआ था।

हम किसी से मिलते ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि से जान जाते हैं कि हमारे विषय में उसके क्या भाव हैं। मि० सेवक को एक क्षण तक मुँह खोलने का साहस न हुआ, कोई समयोचित भूमिका न सूझती थी। एक पृथ्वी से और दूसरा आकाश से इस अगम्य सागर को पार करने की सहायता माँग रहा था। राजा साहब को भूमिका तो सूझ गई थी—सोफ़ी के देवोपम त्याग और सेवा की प्रशंसा से बढ़कर और कौन-सी भूमिका होती—किंतु कतिपय मनुष्यों को अपनी प्रशंसा सुनने से जितना संकोच होता है, उतना ही किसी दूसरे की प्रशंसा करने से होता है। जॉन सेवक में यह संकोच न था। वह निंदा और प्रशंसा, दोनो ही के करने में समान रूप से कुशल थे। बोले—"आपके दर्शनों की बहुत दिनों से इच्छा थी; लेकिन परिचय न होने के कारण न आ सकता था। और, साफ़ बात तो यह है कि (मुस्किराकर) आपके विषय में अधिकारियों के मुख से ऐसी-ऐसी बातें सुनता था, जो इस इच्छा को व्यक्त न होने देती थीं। लेकिन आपने निर्वाचन-क्षेत्रों को सुगम बनाने में जिस विशुद्ध देश-प्रेम का परिचय दिया है, उसने हाकिमों के मिथ्याक्षेपों की क़लई खोल दी।"

अधिकारिवर्ग के मिथ्याक्षेपों की चर्चा करके जॉन सेवक ने अपने वाक्-चातुर्य को सिद्ध कर दिया। राजा साहब की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये इससे सुलभ और कोई उपाय न था। राजा साहब को अधिकारियों से यही शिकायत थी। इसी के कारण उन्हें अपने कार्यों के संपादन में कठिनाई पड़ती थी, विलंब होता था, बाधाएँ उपस्थित होती थीं। बोले—"यह मेरा दुर्भाग्य है कि हुक्काम मुझ पर इतना अविश्वास करते हैं। मेरा अगर कोई अपराध है, तो इतना ही कि मैं जनता के लिये भी स्वास्थ्य और सुविधाओं को उतना ही आवश्यक समझता हूँ, जितना हुक्काम और रईसों के लिये।"

मिस्टर सेवक—"महाशय, इन लोगों के दिमाग़ की कुछ न पूछिए। संसार इनके उपभोग के लिये है। और किसी को इसमें जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है। जो प्राणी इनके द्वार पर अपना मस्तक न घिसे, वह अपवादी है, अशिष्ट है, राजद्रोही है; और जिस प्राणी में राष्ट्रीयता का लेश-मात्र भी आभास हो—विशेषतः वह, जो यहाँ के कला-कौशल और व्यवसाय को पुनर्जीवित करना चाहता हो, दंडनीय है। राष्ट्र-सेवा इनकी दृष्टि में सबसे अधम पाप है। आपने मेरे सिगरेट् के कारख़ाने की नियमावली तो देखी होगी?"

महेंद्र०—"जी हाँ, देखी थी।"

जॉन सेवक—"नियमावली का निकलना कहिए कि एक सिरे से अधिकारिवर्ग की निगाहें मुझसे फिर गईं। मैं उनका कृपा-भाजन था, कितने ही अधिकारियों से मेरी मैत्री थी। किंतु उसी दिन से मैं उनकी बिरादरी से टाट-बाहर कर दिया गया, मेरा हुक्का-पानी बंद हो गया। उनकी देखा-देखी हिंदुस्थानी हुक्काम और रईसों ने भी आनाकानी शुरू की। अब मैं उन लोगों की दृष्टि में शैतान से भी ज़्यादा भयंकर हूँ।"

इतनी लंबी भूमिका के बाद जॉन सेवक अपने मतलब पर आए। बहुत सकुचाते हुए अपना उद्देश्य प्रकट किया। राजा साहब मानव-चरित्र के ज्ञाता थे, बने हुए तिलकधारियों को ख़ूब पहचानते थे। उन्हें मुग़ालता देना आसान न था। किंतु समस्या ऐसी आ पड़ी थी कि उन्हें अपनी धर्म-रक्षा के हेतु अविचार की शरण लेनी पड़ी। किसी दूसरे अवसर पर वह इस प्रस्ताव की ओर आँख उठाकर भी न देखते। एक दीन-दुर्बल अंधे की भूमि को, जो उसके जीवन का एकमात्र आधार हो, उसके क़ब्ज़े से निकालकर एक व्यवसायी को दे देना उनके सिद्धांत के विरुद्ध था। पर आज पहली बार उन्हें अपने नियम को ताक़ पर रखना पड़ा। यह जानते हुए कि मिस सोफ़िया ने उनके एक निकटतम संबंधी की प्राण-रक्षा की है, यह जानते हुए कि जॉन सेवक के साथ सद्व्यवहार करना कुँअर भरतसिंह को एक भारी ऋण से मुक्त कर देगा, वह इस प्रस्ताव की अवहेलना न कर सकते थे। कृतज्ञता हमसे वह सब कुछ करा लेती है, जो नियम की दृष्टि में त्याज्य है। यह वह चक्की है, जो हमारे सिद्धांतों और नियमों को पीस डालती है। आदमी जितना ही निःस्पृह होता है, उपकार का बोझ उसे उतना ही असह्य होता है। राजा साहब ने इस मामले को जॉन सेवक के इच्छा-नुसार तय कर देने का वचन दिया, और मिस्टर सेवक अपनी सफलता पर फूले हुए घर आए।

स्त्री ने पूछा—"क्या तय कर आए?"

जॉन सेवक—"वही, जो तय करने गया था।"

स्त्री—"शुक्र है, मुझे आशा न थी।"

जॉन सेवक—"यह सब सोफ़ी के एहसान की बरकत है। नहीं तो यह महाशय सीधे मुँह बात करनेवाले न थे। यह उसी के आत्म-समर्पण की शक्ति है, जिसने महेंद्रकुमारसिंह-जैसे अभिमानी और

बेमुरौवत आदमी को नीचा दिखा दिया। ऐसे तपाक से मिले, मानो मैं उनका पुराना दोस्त हूँ। यह असाध्य कार्य था, और इस सफलता के लिये मैं सोफ़ी का आभारी हूँ।"

मिसेज़ सेवक—(क्रुद्ध होकर)"तो तुम जाकर उसे लिवा लाओ, मैंने तो मना नहीं किया है। मुझे ऐसी बातें क्यों बार-बार सुनाते हो? मैं तो अगर प्यासों मरती भी रहूँगी, तो उससे पानी न माँगूँगी। मुझे लल्लो-चप्पो नहीं आती। जो मन में है, वही मुख में है। अगर वह ख़ुदा से मुँह फेरकर अपनी टेक पर दृढ़ रह सकती है, तो मैं अपने ईमान पर दृढ़ रहते हुए क्यों उसकी ख़ुशामद करूँ ?"

प्रभु सेवक नित्य एक बार सोफ़िया से मिलने जाया करता था। कुँअर साहब और विनय, दोनो ही की विनयशीलता और शालीनता ने उसे मंत्र-मुग्ध कर दिया था। कुँअर साहब गुणज्ञ थे। उन्होंने पहले ही दिन, एक ही निगाह में, ताड़ लिया कि यह साधारण बुद्धि का युवक नहीं है। उन पर शीघ्र ही प्रकट हो गया कि इसकी स्वाभाविक रुचि साहित्य और दर्शन की ओर है। वाणिज्य और व्यापार से इसे उतनी ही भक्ति है, जितनी विनय को ज़मींदारी से। इसलिये वह प्रभु सेवक से प्रायः साहित्य और काव्य आदि विषयों पर वार्तालाप किया करते थे। वह उसकी प्रवृत्तियों को राष्ट्रीयता के भावों से अलंकृत कर देना चाहते थे। प्रभु सेवक को भी ज्ञान हो गया कि यह महाशय काव्य-कला के मर्मज्ञ हैं। इनसे उसे वह स्नेह हो गया था, जो कवियों को रसिक जनों से हुआ करता है। उसने इन्हें अपनी कई काव्य-रचनाएँ सुनाई थीं, और इनकी उदार अभ्यर्थनाओं से उस पर एक नशा-सा छाया रहता था। वह हर वक़्त रचना-विचार में निमग्न रहता। वह शंका और नैराश्य, जो प्रायः नवीन साहित्य-सेवियों को अपनी रचनाओं के प्रचार और सम्मान के विषय में हुआ करता है, कुँअर साहब के प्रोत्साहन के कारण विश्वास और उत्साह

के रूप में परिवर्तित हो गया था। वहाँ प्रभु सेवक, जो पहले हफ़्तों क़लम न उठाता था, अब एक-एक दिन में कई कविताएँ रच डालता। उसके भावोद्गारों में सरिता के-से प्रवाह और बाहुल्य का आविर्भाव हो गया था। इस समय वह बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। जॉन सेवक को आते देखकर वहाँ आया कि देखूँ, क्या ख़बर लाए हैं। ज़मीन के मिलने में जो कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई थीं, उनसे उसे आशा हो गई थी कि कदाचित् कुछ दिनों तक इस बंधन में न फँसना पड़े। जॉन सेवक की सफलता ने वह आशा भंग कर दी। मन की इस दशा में माता के अंतिम शब्द उसे बहुत अप्रिय मालूम हुए। बोला—"मामी, अगर आपका विचार है कि सोफ़ी वहाँ निरादर और अपमान सह रही है, और उकताकर स्वयं चली आवेगी, तो आप बड़ी भूल कर रही हैं। सोफ़ी अगर वहाँ बरसों रहे, तो भी वे लोग उसका गला न छोड़ेंगे। मैंने इतने उदार और शीलवान् प्राणी ही नहीं देखे। हाँ, सोफ़ी का आत्माभिमान इसे स्वीकार न करेगा कि वह चिरकाल तक उनके आतिथ्य और सज्जनता का उपभोग करे। इन दो सप्ताहों में वह जितनी क्षीण हो गई है, उतनी महीनों बीमार रहकर भी न हो सकती थी। उसे संसार के सब सुख प्राप्त हैं; किंतु जैसे कोई शीत-प्रधान देश का पौदा उष्ण देश में आकर अनेकों यत्न करने पर भी दिन-दिन सूखता जाता है, वैसी ही दशा उसकी भी हो गई है। उसे रात-दिन यही चिंता व्याप्त रहती है कि कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? अगर आपने जल्द उसे वहाँ से बुला न लिया, तो आपको पछताना पड़ेगा। वह आजकल बौद्ध और जैन-ग्रंथों को देखा करती है, और मुझे आश्चर्य न होगा, अगर वह हमसे सदा के लिये छूट जाय।"

जॉन सेवक—"तुम तो रोज़ वहाँ जाते हो, क्यों अपने साथ नहीं लाते?"

मिसेज़ सेवक—"मुझे इसकी चिंता नहीं है। प्रभु मसीह का द्रोही मेरे यहाँ आश्रय नहीं पा सकता।"

प्रभु सेवक—"गिरजे न जाना ही अगर प्रभु मसीह का द्रोही बनना है, तो लीजिए, आज से मैं भी गिरजे न जाऊँगा। निकाल दीजिए मुझे भी घर से।"

मिसेज़ सेवक—(रोकर) "तो यहाँ मेरा ही क्या रक्खा है। अगर मैं ही विष की गाँठ हूँ, तो मैं ही मुँह में कालिख लगाकर क्यों न निकल जाऊँ। तुम और सोफ़ी आराम से रहो, मेरा भी खुदा मालिक है।"

जॉन सेवक—"प्रभु, तुम मेरे सामने अपनी मा का निरादर नहीं कर सकते।"

प्रभु सेवक—"खुदा न करे, मैं अपनी मा का निरादर करूँ। लेकिन मैं दिखावे के धर्म के लिये अपनी आत्मा पर यह अत्याचार न होने दूँगा। आप लोगों की नाराज़ी के खौफ़ से अब तक मैंने इस विषय में कभी मुँह नहीं खोला। लेकिन जब देखता हूँ कि और किसी बात में तो धर्म की परवा नहीं की जाती, और सारा धर्मानुराग दिखावे के धर्म पर ही किया जा रहा है, तो मुझे संदेह होने लगता है कि इसका तात्पर्य कुछ और तो नहीं।"

जॉन सेवक—"तुमने किस बात में मुझे धर्म के विरुद्ध आचरण करते देखा?"

प्रभु सेवक—"सैकड़ों ही बातें हैं, एक हो, तो कहूँ।"

जॉन सेवक—"नहीं, एक ही बतलाओ।"

प्रभु सेवक—"उस बेकस अंधे की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने के लिये आप जिन साधनों का उपयोग कर रहे हैं, क्या वे धर्म-संगत हैं? धर्म का अंत वहीं हो गया, जब उसने कह दिया कि मैं अपनी ज़मीन किसी तरह न दूँगा। अब क़ानूनी विधानों से, कूटनीति से,

धमकियों से, अपना मतलब निकालना आपको धर्म-संगत मालूम होता हो; पर मुझे तो वह सर्वथा अधर्म और अन्याय ही प्रतीत होता है।"

जॉन सेवक—"तुम इस वक्त अपने होश में नहीं हो, मैं तुमसे वाद-विवाद नहीं करना चाहता। पहले जाकर शांत हो आओ, फिर मैं तुम्हें इसका उत्तर दूँगा।"

प्रभु सेवक क्रोध से भरा हुआ अपने कमरे में आया, और सोचने लगा कि क्या करूँ। यहाँ तक उसका सत्याग्रह शब्दों ही तक सीमित था, अब उसके क्रियात्मक होने का अवसर आ गया; पर क्रियात्मक शक्ति का उसके चरित्र में एकमात्र अभाव था। इस उद्विग्न दशा में वह कभी एक कोट पहनता, कभी उसे उतारकर दूसरा पहनता, कभी कमरे के बाहर चला जाता, कभी अंदर आ जाता। सहसा जॉन सेवक आकर बैठ गए, और गंभीर भाव से बोले—"प्रभु, आज तुम्हारा आवेश देखकर मुझे जितना दुःख हुआ है, उससे कहीं अधिक चिंता हुई है। मुझे अब तक तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि पर विश्वास था; पर अब वह विश्वास उठ गया। मुझे निश्चय था कि तुम जीवन और धर्म के संबंध को भली भाँति समझते हो; पर अब ज्ञात हुआ कि सोफ़ी और अपनी माता की भाँति तुम भी भ्रम में पड़े हुए हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे और हज़ारों आदमी, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बंद करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है, तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है। संभव है, तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें ख़ुदा का बेटा, या कम-से-कम महात्मा, समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उनके प्रति उतनी ही श्रद्धा है,

जितनी किसी मामूली फ़क़ीर के प्रति। उसी प्रकार फ़क़ीर भी दान और क्षमा की महिमा गाता फिरता है, परलोक के सुखों का राग गाया करता है। वह भी उतना ही त्यागी, उतना ही दीन, उतना ही धर्म-रत है। लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़कर गिरजे अवश्य जाता हूँ। न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा। फिर अपने ही घर में अशांति फैल जायगी। मैं केवल तुम्हारी माता की ख़ातिर से अपने ऊपर यह अत्याचार करता हूँ, और तुमसे भी मेरा यही अनुरोध है कि व्यर्थ का दुराग्रह न करो। तुम्हारी माता क्रोध के योग्य नहीं, दया के योग्य हैं। बोलो, तुम्हें कुछ कहना है?"

प्रभु सेवक—"जी नहीं।"

जॉन सेवक—"अब तो फिर इतनी उच्छृंखलता न करोगे?"

प्रभु सेवक ने मुस्किराकर कहा—"जी नहीं।"

[६]

धर्म-भीरुता में जहाँ अनेक गुण हैं, वहाँ एक अवगुण भी है; वह सरल होती है। पाखंडियों का दाँव उस पर सहज ही में चल जाता है। धर्म-भीरु प्राणी तार्किक नहीं होता। उसकी विवेचना-शक्ति शिथिल हो जाती है। ताहिरअली ने जब से अपनी दोनो विमाताओं की बातें सुनी थीं, उनके हृदय में घोर अशांति हो रही थी। बार-बार ख़ुदा से दुआ माँगते थे, नीति-ग्रंथों से अपनी शंका का समाधान करने की चेष्टा करते थे। दिन तो किसी तरह गुज़रा, संध्या होते ही वह मि० जॉन सेवक के पास पहुँचे, और बड़े विनीत शब्दों में बोले—"हुज़ूर की ख़िदमत में इस वक़्त एक ख़ास अर्ज़ करने के लिये हाज़िर हुआ हूँ। इर्शाद हो, तो कहूँ।"

जॉन सेवक—"हाँ-हाँ, कहिए, कोई नई बात है क्या ?"

ताहिर—"हुज़ूर उस अंधे की ज़मीन लेने का ख़याल छोड़ दें, तो बहुत ही मुनासिब हो। हज़ारों दिक़्क़तें हैं। अकेला सूरदास ही नहीं, सारा मुहल्ला लड़ने पर तुला हुआ है। ख़ासकर नायकराम पंडा बहुत बिगड़ा हुआ है। वह बड़ा ख़ौफ़नाक आदमी है। जाने कितनी बार फ़ौजदारियाँ कर चुका है। अगर ये सब दिक़्क़तें किसी तरह दूर भी हो जायँ, तो भी मैं आपसे यही अर्ज़ करूँगा कि इसके बजाय किसी दूसरी ज़मीन की फ़िक्र कीजिए।"

जॉन सेवक—"यह क्यों ?"

ताहिर—"हुज़ूर, यह अज़ाब का काम है। सैकड़ों आदमियों का काम उस ज़मीन से निकलता है, सबकी गाएँ वहीं चरती हैं,

बारातें ठहरती हैं, प्लेग के दिनों में लोग वहीं झोपड़े डालते हैं। वह ज़मीन निकल गई, तो सारी आबादी को तकलीफ़ होगी, और लोग दिल में हमें सैकड़ों बददुआएँ देंगे। इसका अज़ाब ज़रूर पड़ेगा।"

जॉन सेवक—(हँसकर) "अज़ाब तो मेरी गरदन पर पड़ेगा न। मैं उसका बोझ उठा सकता हूँ।"

ताहिर—"हुज़ूर, मैं भी तो आप ही के दामन से लगा हुआ हूँ। मैं उस अज़ाब से कब बच सकता हूँ। बल्कि मुहल्लेवाले मुझी को बाग़ी समझते हैं। हुज़ूर तो यहाँ तशरीफ़ रखते हैं, मैं तो आठो पहर उनकी आँखों के सामने रहूँगा, नित्य उनकी नज़रों में खटकता रहूँगा, औरतें भी राह चलते दो गालियाँ सुना दिया करेंगी। बाल-बच्चोंवाला आदमी हूँ; ख़ुदा जाने क्या पड़े, क्या न पड़े। आख़िर शहर के क़रीब और ज़मीनें भी तो मिल सकती हैं।"

धर्म-भीरुता जड़वादियों की दृष्टि में हास्यास्पद बन जाती है। विशेषतः एक जवान आदमी में तो यह अक्षम्य समझी जाती है। जॉन सेवक ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा—"मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं, जब मैं नहीं डरता, तो आप क्यों डरते हैं? क्या आप समझते हैं कि मुझे अपने बाल-बच्चे प्यारे नहीं, या मैं ख़ुदा से नहीं डरता?"

ताहिर—"आप साहबे-एक़बाल हैं, आपको अज़ाब का ख़ौफ़ नहीं। एक़बालवालों से अज़ाब भी काँपता है। ख़ुदा का क़हर ग़रीबों ही पर गिरता है।"

जॉन सेवक—"इस नए धर्म-सिद्धांत के जन्मदाता शायद आप ही होंगे; क्योंकि मैंने आज तक कभी नहीं सुना कि ऐश्वर्य से ईश्वरीय कोप भी डरता है। बल्कि हमारे धर्म-ग्रंथों में तो धनिकों के लिये स्वर्ग का द्वार ही बंद कर दिया गया है।"

ताहिर—"हुज़ूर, मुझे इस झगड़े से दूर रक्खें, तो अच्छा हो।"

जॉन सेवक—"आज आपको इस झगड़े से दूर रक्खूँ, कल आपको यह शंका हो कि पशु-हत्या से ख़ुदा नाराज़ होता है, आप मुझे खालों की ख़रीद से दूर रक्खें, तो मैं आपको किन-किन बातों से दूर रक्खूँगा, और कहाँ-कहाँ ईश्वर के कोप से आपकी रक्षा करूँगा। इससे तो कहीं अच्छा यही है कि आपको अपने ही से दूर रक्खूँ। मेरे यहाँ रहकर आपको ईश्वरीय कोप का सामना करना पड़ेगा।"

मिसेज़ सेवक—"जब आपको ईश्वरीय कोप का इतना भय है, तो आपसे हमारे यहाँ काम नहीं हो सकता।"

ताहिर—"मुझे हुज़ूर की ख़िदमत से इनकार थोड़े ही है, मैं तो सिर्फ़......"

मिसेज़ सेवक—"आपको हमारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना पड़ेगा, चाहे उससे आपका ख़ुदा ख़ुश हो या नाख़ुश। हम अपने कामों में आपके ख़ुदा को हस्तक्षेप न करने देंगे।"

ताहिरअली हताश हो गए। मन को समझाने लगे—ईश्वर दयालु है, क्या वह देखता नहीं कि मैं कैसी बेड़ियों में जकड़ा हुआ हूँ। मेरा इसमें क्या बस है। अगर स्वामी की आज्ञाओं को न मानूँ, तो कुटुंब का पालन क्योंकर हो। बरसों मारे-मारे फिरने के बाद तो यह ठिकाने की नौकरी हाथ आई है। इसे छोड़ दूँ, तो फिर उसी तरह ठोकरें खानी पड़ेंगी। अभी कुछ और नहीं है, तो रोटी-दाल का सहारा तो है। गृह-चिंता आत्मचिंतन की घातिका है।

ताहिरअली को निरुत्तर होना पड़ा। बेचारे अपनी स्त्री के सारे गहने बेचकर खा चुके थे। अब एक छल्ला भी न था। माहिरअली अँगरेज़ी पढ़ता था। उसके लिये अच्छे कपड़े बनवाने पड़ते, प्रतिमास फ़ीस देनी पड़ती। ज़ाबिरअली और जाबिरअली उर्दू-मदरसे में पढ़ते थे; किंतु उनकी माता नित्य जान खाया करती थी कि

इन्हें भी अँगरेज़ी-मदरसे में दाख़िल करा दो, उर्दू पढ़ाकर क्या चपरासगरी करानी है। अँगरेज़ी थोड़ी भी आ जायगी, तो किसी-न-किसी दफ़्तर में घुस ही जायँगे। भाइयों के लालन-पालन पर उनकी आवश्यकताएँ ठोकर खाती रहती थीं। पाजामे में इतने पैवंद लग जाते कि कपड़े का यथार्थ रूप छिप जाता था। नए जूते तो शायद इन पाँच बरसों में उन्हें नसीब ही नहीं हुए। माहिरअली के पुराने जूतों पर संतोष करना पड़ता था। सौभाग्य से माहिरअली के पैर बड़े थे। यथासाध्य वह भाइयों को कोई कष्ट न होने देते थे। लेकिन कभी हाथ तंग रहने के कारण उनके लिये नए कपड़े न बनवा सकते, या फ़ीस देने में देर हो जाती, या नाश्ता न मिल सकता, या मदरसे में जल-पान करने के लिये पैसे न मिलते, तो दोनो माताएँ व्यंग्यों और कटूक्तियों से उनका हृदय छेद डालती थीं। बेकारी के दिनों में वह बहुधा, अपना बोझ हलका करने के लिये, स्त्री और बच्चों को मैके पहुँचा दिया करते थे। उपहास से बचने के ख़याल से एकआध महीने के लिये बुला लेते, और फिर किसी-न-किसी बहाने से बिदा कर देते। जब से मि० जॉन सेवक की शरण आए थे, एक प्रकार से उनके सुदिन आ गए थे; कल की चिंता सिर पर सवार न रहती थी। माहिरअली की उम्र पंद्रह से अधिक हो गई थी। अब सारी आशाएँ उसी पर अवलंबित थीं। सोचते—जब माहिर मैट्रिक पास हो जायगा, तो साहब से सिफ़ारिश कराके पुलिस में भरती करा दूँगा। पचास रुपए से क्या कम वेतन मिलेगा। हम दोनो भाइयों की आय मिलकर ८०) हो जायगी। तब जीवन का कुछ आनंद मिलेगा। तब तक ज़ाहिरअली भी हाथ-पैर सँभाल लेगा, फिर चैन-ही-चैन है। बस, तीन-चार साल की और तकलीफ़ है। स्त्री से बहुधा झगड़ा हो जाता। वह कहा करती—"ये भाई-बंद एक भी काम न आएँगे। ज्यों ही अवसर मिला, पर

झाड़कर निकल जायँगे, तुम खड़े ताकते रह जाओगे।" ताहिरअली इन बातों पर स्त्री से रूठ जाते। उसे घर में आग लगानेवाली, विष की गाँठ, कहकर रुलाते।

आशाओं और चिंताओं से इतना दबा हुआ व्यक्ति मिसेज़ सेवक के कटु वाक्यों का क्या उत्तर देता। स्वामी के कोप ने ईश्वर के कोप को परास्त कर दिया। व्यथित कंठ से बोले—"हुज़ूर का नमक खाता हूँ, आपकी मरज़ी मेरे लिये ख़ुदा के हुक्म का दरजा रखती है। किताबों में आक़ा को ख़ुश रखने का वही सवाब लिखा है, जो ख़ुदा को ख़ुश रखने का है। हुज़ूर की नमकहरामी करके ख़ुदा को क्या मुँह दिखलाऊँगा!"

जॉन सेवक—"हाँ, अब आप आए सीधे रास्ते पर। जाइए, अपना काम कीजिए। धर्म और व्यापार को एक तराज़ू में तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार; परस्पर कोई संबंध नहीं। संसार में जीवित रहने के लिये किसी व्यापार की ज़रूरत है, धर्म की नहीं। धर्म तो व्यापार का शृंगार है। वह धनाधीशों ही को शोभा देता है। ख़ुदा आपको समाई दे, अवकाश मिले, घर में फ़ालतू रुपए हों, तो नमाज़ पढ़िए, हज कीजिए, मसजिद बनवाइए, कुएँ खुदवाइए। तब मज़हब है, ख़ाली पेट ख़ुदा का नाम लेना पाप है।"

ताहिरअली ने झुककर सलाम किया, और घर लौट आए।

संध्या हो गई थी। किंतु फागुन लगने पर भी सरदी के मारे हाथ-पाँव अकड़ते थे। ठंडी हवा के झोंके शरीर की हड्डियों में चुभे जाते थे। जाड़ा, इंद्र की मदद पाकर, फिर अपनी बिखरी हुई शक्तियों का संचय कर रहा था, और प्राण-पण से समय-चक्र को पलट देना चाहता था। बादल भी थे, बूँदें भी थीं, ठंडी हवा भी थी, कुहरा भी था। इतनी विभिन्न शक्तियों के मुक़ाबिले में ऋतुराज की एक न चलती थी। लोग लिहाफ़ में यों मुँह छिपाए हुए थे, जैसे चूहे बिलों में से झाँकते हैं। दूकानदार अँगीठियों के सामने बैठे हाथ सेंकते थे। पैसों के सौदे नहीं, मुरौवत के सौदे बेचते थे। राह चलते लोग अलाव पर यों गिरते थे, मानों दीपक पर पतंग गिरते हों। बड़े घरों की स्त्रियाँ मनाती थीं—"मिसराइन न आएँ तो आज भोजन बनाएँ, चूल्हे के सामने बैठने का अवसर मिले।" चाय की दूकानों पर जमघट रहता था। ठाकुरदीन के पान छबड़ी में पड़े सड़ रहे थे; पर उसकी हिम्मत न पड़ती थी कि उन्हें फेरे। सूरदास अपनी जगह पर तो आ बैठा था; पर इधर-उधर से सूखी टहनियाँ बटोरकर जला ली थीं, और हाथ सेंक रहा था। सवारियाँ आज कहाँ। हाँ, कोई इक्का-दुक्का मुसाफ़िर निकल जाता था, तो बैठे-बैठे उसका कल्याण मना लेता था। जब से सैयद ताहिरअली ने उसे धमकियाँ दी थीं, ज़मीन के निकल जाने की शंका उसके हृदय पर छाई रहती थी। सोचता—क्या इसी दिन के लिये मैंने इस ज़मीन का इतना जतन किया था? मेरे दिन सदा यों ही थोड़े ही रहेंगे, कभी तो लच्छमी प्रसन्न होंगी। अंधों की आँखें न खुलें; पर भाग तो

खुल सकता है। कौन जाने कोई दानी मिल जाय, या मेरे ही हाथ मे धीरे-धीरे कुछ रुपए इकट्ठे हो जायँ। बनते देर नहीं लगती। यही अभिलाषा थी कि यहाँ एक कुआँ और एक छोटा-सा मंदिर बनवा देता, मरने के पीछे अपनी कुछ निसानी रहती। नहीं तो कौन जानेगा कि अंधा कौन था। पिसनहारी ने कुआँ खुदवाया था, आज तक उसका नाम चला जाता है। झक्कड़ साईं ने बावली बनवाई थी, आज तक झक्कड़ की बावली मसहूर है। जमीन निकल गई, तो नाम डूब जायगा। कुछ रुपए मिले भी, तो किस काम के।

नायकराम उसे ढाढ़स देता रहता था—"तुम कुछ चिंता मत करो, कौन माँ का बेटा है, जो मेरे रहते तुम्हारी जमीन निकाल ले! लहू की नदी बहा दूँगा। उस किरंटे की क्या मजाल, गोदाम में आग लगा दूँगा, इधर का रास्ता छुड़ा दूँगा। वह है किस गुमान में, बस तुम हामी न भरना।" किंतु इन शब्दों से जो तस्कीन होती थी, वह भैरो और जगधर की ईर्ष्या-पूर्ण वितंडाओं से मिट जाती थी, और वह एक लंबी साँस खींचकर रह जाता था।

वह इन्हीं विचारों में मग्न था कि नायकराम कंधे पर लट्ठ रक्खे, एक अँगोछा कंधे पर डाले, पान के बीड़े मुँह में भरे, आकर खड़ा हो गया, और बोला—"सूरदास, बैठे तापते ही रहोगे, साँझ हो गई, हवा खानेवाले अब इस ठंड में न निकलेंगे। खाने-भर को मिल गया कि नहीं?"

सूरदास—"कहाँ महराज, आज तो एक भगवान से भी भेंट न हुई।"

नायकराम—"जो भाग्य में था, मिल गया। चलो, घर चलें। बहुत ठंड लगती हो, तो मेरा यह अँगोछा कंधे पर डाल लो। मैं तो इधर आया था कि कहीं साहब मिल जायँ, तो दो-दो बातें कर लूँ। फिर एक बार उनकी और हमारी भी हो जाय।"

सूरदास चलने को उठा ही था कि सहसा एक गाड़ी की आहट मिली। रुक गया। आस बँधी। एक क्षण में फ़िटन आ पहुँची। सूरदास ने आगे बढ़कर कहा—"दाता, भगवान तुम्हारा कल्याण करें, अंधे की खबर लीजिए।"

फ़िटन रुक गई, और चतारी के राजा साहब उतर पड़े। नायकराम उनका पंडा था। साल में दो-चार सौ रुपए उनकी रियासत से पाता था। उन्हें आशीर्वाद देकर बोला—"सरकार का इधर कैसे आना हुआ? आज तो बड़ी ठंड है।"

राजा साहब—"यही सूरदास है, जिसकी ज़मीन आगे पड़ती है? आओ, तुम दोनो आदमी मेरे साथ बैठ जाओ, मैं ज़रा उस ज़मीन को देखना चाहता हूँ।"

नायकराम—"सरकार चलें, हम दोनो पीछे-पीछे आते हैं।"

राजा साहब—"अजी, आकर बैठ जाओ, तुम्हें आने में देर होगी, और मैंने अभी संध्या नहीं की है।"

सूरदास—"पंडाजी, तुम बैठ जाओ, मैं दौड़ता हुआ चलूँगा, गाड़ी के साथ-ही-साथ पहुँचूँगा।"

राजा साहब—"नहीं-नहीं, तुम्हारे बैठने में कोई हरज नहीं है, तुम इस समय भिखारी सूरदास नहीं, ज़मींदार सूरदास हो।"

नायकराम—"बैठो सूरे, बैठो। हमारे सरकार साक्षात् देव-रूप हैं।"

सूरदास—"पंडाजी, मैं........"

राजा साहब—"पंडाजी, तुम इनका हाथ पकड़कर बिठा दो, यों न बैठेंगे।"

नायकराम ने सूरदास को गोद में उठाकर गद्दी पर बैठा दिया, आप भी बैठे, और फ़िटन चली। सूरदास को अपने जीवन में फ़िटन पर बैठने का यह पहला ही अवसर था, ऐसा जान पड़ता था कि मैं उड़ा जा रहा हूँ। तीन-चार मिनट में जब गोदाम पर गाड़ी रुक

गई, और राजा साहब उतर पड़े, तो सूरदास को आश्चर्य हुआ कि इतनी जल्द क्योंकर आ गए।

राजा साहब—"ज़मीन तो बड़े मौक़े की है।"

सूरदास—"सरकार, बाप-दादों की निसानी है।"

सूरदास के मन में भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं—क्या साहब ने इनको यह ज़मीन देखने के लिये भेजा है? सुना है, यह बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं, तो इन्होंने साहब को समझा क्यों न दिया? बड़े आदमी सब एक होते हैं, चाहे हिंदू हों या तुर्क; तभी तो मेरा इतना आदर कर रहे हैं, जैसे बकरे की गरदन काटने से पहले उसे भर पेट दाना खिला देते हैं। लेकिन मैं इनकी बातों में आनेवाला नहीं हूँ।

राजा साहब—"असामियों के साथ बंदोबस्त है?"

नायकराम—"नहीं सरकार, ऐसे ही परती पड़ी रहती है, सारे मुहल्ले की गउएँ यहीं चरने आती हैं। उठा दी जाय, तो २००) से कम नफ़ा न हो; पर यह कहता है, जब भगवान मुझे यों ही खाने-भर को दे देते हैं, तो इसे क्यों उठाऊँ।"

राजा साहब—"अच्छा, तो सूरदास दान लेता ही नहीं, देता भी है। ऐसे प्राणियों के दर्शनों ही से पुण्य होता है।"

नायकराम की निगाह में सूरदास का इतना आदर कभी न हुआ था। बोले—"हुज़ूर, उस जनम का कोई बड़ा भारी महात्मा है।"

राजा साहब—"उस जन्म का नहीं, इस जन्म का महात्मा है।"

सच्चा दानी प्रसिद्धि का अभिलाषी नहीं होता। सूरदास को अपने त्याग और दान के महत्त्व का ज्ञान ही न था। शायद होता, तो स्वभाव में इतनी सरल दीनता न रहती, अपनी प्रशंसा कानों को मधुर लगती। सभ्य दृष्टि में दान का यही सर्वोत्तम पुरस्कार है। सूरदास का दान पृथ्वी या आकाश का दान था, जिसे स्तुति या

कीर्ति की चिंता नहीं होती। उसे राजा साहब की उदारता में कपट की गंध आ रही थी। वह यह जानने के लिये विकल हो रहा था कि राजा साहब का इन बातों से अभिप्राय क्या है।

नायकराम राजा साहब को ख़ुश करने के लिये सूरदास का गुणानुवाद करने लगे—"धर्मावतार, इतने पर भी इन्हें चैन नहीं है, यहाँ धर्मशाला, मंदिर और कुआँ बनवाने का विचार कर रहे हैं।"

राजा साहब—"वाह, तब तो बात ही बन गई। क्यों सूरदास, तुम इस ज़मीन में से ९ बीघे मिस्टर जॉन सेवक को दे दो। उनसे जो रुपए मिलें, उन्हें धर्म-कार्य में लगा दो। इस तरह तुम्हारी अभिलाषा भी पूरी हो जायगी, और साहब का काम भी निकल जायगा। दूसरों से इतने अच्छे दाम न मिलेंगे। बोलो, कितने रुपए दिला दूँ?"

नायकराम सूरदास को मौन देखकर डरे कि कहीं यह इनकार कर बैठा, तो मेरी बात गई! बोले—"सूरे, हमारे मालिक को जानते हो न, चतारी के महाराज हैं। इसी दरबार से हमारी परवरिस होती है। मिनिस्पलटी के सबसे बड़े हाकिम हैं। आपके हुक्म बिना कोई अपने द्वार पर खूँटा भी नहीं गाड़ सकता। चाहें तो सब इक्केवालों को पकड़वा लें, सारे सहर का पानी बंद कर दें।"

सूरदास—"जब आपका इतना बड़ा अख़्तियार है, तो साहब को कोई दूसरी जमीन क्यों नहीं दिला देते।"

राजा साहब—"ऐसे अच्छे मौक़े पर शहर में दूसरी ज़मीन मिलनी मुश्किल है। लेकिन तुम्हें इसके देने में क्या आपत्ति है? इस तरह न-जाने कितने दिनों में तुम्हारी मनोकामनाएँ पूरी होंगी। यह तो बहुत अच्छा अवसर हाथ आया है, रुपए लेकर धर्म-कार्य में लगा दो।"

सूरदास—"महाराज, मैं ख़ुशी से जमीन न बेचूँगा।"

नायकराम—"सूरे, कुछ भंग तो नहीं खा गए हो? कुछ खयाल है, किससे बातें कर रहे हो।"

सूरदास—"पंडाजी, सब खियाल है, आँखें नहीं हैं, तो क्या अक्किल भी नहीं है! पर जब मेरी चीज है ही नहीं, तो मैं उसका बेचनेवाला कौन होता हूँ?"

राजा साहब—"यह ज़मीन तो तुम्हारी ही है?"

सूरदास—"नहीं सरकार, मेरी नहीं, मेरे बाप-दादों का है। मेरी चीज वही है, जो मैंने अपने बाँह-बल से पैदा की हो। यह जमीन मुझे धरोहर मिली है, मैं इसका मालिक नहीं हूँ।"

राजा साहब—"सूरदास, तुम्हारी यह बात मेरे मन में बैठ गई। अगर और ज़मीदारों के दिल में ऐसे ही भाव होते, तो आज सैकड़ों घर यों तबाह न होते। केवल भोग-विलास के लिये लोग बड़ी-बड़ी रियासतें बरबाद कर देते हैं। पंडाजी, मैंने सभा में यही प्रस्ताव पेश किया है कि ज़मींदारों को अपनी जायदाद बेचने का अधिकार न रहे। लेकिन जो जायदाद धर्म-कार्य के लिये बेची जाय, उसे मैं बेचना नहीं कहता।"

सूरदास—"धरमावतार, मेरा तो इस जमीन के साथ इतना ही नाता है कि जब तक जिऊँ, इसकी रच्छा करूँ, और मरूँ, तो इसे ज्यों-का-त्यों छोड़ जाऊँ।"

राजा साहब—"लेकिन यह तो सोचो कि तुम अपनी ज़मीन का एक भाग केवल इसलिये दूसरे को दे रहे हो कि मंदिर आदि बनवाने के लिये रुपए मिल जायँ।"

नायकराम—"बोलो सूरे, महाराज की इस बात का क्या जवाब देते हो?"

सूरदास—"मैं सरकार की बातों का जवाब देने जोग हूँ कि जवाब दूँ। लेकिन इतना तो सरकार जानते ही हैं कि लोग उँगली

पकड़ते-पकड़ते पहुँचा पकड़ लेते हैं। साहब पहले तो न बोलेंगे, फिर धीरे-धीरे हाता बना लेंगे, कोई मंदिर में जाने न पाएगा, उनसे कौन रोज-रोज लड़ाई करेगा।"

नायकराम—"दीनबंधु, सूरदास ने यह बात पक्की कही, बड़े आदमियों से कौन लड़ता फिरेगा?"

राजा साहब—"साहब क्या करेंगे, क्या तुम्हारा मंदिर खोद-कर फेक देंगे?"

नायकराम—"बोलो सूरे, अब क्या कहते हो?"

सूरदास—"सरकार, गरीब की घरवाली गाँव-भर की भावज होती है। साहब किरस्तान हैं, धरमसाले में तमाकू का गोदाम बनाएँगे, मंदिर में उनके मजूर सोएँगे, कुएँ पर उनके मजूरों का अड्डा होगा, बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी। साहब न करेंगे, साहब के लड़के करेंगे। मेरे बाप-दादों का नाम डूब जायगा। सरकार, मुझे इस दलदल में न फँसाइए।"

नायकराम—"धरमावतार, सूरदास की बात मेरे मन में भी बैठती है। थोड़े दिनों में मंदिर, धरमसाला, कुआँ, सब साहब का हो जायगा, इसमें संदेह नहीं।"

राजा साहब—"अच्छा, यह भी माना; लेकिन जरा यह भी तो सोचो कि इस कारखाने से लोगों को क्या फ़ायदा होगा। हज़ारों मज़दूर, मिस्त्री, बाबू, मुंशी, लुहार, बढ़ई आकर आबाद हो जायँगे, एक अच्छी बस्ती हो जायगी, बनियों की नई-नई दूकानें खुल जायँगी, आस-पास के किसानों को अपनी शाक-भाजी लेकर शहर न जाना पड़ेगा, यहीं खरे दाम मिल जायँगे। कुँजड़े, खटिक, ग्वाले, धोबी, दरजी, सभी को लाभ होगा। क्या तुम इस पुण्य के भागी न बनोगे?"

नायकराम—"अब बोलो सूरे, अब तो कुछ नहीं कहना है? हमारे सरकार की भलमंसी है कि तुमसे इतनी दलील कर रहे

हैं। दूसरा हाकिम होता, तो एक हुकुमनामे में सारी जमीन तुम्हारे हाथ से निकल जाती।"

सूरदास—"भैया, इसीलिये न लोग चाहते हैं कि हाकिम धरमात्मा हो, नहीं तो क्या देखते नहीं हैं कि हाकिम लोग बिना डामफूल-सुअर के बात नहीं करते। उनके सामने खड़े होने का तो हियाव ही नहीं होता, बातें कौन करता। इसीलिये तो मनाते हैं कि हमारे राजों-महराजों का राज होता, जो हमारा दुख-दर्द सुनते। सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-सराब का भी तो परचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा! दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे, और अपने बुरे आचरन अपने गाँवों में फैलाएँगे। दिहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करने आएँगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक सहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी। भगवान न करें, यहाँ वह रौनक हो। सरकार, मुझे इस कुकरम और अधरम से बचाएँ। यह सारा पाप मेरे सिर पड़ेगा।"

नायकराम—"दीनबंधु, सूरदास बहुत पक्की बात कहता है। कलकत्ता, बंबई, अहमदाबाद, कानपुर, आपके अकबाल से सभी जगह घूम आया हूँ, जजमान लोग बुलाते रहते हैं। जहाँ-जहाँ कल-कारखाने हैं, वहाँ यही हाल देखा है।"

राजा साहब—"क्या ये बुराइयाँ तीर्थ-स्थानों में नहीं हैं?"

सूरदास—"सरकार, उनका सुधार भी तो बड़े आदमियों ही के हाथ में है, जहाँ बुरी बातें पहले ही से हैं, वहाँ से हटाने के बदले उन्हें और फैलाना तो उचित नहीं है।"

राजा साहब—"ठीक कहते हो सूरदास, बहुत ठीक कहते हो। तुम जीते, मैं हार गया। तुम्हारी बातों से चित्त प्रसन्न हो गया। कभी शहर आना, तो मेरे यहाँ अवश्य आना। जिस वक्त मैंने साहब से इस ज़मीन को तय करा देने का वादा किया था, ये बातें मेरे ध्यान में न आई थीं। अब तुम निश्चिंत हो जाओ, मैं साहब से कह दूँगा, सूरदास अपनी ज़मीन नहीं देता। नायकराम, देखो, सूरदास को किसी बात की तकलीफ़ न होने पाए, अब मैं चलता हूँ। यह लो सूरदास, यह तुम्हारी इतनी दूर आने की मजूरी है।"

यह कहकर उन्होंने एक रुपया सूरदास के हाथ में रक्खा, और चल दिए। नायकराम ने कहा—"सूरदास, आज राजा साहब भी तुम्हारी खोपड़ी को मान गए।"

सोफ़िया को इंदु के साथ रहते चार महीने गुज़र गए। अपने घर और घरवालों की याद आते ही उसके हृदय में एक ज्वाला-सी प्रज्व-लित हो जाती थी। प्रभु सेवक नित्य-प्रति उससे एक बार मिलने आता; पर कभी उससे घर का कुशल-समाचार न पूछती। वह कभी हवा खाने भी न जाती कि कहीं मामा से साक्षात् न हो जाय। यद्यपि इंदु ने उसकी परिस्थिति को सबसे गुप्त रक्खा था; पर अनुमान से सभी प्राणी उसकी यथार्थ दशा से परिचित हो गए थे। इसलिये प्रत्येक प्राणी को यह ख़याल रहता था कि कोई ऐसी बात न होने पावे, जो उसे अप्रिय प्रतीत हो। इंदु को तो उससे इतना प्रेम हो गया था कि अधिकतर उसी के पास बैठी रहती। उसकी संगति में इंदु को भी धर्म और दर्शन के ग्रंथों से रुचि होने लगी।

घर टपकता हो, तो उसकी मरम्मत की जाती है; गिर जाय, तो उसे छोड़ दिया जाता है। सोफ़ी को जब ज्ञात हुआ कि इन लोगों को मेरी सब बातें मालूम हो गईं, तो उसने परदा रखने की चेष्टा करनी छोड़ दी; धर्म-ग्रंथों के अध्ययन में डूब गई। पुरानी कुदूरतें दिल से मिटने लगीं। माता के कठोर वाक्य-बाणों का घाव भरने लगा। वह संकीर्णता, जो व्यक्तिगत भावों और चिंताओं को अनुचित महत्त्व दे देती है, इस सेवा और सद्व्यवहार के क्षेत्र में आकर तुच्छ जान पड़ने लगी। मन ने कहा, यह मामी का दोष नहीं उनकी धार्मिक अनुदारता का दोष है; उनका विचार-क्षेत्र परिमित है, उसमें विचार-स्वातंत्र्य का सम्मान करने की क्षमता ही

नहीं, मैं व्यर्थ ही उनसे रुष्ट हो रही हूँ। यही एक काँटा था, जो उसके अंतस्तल में सदैव खटकता रहता था। जब वह निकल गया, तो चित्त शांत हो गया। उसका जीवन धर्म-ग्रंथों के अवलोकन और धर्म-सिद्धांतों के मनन तथा चिंतन में व्यतीत होने लगा। अनुराग अंतर्वेदना की सबसे उत्तम औषधि है।

किंतु इस मनन और अवलोकन से उसका चित्त शांत होता हो, यह बात न थी। नाना प्रकार की शंकाएँ नित्य उपस्थित होती रहती थीं—जीवन का उद्देश्य क्या है? प्रत्येक धर्म में इसके विविध उत्तर मिलते थे; पर एक भी ऐसा नहीं मिला, जो मन बैठ जाय। ये विभूतियाँ क्या हैं, क्या केवल भक्तों की कपोल-कल्पनाएँ हैं? सबसे जटिल समस्या यह थी कि उपासना का उद्देश्य क्या है? ईश्वर क्यों मनुष्यों से अपनी उपासना करने का अनुरोध करता है, इससे उसका क्या अभिप्राय है? क्या वह अपनी ही सृष्टि से अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न होता है? वह इन प्रश्नों की मीमांसा में इतनी तल्लीन रहती कि कई-कई दिन कमरे के बाहर न निकलती, खाने-पीने की सुधि न रहती, यहाँ तक कि कभी-कभी इंदु का आना उसे बुरा मालूम होता।

एक दिन प्रातःकाल वह कोई धर्म-ग्रंथ पढ़ रही थी कि इंदु आकर बैठ गई। उसका मुख उदास था। सोफ़िया उसकी ओर आकृष्ट न हुई, पूर्ववत् पुस्तक देखने में मग्न रही। इंदु बोली—"सोफ़ी, अब यहाँ दो-चार दिन की और मेहमान हूँ, मुझे भूल तो न जाओगी?"

सोफ़ी ने बिना सिर उठाए ही कहा—"हाँ।"

इंदु—"तुम्हारा मन तो अपनी किताबों में बहल जायगा, मेरी याद भी न आएगी; पर मुझसे तुम्हारे बिना एक दिन न रहा जायगा।"

सोफ़ी ने किताब की तरफ़ देखते हुए कहा—"हाँ।"

इंदु—"फिर न-जाने कब भेंट हो। सारे दिन अकेले पड़े-पड़े बिसूरा करूँगी।"

सोफ़ी ने किताब का पन्ना उलटकर कहा—"हाँ।"

इंदु से सोफ़िया की निष्ठुरता अब न सही गई। किसी और समय वह रुष्ट होकर चली जाती, अथवा उसे स्वाध्याय में मग्न देखकर कमरे में पाँव ही न रखती; किंतु इस समय उसका कोमल हृदय वियोग-व्यथा से भरा हुआ था, उसमें मान का स्थान न था। रोकर बोली—"बहन, ईश्वर के लिये ज़रा पुस्तक बंद कर दो; चली जाऊँगी, तो फिर ख़ूब पढ़ना। वहाँ से तुम्हें छेड़ने न आऊँगी।"

सोफ़ी ने इंदु की ओर देखा, मानो समाधि टूटी! उसकी आँखों में आँसू थे, मुख उतरा हुआ, सिर के बाल बिखरे हुए। बोली—"अरे! इंदु, बात क्या है? रोती क्यों हो?"

इंदु—"तुम अपनी किताब देखो, तुम्हें किसी के रोने-धोने की क्या परवा है। ईश्वर ने न-जाने क्यों मुझे तुझ-सा हृदय नहीं दिया।"

सोफ़िया—"बहन, क्षमा करना, मैं एक बड़ी उलझन में पड़ी हुई थी। अभी तक वह गुत्थी नहीं सुलझी। मैं मूर्ति-पूजा को सर्वथा मिथ्या समझती थी। मेरा विचार था कि ऋषियों ने केवल मूर्खों की आध्यात्मिक शांति के लिये यह व्यवस्था कर दी है; लेकिन इस ग्रंथ में मूर्ति-पूजा का समर्थन ऐसी विद्वत्ता-पूर्ण युक्तियों से किया गया है कि आज से मैं मूर्ति-पूजा की क़ायल हो गई। लेखक ने इसे वैज्ञानिक सिद्धांतों से सिद्ध किया है। यहाँ तक कि मूर्तियों का आकार-प्रकार भी वैज्ञानिक नियमों ही के आधार पर अवलंबित बतलाया है।"

इंदु—"मेरे लिये बुलावा आ गया। तीसरे दिन चली जाऊँगी।"

सोफ़िया—"यह तो तुमने बुरी ख़बर सुनाई, फिर मैं यहाँ कैसे रहूँगी ?"

इस वाक्य में सहानुभूति नहीं केवल स्वहित था। किंतु इंदु ने इसका आशय यह समझा कि सोफ़ी को मेरा वियोग असह्य होगा। बोली—"तुम्हारा जी तो किताबों में बहल जायगा। हाँ, मैं तुम्हारी याद में तड़पा करूँगी। सच कहती हूँ, तुम्हारी सूरत एक क्षण के लिये भी चित्त से न उतरेगी, यह मोहिनी मूर्ति आँखों के सामने फिरा करेगी। बहन, अगर तुम्हें बुरा न लगे, तो एक याचना करूँ। क्या यह संभव नहीं हो सकता कि तुम भी कुछ दिन मेरे साथ रहो? तुम्हारे सत्संग से मेरा जीवन सार्थक हो जायगा। मैं इसके लिये तुम्हारी सदैव अनुगृहीत रहूँगी।"

सोफ़िया—"तुम्हारे प्रेम के बंधन में बँधी हुई हूँ, जहाँ चाहो, ले चलो। चाहूँ तो जाऊँगी, न चाहूँ तो भी जाऊँगी। मगर यह तो बताओ, तुमने राजा साहब से भी पूछ लिया है?"

इंदु—"यह ऐसी कौन-सी बात है, जिसके लिये उनकी अनुमति लेनी पड़े। मुझसे बराबर कहते रहते हैं कि तुम्हारे लिये एक लेडी की ज़रूरत है, अकेले तुम्हारा जी घबराता होगा। यह प्रस्ताव सुनकर फूले न समाएँगे।"

रानी जाह्नवी तो इंदु की बिदाई की तैयारियाँ कर रही थीं, और इंदु सोफ़िया के लिये लैस और कपड़े आदि ला-लाकर रखती थी। भाँति-भाँति के कपड़ों से कई संदूक़ भर दिए। वह उसे ऐसे ठाट से ले जाना चाहती थी कि घर की लौंडियाँ-बाँदियाँ उसका उचित आदर करें। प्रभु सेवक को सोफ़ी का इंदु के साथ जाना अच्छा न लगता था। उसे अब भी आशा थी कि मामी का क्रोध शांत हो जायगा, और वह सोफ़ी को गले लगाएँगी। सोफ़ी के जाने से वैमनस्य का बढ़ जाना निश्चित था। उसने सोफ़ी को समझाया;

किंतु वह इंदु का निमंत्रण अस्वीकार न करना चाहती थी। उसने प्रण कर लिया था कि अब न घर जाऊँगी।

तीसरे दिन राजा महेंद्रकुमार इंदु को बिदा कराने आए, तो इंदु ने और बातों के साथ सोफ़ी को साथ ले चलने का ज़िक्र छेड़ दिया। बोली—"मेरा जी वहाँ अकेले घबराया करता है, मिस सोफ़िया के रहने से मेरा जी बहल जायगा।"

महेंद्र०—"क्या मिस सेवक अभी तक यहीं हैं?"

इंदु—"बात यह है कि उनके धार्मिक विचार स्वतंत्र हैं, और उनके घरवाले उनके विचारों की स्वतंत्रता सहन नहीं कर सकते। इसी कारण वह अपने घर नहीं जाना चाहतीं।"

महेंद्र०—"लेकिन यह तो सोचो, उनके मेरे घर में रहने से मेरी कितनी बदनामी होगी। मि० सेवक को यह बात बुरी लगेगी, और यह नितांत अनुचित है कि मैं उनकी लड़की को, उनकी मरज़ी के बग़ैर, अपने घर में रक्खूँ। सरासर बदनामी होगी।"

इंदु—"मुझे तो इसमें बदनामी की कोई बात नहीं नज़र आती। क्या सहेली अपनी सहेली के यहाँ मेहमान नहीं होती? सोफ़ी का स्वभाव भी तो ऐसा उच्छृंखल नहीं है कि वह इधर-उधर घूमने लगेगी।"

महेंद्र०—"वह देवी सही; लेकिन ऐसे कितने ही कारण हैं कि मैं उनका तुम्हारे साथ जाना अनुचित समझता हूँ। तुममें यह बड़ा दोष है कि कोई काम करने से पहले उसके औचित्य का विचार नहीं करतीं। क्या तुम्हारे विचार में कुल-मर्यादा की अवहेलना करना कोई बुराई नहीं? उनके घरवाले यही तो चाहते हैं कि वह प्रकट रूप से अपने धर्म के नियमों का पालन करें। अगर वह इतना भी नहीं कर सकतीं, तो मैं यही कहूँगा कि उनका विचार-स्वातंत्र्य औचित्य की सीमा से बहुत आगे बढ़ गया है।"

इंदु—"किंतु मैं तो उनसे वादा कर चुकी हूँ। कई दिन से मैं इन्हीं तैयारियों में व्यस्त हूँ। यहाँ अम्मा से आज्ञा ले चुकी हूँ। घर के सभी प्राणी, नौकर-चाकर जानते हैं कि वह मेरे साथ जा रही हैं। ऐसी दशा में अगर मैं उन्हें न ले गई, तो लोग अपने मन में क्या कहेंगे? सोचिए, इसमें मेरी कितनी हेठी होगी। मैं किसी को मुँह दिखाने लायक़ न रहूँगी।"

महेंद्र०—"बदनामी से बचने के लिये सब कुछ किया जा सकता है। तुम्हें मिस सेवक से कहते शर्म आती हो, तो मैं कह दूँ। वह इतनी नादान नहीं हैं कि इतनी मोटी-सी बात न समझें।"

इंदु—"मुझे उनके साथ रहते-रहते उनसे इतना प्रेम हो गया है। कि उनसे एक दिन भी अलग रहना मेरे लिये असाध्य-सा जान पड़ता है। इसकी तो ख़ैर परवा नहीं; जानती हूँ, कभी-न-कभी उनसे वियोग होगा ही; इस समय मुझे सबसे बड़ी चिंता अपनी बात खोने की है। लोग कहेंगे, बात कहकर पलट गई। सोफ़ी ने पहले साफ़ इनकार कर दिया था। मेरे बहुत कहने-सुनने पर राज़ी हुई थी। आप मेरी ख़ातिर से अब की मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए, फिर मैं आपसे पूछे बग़ैर कोई काम न करूँगी।"

महेंद्रकुमार किसी तरह राज़ी न हुए। इंदु रोई, अनुनय-विनय की, पैरों पड़ी; वे सभी मंत्र फूँके, जो कभी निष्फल ही नहीं होते; पर पति का पाषाण-हृदय न पसीजा। उन्हें अपना नाम संसार की सब वस्तुओं से प्रिय था।

जब महेंद्रकुमार बाहर चले गए, तो इंदु बहुत देर तक शोकावस्था में बैठी रही। बार-बार यही ख़याल आता—सोफ़ी अपने मन में क्या कहेगी। मैंने उससे कह रक्खा है कि मेरे स्वामी मेरी कोई बात नहीं टालते। अब वह समझेगी, वह इसकी बात भी नहीं पूछते। बात भी ऐसी ही है, इन्हें मेरी क्या परवा है। बातें

ऐसी करेंगे, मानो इनसे उदार संसार में कोई प्राणी न होगा, पर यह सब कोरा बकवास है। इन्हें तो यही मंज़ूर है कि यह दिन-भर अकेली बैठी अपने नाम को रोया करे। दिल में जलते होंगे कि सोफ़ी के साथ इसके दिन भी आराम से गुज़रेंगे। मुझे क़ैदियों की भाँति रखना चाहते हैं। इन्हें ज़िद करना आता है, तो मैं क्या ज़िद नहीं कर सकती। मैं भी कहे देती हूँ, आप सोफ़ी को न चलने देंगे, तो मैं भी न जाऊँगी। मेरा कर ही क्या सकते हैं, कुछ नहीं। दिल में डरते हैं कि सोफ़ी के जाने से घर का ख़र्च बढ़ जायगा। स्वभाव के कृपण तो हैं ही। उस कृपणता को छिपाने के लिये बदनामी का बहाना निकाला है। दुखी आत्मा दूसरों की नेकनीयती पर संदेह करने लगती है।

संध्या-समय जब जाह्नवी सैर करने चलीं, तो इंदु ने उससे यह समाचार कहा, और आग्रह किया कि तुम महेंद्र को समझाकर सोफ़ी को ले चलने पर राज़ी कर दो। जाह्नवी ने कहा—"तुम्हीं क्यों नहीं मान जातीं?"

इंदु—"अम्मा, मैं सच्चे हृदय से कह रही हूँ, मैं ज़िद नहीं करती। अगर मैंने पहले ही सोफ़िया से न कह दिया होता, तो मुझे ज़रा भी दुख न होता; पर सारी तैयारियाँ करके अब उसे न ले जाऊँ, तो वह अपने दिल में क्या कहेगी। मैं उसे मुँह नहीं दिखा सकती। यह इतनी छोटी-सी बात है कि अगर मेरा ज़रा भी ख़याल होता, तो वह इनकार न करते। ऐसी दशा में आप क्योंकर आशा कर सकती हैं कि मैं उनकी प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य करूँ।"

जाह्नवी—"वह तुम्हारे स्वामी हैं, उनकी सभी बातें तुम्हें माननी पड़ेंगी।"

इंदु—"चाहे वह मेरी ज़रा-ज़रा-सी बातें भी न मानें?"

जाह्नवी—"हाँ, उन्हें इसका अख़्तियार है। मुझे लज्जा आती

कि मेरे उपदेशों का तुम्हारे ऊपर ज़रा भी असर नहीं हुआ। मैं तुम्हें पति-परायणा सती देखना चाहती हूँ। जिसे अपने पुरुष की आज्ञा या इच्छा के सामने अपने मानापमान का ज़रा भी विचार नहीं होता। अगर वह तुम्हें सिर के बल चलने को कहें, तो भी तुम्हारा धर्म है कि सिर के बल चलो। तुम इतने ही में घबरा गईं?"

इंदु—"आप मुझसे वह करने को कहती हैं, जो मेरे लिये असंभव है।"

जाह्नवी—"चुप रहो, मैं तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें नहीं सुन सकती। मुझे भय हो रहा है कि कहीं सोफ़ी के विचार-स्वातंत्र्य का जादू तुम्हारे ऊपर भी तो नहीं चल गया।"

इंदु ने इसका कुछ उत्तर न दिया। भय होता था कि मेरे मुँह से कोई ऐसा शब्द न निकल पड़े, जिससे अम्मा के मन में यह संदेह और भी जम जाय, तो बेचारी सोफ़ी का यहाँ रहना ही कठिन हो जाय। वह रास्ते-भर मौन धारण किए बैठी रही। जब गाड़ी फिर मकान पर पहुँची, और वह उतरकर अपने कमरे की ओर चली तो जाह्नवी ने कहा—"बेटी, मैं तुमसे हाथ जोड़कर कहती हूँ, महेंद्र से इस विषय में अब एक शब्द भी न कहना, नहीं तो मुझे बहुत दुख होगा।"

इंदु ने माता को मर्माहत भाव से देखा, और अपने कमरे में चली गई। सौभाग्य से महेंद्रकुमार भोजन करके सीधे बाहर चले गए, नहीं तो इंदु के लिये अपने उद्गारों का रोकना अत्यंत कठिन हो जाता। उसके मन में रह-रहकर इच्छा होती थी कि चलकर सोफ़िया से क्षमा माँगूँ, साफ़-साफ़ कह दूँ—बहन, मेरा कुछ बस नहीं है, मैं कहने को रानी हूँ, वास्तव में मुझे उतनी स्वाधीनता भी नहीं है, जितनी मेरे घर की महरियों को है। लेकिन यह सोचकर रह जाती थी कि पति-निंदा मेरी धर्म-मर्यादा के प्रतिकूल है। मैं सोफ़ी की निगाहों

में गिर जाऊँगी। वह समझेगी, इसमें ज़रा भी आत्माभिमान नहीं है।

नौ बजे विनयसिंह उससे मिलने आए। वह मानसिक अशांति की दशा में बैठी हुई अपने संदूकों में से सोफ़ी के लिये ख़रीदे हुए कपड़े निकाल रही थी, और सोच रही थी कि इन्हें उसके पास कैसे भेजूँ। ख़ुद जाने का साहस न होता था। विनयसिंह को देखकर बोली—"क्यों विनय, अगर तुम्हारी स्त्री अपनी किसी सहेली को कुछ दिनों के लिये अपने साथ रखना चाहे, तो तुम उसे मना कर दोगे, या ख़ुश होगे?"

विनय—"मेरे सामने यह समस्या कभी आएगी ही नहीं, इसलिये मैं इसकी कल्पना करके अपने मस्तिष्क को कष्ट नहीं देना चाहता।"

इंदु—"यह समस्या तो पहले ही उपस्थित हो चुकी है।"

विनय—"बहन, मुझे तुम्हारी बातों से डर लग रहा है।"

इंदु—"इसीलिये कि तुम अपने को धोखा दे रहे हो; लेकिन वास्तव में तुम उससे बहुत गहरे पानी में हो, जितना तुम समझते हो। क्या तुम समझते हो कि तुम्हारा कई-कई दिनों तक घर में न आना, नित्य सेवा-समिति के कामों में व्यस्त रहना, मिस सोफ़िया की ओर आँख उठाकर न देखना, उसके साए से भागना, उस अंतर्द्वंद्व को छिपा सकता है, जो तुम्हारे हृदय-तल में विकराल रूप से छिड़ा हुआ है? लेकिन याद रखना, इस द्वंद्व की एक झंकार भी न सुनाई दे, नहीं तो अनर्थ हो जायगा। सोफ़िया तुम्हारा इतना सम्मान करती है, जितना कोई सती अपने पुरुष का भी न करती होगी। वह तुम्हारी भक्ति करती है। तुम्हारे संयम, त्याग और सेवा ने उसे मोहित कर लिया है। लेकिन, अगर मुझे धोखा नहीं हुआ है, तो उसकी भक्ति में प्रणय का लेश भी नहीं है। यद्यपि तुम्हें सलाह

देना व्यर्थ है, क्योंकि तुम इस मार्ग की कठिनाइयों को ख़ूब जानते हो, तथापि मैं तुमसे यही अनुरोध करती हूँ कि तुम कुछ दिनों के लिये कहीं चले जाओ। तब तक कदाचित् सोफ़ी भी अपने लिये कोई-न-कोई रास्ता ढूँढ निकालेगी। संभव है, इस समय सचेत हो जाने से दो जीवनों का सर्वनाश होने से बच जाय।"

विनय--"बहन, जब तुम सब कुछ जानती ही हो, तो तुमसे क्या छिपाऊँ। अब मैं सचेत नहीं हो सकता। इन चार-पाँच महीनों में मैंने जो मानसिक ताप सहन किया है, उसे मेरा हृदय ही जनता है। मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, मैं आँखें खोलकर गड्ढे में गिर रहा हूँ, जान-बूझकर विष का प्याला पी रहा हूँ। कोई बाधा, कोई कठिनाई, कोई शंका अब मुझे सर्वनाश से नहीं बचा सकती। हाँ, इसका मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि इस आग की एक चिनगारी या एक लपट भी सोफ़ी तक न पहुँचेगी। मेरा सारा शरीर भस्म हो जाय, हड्डियाँ तक राख हो जायँ; पर सोफ़ी को उस ज्वाला की झलक तक न दिखाई देगी। मैंने भी यही निश्चय किया है कि जितनी जल्दी हो सके, मैं यहाँ से चला जाऊँ--"अपनी रक्षा के लिये नहीं, सोफ़ी की रक्षा के लिये। आह! इससे तो यह कहीं अच्छा था कि सोफ़ी ने मुझे उसी आग में जल जाने दिया होता; मेरा परदा ढका रह जाता। अगर अम्मा को यह बात मालूम हो गई, तो उनकी क्या दशा होगी। इसकी कल्पना ही से मेरे रोएँ खड़े हो जाते हैं। बस, अब मेरे लिये मुँह में कालिख लगाकर कहीं डूब मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं है।"

यह कहकर विनयसिंह सहसा बाहर चले गए। इंदु 'बैठो-बैठो' कहती रह गई। वह इस समय आवेश में उससे बहुत ज़्यादा कह गए थे, जितना वह कहना चाहते थे। और देर तक बैठते, तो न-जाने और क्या-क्या कह जाते। इंदु की दशा उस प्राणी की-सी थी,

जिसके पैर बँधे हों, और सामने उसका घर जल रहा हो। वह देख रही थी, यह आग सारे घर को जला देगी; विनय के ऊँचे-ऊँचे मंसूबे, माता की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ, पिता के बड़े-बड़े अनुष्ठान, सब विध्वंस हो जायँगे। वह इन्हीं शोकमय विचारों में पड़ी सारी रात करवटें बदलती रही। प्रातःकाल उठी, तो द्वार पर उसके लिये पालकी तैयार खड़ी थी। वह माता के गले से लिपटकर रोई, पिता के चरणों को आँसुओं से धोया, और घर से चली। रास्ते में सोफ़ी का कमरा पड़ता था। इंदु ने उस कमरे की ओर ताका भी नहीं। सोफ़ी उठकर द्वार पर आई, और आँखों में आँसू भरे हुए उससे हाथ मिलाया। इंदु ने जल्दी से हाथ छुड़ा लिया, और आगे बढ़ गई।

[६]

सोफ़िया इस समय उस अवस्था में थी, जब एक साधारण हँसी की बात, एक साधारण आँखों का इशारा, किसी का उसे देखकर मुस्किरा देना, किसी महरी का उसकी आज्ञा का पालन करने में एक क्षण विलंब करना, ऐसी हज़ारों बातें, जो नित्य घरों में होती रहती हैं, और जिनकी कोई परवा भी नहीं करता, उसका दिल दुखाने के लिये काफ़ी हो सकती थीं। चोट खाए हुए अंग को मामूली-सी ठेस भी असह्य हो जाती है। फिर इंदु का बिना उससे कुछ कहे-सुने चला जाना क्यों न दुःख-जनक होता। इंदु तो चली गई; पर वह बहुत देर तक अपने कमरे के द्वार पर मूर्ति की भाँति खड़ी सोचती रही—यह तिरस्कार क्यों? मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है, जिसका मुझे यह दंड मिला है? अगर उसे यह मंज़ूर न था कि मुझे साथ ले जाती, तो साफ़-साफ़ कह देने में क्या आपत्ति थी? मैंने उसके साथ चलने के लिये आग्रह तो किया न था! क्या मैं इतना नहीं जानती कि विपत्ति में कोई किसी का साथी नहीं होता। वह रानी है, उसकी इतनी ही कृपा क्या कम थी कि मेरे साथ हँस-बोल लिया करती थी। मैं उसकी सहेली बनने के योग्य कब थी; क्या मुझे इतनी समझ भी न थी। लेकिन इस तरह आँखें फेर लेना कौन-सी भलमंसी है। राजा साहब ने न माना होगा, यह केवल बहाना है। राजा साहब इतनी-सी बात को कभी अस्वीकार नहीं कर सकते। इंदु ने ख़ुद ही कुछ सोचा होगा—वहाँ बड़े-बड़े आदमी मिलने आवेंगे, उनसे इसका परिचय क्योंकर कराऊँगी। कदाचित् यह शंका हुई हो कि कहीं इसके सामने मेरा रंग न फीका पड़ जाय,

बस यही बात है, अगर मैं मूर्खा, रूप-गुण-विहीना होती, तो वह मुझे ज़रूर साथ ले जाती; मेरी हीनता से उसका रंग और चमक उठता। मेरा दुर्भाग्य !"

वह अभी द्वार पर खड़ी ही थी कि जाह्नवी बेटी को बिदा करके लौटीं, और सोफ़ी के कमरे में आकर बोलीं—"बेटी, मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने ही तुम्हें रोक लिया। इंदु को बुरा लगा, पर करूँ क्या, वह तो गई ही, तुम भी चली जातीं, तो मेरा दिन कैसे कटता। विनय भी राजपूताना जाने को तैयार बैठे हैं, मेरी तो मौत हो जाती। तुम्हारे रहने से मेरा दिल बहलता रहेगा। सच कहती हूँ बेटी, तुमने मुझ पर कोई मोहिनी-मंत्र फूँक दिया है।"

सोफ़िया—"आपकी शालीनता है, जो ऐसा कहती हैं। मुझे खेद यही है, इंदु ने जाते समय मुझसे हाथ भी न मिलाया।"

जाह्नवी—"केवल लज्जा-वश बेटी, केवल लज्जा-वश। मैं तुझसे सत्य कहती हूँ, ऐसी सरल बालिका संसार में न होगी। तुझे रोककर मैंने उस पर घोर अन्याय किया है। मेरी बच्ची का वहाँ ज़रा भी जी नहीं लगता; महीने-भर रह जाती है, तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इतनी बड़ी रियासत है, महेंद्र सारा बोझ उसी के सिर डाल देते हैं। उन्हें तो म्युनिसिपैलिटी ही से फ़ुरसत नहीं मिलती। बेचारी आय-व्यय का हिसाब लिखते-लिखते घबरा जाती है, उस पर एक-एक पैसे का हिसाब ! महेंद्र को हिसाब रखने की धुन है। ज़रा-सा भी फ़र्क़ पड़ा, तो उसके सिर हो जाते हैं। इंदु को अधिकार है, जितना चाहे ख़र्च करे, पर हिसाब ज़रूर लिखे। राजा साहब किसी की रू-रियायत नहीं करते। कोई नौकर एक पैसा भी खा जाय, तो उसे निकाल देते हैं; चाहे उसने उनकी सेवा में अपना जीवन बिता दिया हो। यहाँ मैं इंदु को कभी कड़ी निगाह से भी नहीं देखती, चाहे घी का घड़ा लुढ़का दे। वहाँ ज़रा-ज़रा-सी बात पर

राजा साहब की घुड़कियाँ सुननी पड़ती हैं। बच्चों से बात नहीं सही जाती। जवाब तो देती नहीं—और यहीं हिंदू-स्त्री का धर्म है—पर रोने लगती है। वह दया की मूर्ति है। कोई उसका सर्वस्व खा जाय, लेकिन ज्यों ही उसके सामने आकर रोया, बस उसका दिल पिघला। सोफ़ी, भगवान् ने मुझे दो बच्चे दिए, और दोनो ही को देखकर हृदय शीतल हो जाता है। इंदु जितनी ही कोमल-प्रकृति और सरल-हृदया है, विनय उतना ही धर्मशील और साहसी है। बकना तो जानता ही नहीं। मालूम होता है, दूसरों की सेवा करने के लिये ही उसका जन्म हुआ है। घर में किसी टहलनी को भी कोई शिकायत हुई, और सब काम छोड़कर उसकी दवा-दारू करने लगा। एक बार मुझे ज्वर आने लगा था। इस लड़के ने तीन महीने तक द्वार का मुँह नहीं देखा। नित्य मेरे पास बैठा रहता, कभी पंखा झलता, कभी पाँव सहलाता, कभी रामायण और महाभारत पढ़कर सुनाता। कितना कहती, बेटा, जाओ घूमो-फिरो; आख़िर ये लौंडियाँ-बाँदियाँ किस दिन काम आएँगी, डॉक्टर रोज़ आते ही हैं, तुम क्यों मेरे साथ सती होते हो; पर किसी तरह न जाता। अब कुछ दिनों से सेवा-समिति का आयोजन कर रहा है। कुँअर साहब को जो सेवा-समिति से इतना प्रेम है, वह विनय ही के सत्संग का फल है; नहीं तो आज के तीन साल पहले इनका-सा विलासी सारे नगर में न था। दिन में दो चार हजामत बनती थी। दरजनों धोबी और दर्ज़ी कपड़े धोने और सीने के लिये नौकर थे। पेरिस से एक कुशल धोबी कपड़े सँवारने के लिये आया था। कश्मीर और इटली के बावरची खाना पकाते थे। तसवीरों का इतना व्यसन था कि कई बार अच्छे चित्र लेने के लिये इटली तक की यात्रा की। तुम उन दिनों मसूरी रही होगी। सैर करने निकलते, तो सशस्त्र सवारों का एक दल साथ

चलता। शिकार खेलने की लत थी ; महीनों शिकार खेलते रहते। कभी कश्मीर, कभी बीकानेर, कभी नैपाल, केवल शिकार खेलने जाते। विनय ने उनकी काया ही पलट दी। जन्म का विरागी है। पूर्व-जन्म में अवश्य कोई ऋषि रहा होगा।"

सोफ़ी—"आपके दिल में सेवा और भक्ति के इतने ऊँचे भाव कैसे जाग्रत् हुए? यहाँ तो प्रायः रानियाँ अपने भोग-विलास में ही मग्न रहती हैं।"

जाह्नवी—"बेटी, यह डॉक्टर गंगुली के सदुपदेश का फल है। जब इंदु दो साल की थी, तो मैं बीमार पड़ी। डॉक्टर गंगुली मेरी दवा करने के लिये आए। हृदय का रोग था, जी घबराया करता; मानो किसी ने उच्चाटन-मंत्र मार दिया हो। डॉक्टर महोदय ने मुझे महाभारत पढ़कर सुनाना शुरू किया। उसमें मेरा ऐसा जी लगा कि कभी-कभी आधी रात तक बैठी पढ़ा करती। थक जाती, तो डॉक्टर साहब से पढ़वाकर सुनती। फिर तो वीरता-पूर्ण कथाओं के पढ़ने का मुझे ऐसा चस्का लगा कि राजपूतों की ऐसी कोई कथा नहीं, जो मैंने न पढ़ी हो। उसी समय से मेरे मन में जाति-प्रेम का भाव अंकुरित हुआ। एक नई अभिलाषा उत्पन्न हुई—मेरी कोख से भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भाँति जाति का मस्तक ऊँचा करता। मैंने व्रत किया कि पुत्र हुआ, तो उसे देश और जाति के हित के लिये समर्पित कर दूँगी। मैं उन दिनों तपस्विनी की भाँति ज़मीन पर सोती, केवल एक बार रूखा भोजन करती, अपने बरतन तक अपने हाथ से धोती थी। एक वे देवियाँ थीं, जो जाति की मर्यादा रखने के लिये प्राण तक दे देती थीं; एक मैं अभागिनी हूँ कि लोक-परलोक की सब चिंताएँ छोड़कर केवल विषय-वासनाओं में लिप्त हूँ। मुझे जाति की इस अधोगति को देखकर अपनी विलासिता पर

लज्जा आती थी। ईश्वर ने मेरी सुन ली। तीसरे साल विनय का जन्म हुआ। मैंने बाल्यावस्था ही से उसे कठिनाइयों का अभ्यास कराना शुरू किया। न कभी गद्दों पर सुलाती, न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने देती, न कभी मेवे खाने देती। दस बर्ष की अवस्था तक केवल धार्मिक कथाओं द्वारा उसकी शिक्षा हुई। इसके बाद मैंने उसे डॉक्टर गंगुली के साथ छोड़ दिया। मुझे उन्हीं पर पूरा विश्वास था, और मुझे इसका गर्व है कि विनय की शिक्षा-दीक्षा का भार जिस पुरुष पर रक्खा, वह इसके सर्वथा योग्य था। विनय पृथ्वी के अधिकांश प्रांतों का पर्यटन कर चुका है। संस्कृत और भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त योरप की प्रधान भाषाओं का उसे अच्छा ज्ञान है। संगीत का उसे इतना अभ्यास है कि अच्छे-अच्छे कलावत उसके सामने मुँह खोलने का साहस नहीं कर सकते। नित्य कंबल बिछाकर ज़मीन पर सोता है, और कंबल ही ओढ़ता है। पैदल चलने में कई बार इनाम पा चुका है। जल-पान के लिये मुट्ठी-भर चने, भोजन के लिये रोटी और साग, बस इसके सिवा संसार के और सभी भोज्य पदार्थ उसके लिये वर्जित-से हैं। बेटी, मैं तुझसे कहाँ तक कहूँ, पूरा त्यागी है। उसके त्याग का सबसे उत्तम फल यह हुआ कि उसके पिता को भी त्यागी बनना पड़ा। जवान बेटे के सामने बूढ़ा बाप कैसे विलास का दास बना रह सकता। मैं समझती हूँ कि विषय-भोग से उनका मन तृप्त हो गया, और बहुत अच्छा हुआ। त्यागी पुत्र का भोगी पिता अत्यंत हास्यास्पद दृश्य होता। वह मुक्त-हृदय से विनय के सत्कार्यों में भाग लेते हैं, और मैं कह सकती हूँ कि उनके अनुराग के बग़ैर विनय को कभी इतनी सफलता न प्राप्त होती। समिति में इस समय एक सौ नवयुवक हैं, जिनमें कितने ही सपन्न घरानों के हैं। कुँअर साहब की इच्छा है कि समिति के सदस्यों की पूर्ण संख्या

पाँच सौ तक बढ़ा दी जाय। डॉक्टर गंगुली इस वृद्धावस्था में भी अदम्य उत्साह से समिति का संचालन करते हैं। वही इसके अध्यक्ष हैं। जब व्यवस्थापक सभा के काम से अवकाश मिलता है, तो नित्य दो-ढाई घंटे युवकों को शरीर-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देते हैं। पाठ्य क्रम तीन वर्षों में समाप्त हो जाता है; तब सेवा-कार्य आरंभ होता है। अब की बीस युवक उत्तीर्ण होंगे, और यह निश्चय किया गया है कि वे दो साल भारत का भ्रमण करें; पर शर्त यह है कि उनके साथ एक लुटिया, डोर, धोती और कंबल के सिवा और सफ़र का सामान न हो। यहाँ तक कि ख़र्च के लिये रुपए भी न रक्खे जायँ। इससे कई लाभ होंगे—युवकों को कठिनाइयों का अभ्यास होगा, देश की यथार्थ दशा का ज्ञान होगा, दृष्टि-क्षेत्र विस्तीर्ण हो जायगा, और सबसे बड़ी बात यह कि चरित्र बलवान् होगा, धैर्य, साहस, उद्योग, संकल्प आदि गुणों की वृद्धि होगी। विनय इन लोगों के साथ जा रहा है, और मैं गर्व से फूली नहीं समाती कि मेरा पुत्र जाति-हित के लिये यह आयोजन कर रहा है; और तुमसे सच कहती हूँ, अगर कोई ऐसा अवसर आ पड़े कि जाति-रक्षा के लिये उसे प्राण भी देना पड़ा, तो मुझे ज़रा भी शोक न होगा। शोक तब होगा, जब मैं उसे ऐश्वर्य के सामने सिर झुकाते या कर्तव्य के क्षेत्र में पीछे हटते देखूँगी। ईश्वर न करे, मैं वह दिन देखने के लिये जीवित रहूँ। मैं नहीं कह सकती कि उस वक्त मेरे चित्त की क्या दशा होगी। शायद मैं विनय के रक्त की प्यासी हो जाऊँ, शायद इन निर्बल हाथों में इतनी शक्ति आ जाय कि मैं उसका गला घोट दूँ।"

यह कहते-कहते रानी के मुख पर एक विचित्र तेजस्विता की झलक दिखाई देने लगी, अश्रु-पूर्ण नेत्रों में आत्मगौरव की लालिमा प्रस्फुटित होने लगी। सोफ़िया आश्चर्य से रानी का मुँह ताकने

लगा। इस कोमल काया में इतना अनुरक्त और परिष्कृत हृदय छिपा हुआ है, इसकी वह कल्पना भी न कर सकती थी।

एक क्षण में रानी ने फिर कहा—"बेटी, मैं आवेश में तुमसे अपने दिल की कितनी ही बातें कह गई; पर क्या करूँ, तुम्हारे मुख पर ऐसी मधुर सरलता है, जो मेरे मन को आकर्षित करती है। इतने दिनों में मैंने तुम्हें ख़ूब पहचान लिया। तुम सोफ़ी नहीं, स्त्री के रूप में विनय हो। कुँअर साहब तो तुम्हारे ऊपर मोहित हो गए हैं। घर में आते हैं, तो तुम्हारी चर्चा ज़रूर करते हैं। यदि धार्मिक बाधा न होती, तो (मुस्किराकर) उन्होंने मिस्टर सेवक के पास विनय के विवाह का संदेसा कभी का भेज दिया होता।"

सोफ़ी का चेहरा शर्म से लाल हो गया, लंबी-लंबी पलकें नीचे को झुक गईं, और अधरों पर एक अति सूक्ष्म, शांत, मृदुल मुसकान की छटा दिखाई दी। उसने दोनो हाथों से मुँह छिपा लिया, और बोली—"आप मुझे गालियाँ दे रही हैं, मैं भाग जाऊँगी।"

रानी—"अच्छा, शर्माओ मत, लो, यह चर्चा ही न करूँगी। मेरा तुमसे यही अनुरोध है कि अब तुम्हें यहाँ किसी बात का संकोच न करना चाहिए। इंदु तुम्हारी सहेली थी, तुम्हारे स्वभाव से परिचित थी, तुम्हारी आवश्यकताओं को समझती थी। मुझमें इतनी बुद्धि नहीं। तुम इस घर को अपना घर समझो, जिस चीज़ की ज़रूरत हो, निस्संकोच भाव से कह दो। अपनी इच्छा के अनुसार भोजन बनवा लो। जब सैर करने को जी चाहे, गाड़ी तैयार करा लो। किसी नौकर को कहीं भेजना चाहो, भेज दो; मुझसे कुछ पूछने की ज़रूरत नहीं। मुझसे कुछ कहना हो, तुरंत चली आओ; पहले से सूचना देने का काम नहीं। यह कमरा अगर पसंद न हो, तो मेरे बग़लवाले कमरे में चलो, जिसमें इंदु रहती थी। वहाँ जब मेरा जी चाहेगा, तुमसे बातें कर लिया करूँगी। जब अवकाश

हो, मुझे इधर-उधर के समाचार सुना देना। बस, यह समझो कि तुम मेरी प्राइवेट सेक्रेटरी हो।"

यह कहकर जाह्नवी चली गईं। सोफ़ी का हृदय हलका हो गया। उसे बड़ी चिंता हो रही थी कि इंदु के चले जाने पर यहाँ मैं कैसे रहूँगी, कौन मेरी बात पूछेगा, बिन-बुलाए मेहमान की भाँति पड़ी रहूँगी। यह चिंता शांत हो गई।

उस दिन से उसका और भी आदर-सत्कार होने लगा। लौंडियाँ उसका मुँह जोहती रहतीं, बार-बार आकर पूछ जातीं—"मिस साहब, कोई काम तो नहीं है?" कोचवान दोनो जून पूछ जाता—"हुक्म हो, तो गाड़ी तैयार करूँ।" रानीजी भी दिन में एक बार ज़रूर आ बैठतीं। सोफ़ी को अब मालूम हुआ कि उनका हृदय स्त्री-जाति के प्रति सदिच्छाओं से कितना परिपूर्ण था। उन्हें भारत की देवियों को ईंट और पत्थर के सामने सिर झुकाते देखकर हार्दिक वेदना होती थी। वह उनके जड़वाद को, उनके मिथ्यावाद को, उनके स्वार्थवाद को भारत की अधोगति का मुख्य कारण समझती थीं। इन विषयों पर सोफ़ी से घंटों बातें किया करतीं।

इस कृपा और स्नेह ने धीरे-धीरे सोफ़ी के दिल से बिरानेपन के भावों को मिटाना शुरू किया। उसके आचार-विचार में परिवर्तन होने लगा। लौंडियों से कुछ कहते हुए अब झेप न होती, भवन के किसी भाग में जाते हुए अब संकोच न होता; किंतु चिंताएँ ज्यों-ज्यों घटती थीं, विलास-प्रियता बढ़ती थी। उसके अवकाश की मात्रा में वृद्धि होने लगी। विनोद में रुचि होने लगी। कभी-कभी प्राचीन कवियों के चित्रों को देखती, कभी बाग़ की सैर करने चली जाती, कभी प्यानो पर जा बैठती; यहाँ तक कि कभी-कभी जाह्नवी के साथ शतरंज भी खेलने लगी। वस्त्राभूषण से अब वह उदासीनता न रही। गाउन के बदले रेशमी साड़ियाँ

पहनने लगी। रानीजी के आग्रह से कभी-कभी पान भी खा लेती। कंघा-चोटी से प्रेम हुआ। चिंता त्यागमूलक होती है। निश्चितता का आमोद-विनोद से मेल है।

एक दिन, तीसरे पहर, वह अपने कमरे में बैठी हुई कुछ पढ़ रही थी। गरमी इतनी सख्त थी कि बिजली के पंखे और ख़स की टट्टियों के होते हुए भी शरीर से पसीना निकल रहा था। बाहर लू से देह झुलसी जाती थी। सहसा प्रभु सेवक आकर बोले—"सोफ़ी, ज़रा चलकर एक झगड़े का निर्णय कर दो। मैंने एक कविता लिखी है, विनयसिंह को उसके विषय में कई शंकाएँ हैं। मैं कुछ कहता हूँ, वह कुछ कहते हैं; फ़ैसला तुम्हारे ऊपर छोड़ा गया है। ज़रा चलो।"

सोफ़ी—"मैं काव्य-संबंधी विवाद का क्या निर्णय करूँगी, पिंगल का अक्षर तक नहीं जानती, अलंकारों का लेश-मात्र भी ज्ञान नहीं। मुझे व्यर्थ ले जाते हो।"

प्रभु सेवक—"उस झगड़े का निर्णय करने के लिये पिंगल जानने की ज़रूरत नहीं। मेरे और उनके आदर्श में विरोध है। चलो तो।"

सोफ़ी आँगन में निकली, तो ज्वाला-सी देह में लगी। जल्दी-जल्दी पग उठाते हुए विनय के कमरे में आई, जो राजभवन के दूसरे भाग में था। आज तक वह यहाँ कभी न आई थी। कमरे में कोई सामान न था। केवल एक कंबल बिछा हुआ था, और ज़मीन ही पर दस-पाँच पुस्तकें रक्खी हुई थीं। न पंखा, न ख़स की टट्टी, न परदे, न तस्वीरें। पछुआ सीधे कमरे में आती थी। कमरे की दीवारें जलते तवे की भाँति तप रही थीं। वहीं विनय कंबल पर सिर झुकाए बैठे हुए थे। सोफ़ी को देखते ही वह उठ खड़े हुए, और उसके लिये कुर्सी लाने दौड़े।

सोफ़ी—"कहाँ जा रहे हैं?"

प्रभु सेवक—(मुस्किराकर) "तुम्हारे लिये कुर्सी लाने।"

सोफ़ी—"वह कुर्सी लाएँगे, और मैं बैठूँगी ! कितनी भद्दी बात है।"

प्रभु सेवक—"मैं रोकता भी, तो वह न मानते।"

सोफ़ी—"इस कमरे में इनसे कैसे रहा जाता है।"

प्रभु सेवक—"पूरे योगी हैं। मैं तो प्रेम-वश चला आता हूँ।"

इतने में विनय ने एक गद्दे दार कुर्सी लाकर सोफ़ी के लिये रख दी। सोफ़ी संकोच और लज्जा से गड़ी जा रही थी। विनय की ऐसी दशा हो रही थी, मानो पानी में भीग रहे हैं। सोफ़ी मन में कहती था—कैसा आदर्श जीवन है ! विनय मन में कहते थे—कितना अनुपम सौंदर्य है ! दोनो अपनी-अपनी जगह खड़े रहे। आख़िर विनय को एक उक्ति सूझी। प्रभु सेवक की ओर देखकर बोले—"हम और तुम वादी हैं, खड़े रह सकते हैं, पर न्यायाधीश को तो उच्च स्थान पर बैठना ही उचित है।"

सोफ़ी ने प्रभु सेवक की ओर ताकते हुए उत्तर दिया— खेल में बालक अपने को भूल नहीं जाता।"

अंत में तीनो प्राणी कंबल पर बैठे। प्रभु सेवक ने अपनी कविता पढ़ सुनाई। कविता माधुर्य में डूबी हुई, उच्च और पवित्र भावों से परिपूर्ण थी। कवि ने प्रसाद-गुण कूट-कूटकर भर दिया था। विषय था—'एक माता का अपनी पुत्री को आशीर्वाद।' पुत्री ससुराल जा रही है; माता उसे गले लगाकर आशीर्वाद देती है—"पुत्री, तू पति-परायणा हो, तेरी गोद फले, उसमें फूल के-से कोमल बच्चे खेलें, उनकी मधुर हास्य-ध्वनि से तेरा घर और आँगन गूँजे। तुझ पर लक्ष्मी की कृपा हो। तू पत्थर भी छुए, तो कंचन हो जाय। तेरा पति तुझ पर उसी भाँति अपने प्रेम की छाया रक्खे, जैसे छप्पर दीवार को अपनी छाया में रखता है।"

कवि ने इन्हीं भावों के अंतर्गत दांपत्य जीवन का ऐसा सुललित

चित्र खींचा था कि उसमें प्रकाश, पुष्प और प्रेम का आधिक्य था ; कहीं वे अँधेरी घाटियाँ न थीं, जिनमें हम गिर पड़ते हैं ; कहीं वे काँटे न थे, जो हमारे पैरों में चुभते हैं ; कहीं वह विकार न था, जो हमें मार्ग से विचलित कर देता है। कविता समाप्त करके प्रभु सेवक ने विनयसिंह से कहा—"अब आपको इसके विषय में जो कुछ कहना हो, कहिए।"

विनयसिंह ने सकुचाते हुए उत्तर दिया—"मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका।"

प्रभु सेवक—"फिर से कहिए।"

विनयसिंह—"बार-बार वही बातें क्या कहूँ।"

प्रभु सेवक—"मैं आपके कथन का भावार्थ कर दूँ ?"

विनयसिंह—"मेरे मन में एक बात आई, कह दी ; आप व्यर्थ उसे इतना बढ़ा रहे हैं।"

प्रभु सेवक—"आख़िर आप उन भावों को सोफ़ी के सामने प्रकट करते क्यों शर्माते हैं ?"

विनयसिंह—'शर्माता नहीं हूँ ; लेकिन मेरा आपसे कोई विवाद नहीं है। आपको मानव-जीवन का यह आदर्श सर्वोत्तम प्रतीत होता है, मुझे वह अपनी वर्तमान अवस्था के प्रतिकूल जान पड़ता है। इसमें झगड़े की कोई बात नहीं है।"

प्रभु सेवक—(हँसकर) "हाँ, यही तो मैं आपसे कहवाना चाहता हूँ कि आप उसे वर्तमान अवस्था के प्रतिकूल क्यों समझते हैं ? क्या आपके विचार में दांपत्य जीवन सर्वथा निंद्य है ? और, क्या संसार के समस्त प्राणियों को संन्यास धारण कर लेना चाहिए ?"

विनयसिंह—"यह मेरा आशय कदापि नहीं कि संसार के समस्त प्राणियों को संन्यास धारण कर लेना चाहिए ; मेरा आशय केवल यह था कि दांपत्य जीवन स्वार्थपरता का पोषक है।

इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं, और इस अधोगति की दशा में, जब कि स्वार्थ हमारी नसों में कूट-कूटकर भरा हुआ है, जब कि हम बिना स्वार्थ के कोई काम या कोई बात नहीं करते, यहाँ तक कि माता-पुत्र-संबंध में—गुरु-शिष्य-संबंध में—पत्नी-पुरुष-संबंध में स्वार्थ का प्राधान्य हो गया है, किसी उच्च कोटि के कवि के लिये दांपत्य जीवन की सराहना करना—उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधना—शोभा नहीं देता। हम दांपत्य सुख के दास हो रहे हैं। हमने इसी को अपने जीवन का लक्ष्य समझ रक्खा है। इस समय हमें ऐसे व्रतधारियों की, त्यागियों की, परमार्थ-सेवियों की आवश्यकता है, जो जाति के उद्धार के लिये अपने प्राण तक दे दें। हमारे कविजनों को इन्हीं उच्च और पवित्र भावों को उत्तेजित करना चाहिए। हमारे देश में जन-संख्या ज़रूरत से ज़्यादा हो गई है। हमारी जननी संतान-वृद्धि के भार को अब नहीं सँभाल सकती। विद्यालयों में, सड़कों पर, गलियों में इतने बालक दिखाई देते हैं कि समझ में नहीं आता, ये क्या करेंगे। हमारे देश में इतनी उपज भी नहीं होती कि सबके लिये एक बार इच्छा-पूर्ण भोजन भी प्राप्त हो। भोजन का अभाव ही हमारे नैतिक और आर्थिक पतन का मुख्य कारण है। आपकी कविता सर्वथा असामयिक है। मेरे विचार में इससे समाज का उपकार नहीं हो सकता। इस समय हमारे कवियों का कर्तव्य है त्याग का महत्त्व दिखाना, ब्रह्मचर्य का अनुराग उत्पन्न करना, आत्मनिग्रह का उपदेश करना। दांपत्य तो दासत्व का मूल है, और यह समय उसके गुण-गान के लिये अनुकूल नहीं है।"

प्रभु सेवक—"आपको जो कुछ कहना था, कह चुके?"

विनयसिंह—"अभी बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर इस समय इतना ही काफ़ी है।"

प्रभु सेवक—"मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि बलिदान और त्याग के आदर्श की मैं निंदा नहीं करता। वह मनुष्य के लिये सबसे ऊँचा स्थान है; और वह धन्य है, जो उसे प्राप्त कर ले। किंतु जिस प्रकार कुछ व्रतधारियों के निर्जल और निराहार रहने से अन्न और जल की उपयोगिता में बाधा नहीं पड़ती, उसी प्रकार दो-चार योगियों के त्याग से दांपत्य जीवन त्याज्य नहीं हो जाता। दांपत्य मनुष्य के सामाजिक जीवन का मूल है। उसका त्याग कर दीजिए, बस हमारे सामाजिक संगठन का शीराज़ा बिखर जायगा, और हमारी दशा पशुओं के समान हो जायगी। गार्हस्थ्य को ऋषियों ने सर्वोच्च धर्म कहा है; और अगर शांत हृदय से विचार कीजिए, तो विदित हो जायगा कि ऋषियों का यह कथन अत्युक्ति-मात्र नहीं है। दया, सहानुभूति, सहिष्णुता, उपकार, त्याग आदि देवोचित गुणों के विकास के जैसे सुयोग गार्हस्थ्य जीवन में प्राप्त होते हैं, और किसी अवस्था में नहीं मिल सकते। मुझे तो यहाँ तक कहने में संकोच नहीं है कि मनुष्य के लिये यही एक ऐसी व्यवस्था है, जो स्वाभाविक कही जा सकती है। जिन कृत्यों ने मानव-जाति का मुख उज्ज्वल कर दिया है, उनका श्रेय योगियों को नहीं, दांपत्य-सुख-भोगियों को है। हरिश्चंद्र योगी नहीं थे, रामचंद्र योगी नहीं थे, कृष्ण त्यागी नहीं थे, नेपोलियन त्यागी नहीं था, नेलसन योगी नहीं था। धर्म और विज्ञान के क्षेत्र में त्यागियों ने अवश्य कीर्ति-लाभ की है; लेकिन कर्म-क्षेत्र में यश का सेहरा भोगियों ही के सिर बँधा है। इतिहास में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि किसी जाति का उद्धार त्यागियों द्वारा हुआ हो। आज भी हिंदुस्थान में १० लाख से अधिक त्यागी बसते हैं; पर कौन कह सकता है कि उनसे समाज का कुछ उपकार हो रहा है। संभव है, अप्रत्यक्ष रूप से होता हो; पर प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता। फिर यह

आशा क्योंकर की जा सकती है कि दांपत्य जीवन की अवहेलना से जाति का विशेष उपकार होगा। हाँ, अगर अविचार को आप उपकार कहें, तो अवश्य उपकार होगा।"

यह कथन समाप्त करके प्रभु सेवक ने सोफ़िया से कहा—"तुमने दोनों वादियों के कथन सुन लिए, तुम इस समय न्याय के आसन पर हो, सत्यासत्य का निर्णय करो।"

सोफ़ी—"इसका निर्णय तो तुम आप ही कर सकते हो। तुम्हारी समझ में संगीत तो बहुत अच्छी चीज़ है?"

प्रभु सेवक—"अवश्य।"

सोफ़ी—"लेकिन, अगर किसी घर में आग लगी हुई हो, तो उसके निवासियों को गाते-बजाते देखकर तुम उन्हें क्या कहोगे?"

प्रभु सेवक—"मूर्ख कहूँगा, और क्या।"

सोफ़ी—"क्यों, गाना तो कोई बुरी चीज़ नहीं?"

प्रभु सेवक—"तो यह साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहतीं कि तुमने इन्हें डिग्री दे दी। मैं पहले ही समझ रहा था कि तुम इन्हीं की तरफ़ झुकोगी।"

सोफ़ी—"अगर यह भय था, तो तुमने मुझे निर्णायक क्यों बनाया था। तुम्हारी कविता उच्च कोटि की है। मैं इसे सर्वांग-सुंदर कहने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश-बंधुओं के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की ज़रूरत नहीं होती, इसे तुम भी स्वीकार करोगे। सामान्य कवियों के लिये कोई बंधन नहीं है—उन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है; लेकिन तुम्हें ईश्वर ने जितनी ही महत्त्व-पूर्ण शक्ति प्रदान की है, उतना ही उत्तरदायित्व भी तुम्हारे ऊपर ज़्यादा है।"

जब सोफ़िया चली गई, तो विनय ने प्रभु सेवक से कहा—"मैं

इस निर्णय को पहले ही से जानता था। तुम लज्जित तो न हुए होगे।"

प्रभु सेवक—"उसने तुम्हारी मुरौवत की है।"

विनयसिंह—"भाई, तुम बड़े अन्यायी हो। इतने युक्ति-पूर्ण निर्णय पर भी उनके सिर इलज़ाम लगा ही दिया। मैं तो उनकी विचारशीलता का पहले ही से क़ायल था, आज से भक्त हो गया। इस निर्णय ने मेरे भाग्य का निर्णय कर दिया। प्रभु, मुझे स्वप्न में भी यह आशा न थी कि मैं इतनी आसानी से लालसा का दास हो जाऊँगा। मैं मार्ग से विचलित हो गया, मेरा संयम कपटी मित्र की भाँति परीक्षा के पहले ही अवसर पर मेरा साथ छोड़ गया। मैं भली भाँति जानता हूँ कि मैं आकाश के तारे तोड़ने जा रहा हूँ—वह फल खाने जा रहा हूँ, जो मेरे लिये वर्जित है। ख़ूब जानता हूँ प्रभु, कि मैं अपने जीवन को नैराश्य की वेदी पर बलिदान कर रहा हूँ, अपनी पूज्य माता के हृदय पर कुठाराघात कर रहा हूँ, अपनी मर्यादा की नौका को कलंक के सागर में डुबा रहा हूँ, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को विसर्जित कर रहा हूँ; पर मेरा अंतःकरण इसके लिये मेरा तिरस्कार नहीं करता। सोफ़िया मेरी किसी तरह नहीं हो सकती; पर मैं उसका हो गया, और आजीवन उसी का रहूँगा।"

प्रभु सेवक—"विनय, अगर सोफ़ी को यह बात मालूम हो गई, तो वह यहाँ एक क्षण भी न रहेगी; कहीं वह आत्महत्या न कर ले। ईश्वर के लिये यह अनर्थ न करो।"

विनयसिंह—"नहीं प्रभु, मैं बहुत जल्द यहाँ से चला जाऊँगा, और फिर कभी न आऊँगा। मेरा हृदय जलकर भस्म हो जाय; पर सोफ़ी को आँच भी न लगने पावेगी। मैं दूर देश में बैठा हुआ इस विद्या, विवेक और पवित्रता की देवी की उपासना किया करूँगा। मैं तुमसे

सत्य कहता हूँ, मेरे प्रेम में वासना का लेश भी नहीं है। मेरे जीवन को सार्थक बनाने के लिये यह अनुराग ही काफ़ी है। यह मत समझो कि मैं सेवा-धर्म का त्याग कर रहा हूँ। नहीं, ऐसा न होगा, मैं अब भी सेवा-मार्ग का अनुगामी रहूँगा; अंतर केवल इतना होगा कि निराकार की जगह साकार की, अदृश्य की जगह दृश्यमान की, भक्ति करूँगा।"

सहसा जाह्नवी ने आकर कहा—"विनय, ज़रा इंदु के पास चले जाओ, कई दिन से उसका समाचार नहीं मिला। मुझे शंका हो रही है, कहीं बीमार तो नहीं हो गई। ख़त भेजने में इतना विलंब तो कभी न करती थी।"

विनय तैयार हो गए। कुरता पहना, हाथ में सोंटा लिया, और चल दिए। प्रभु सेवक सोफ़ी के पास आकर बैठ गए, और सोचने लगे—विनयसिंह की बातें इससे कहूँ या न कहूँ। सोफ़ी ने उन्हें चिंतित देखकर पूछा—"कुँअर साहब कुछ कहते थे?"

प्रभु सेवक—"उस विषय में तो कुछ नहीं कहते थे; पर तुम्हारे विषय में ऐसे भाव प्रकट किए, जिनकी संभावना मेरी कल्पना में भी न आ सकती थी।"

सोफ़ी ने क्षण-भर ज़मीन की ओर ताकने के बाद कहा—"मैं समझती हूँ, पहले ही समझ जाना चाहिए था; पर मैं इससे चिंतित नहीं हूँ। यह भावना मेरे हृदय में उसी दिन अंकुरित हुई, जब यहाँ आने के चौथे दिन बाद मैंने आँखें खोलीं, और उस अर्द्धचेतना की दशा में एक देव-मूर्ति को सामने खड़े अपनी ओर वात्सल्य-दृष्टि से देखते हुए पाया। वह दृष्टि और वह मूर्ति आज तक मेरे हृदय पर अंकित है, और सदैव अंकित रहेगी।"

प्रभु सेवक—"सोफ़ी, तुम्हें यह कहते हुए लज्जा नहीं आती?"

सोफ़िया—"नहीं, लज्जा नहीं आती। लज्जा की बात ही नहीं

है। वह मुझे अपने प्रेम के योग्य समझते हैं, यह मेरे लिये गौरव की बात है। ऐसे साधु-प्रकृति, ऐसे त्याग-मूर्ति, ऐसे सदुत्साही पुरुष की प्रेम-पात्री बनने में कोई लज्जा नहीं। अगर प्रेम-प्रसाद पाकर किसी युवती को गर्व होना चाहिए, तो वह युवती मैं हूँ। यही वरदान था, जिसके लिये मैं इतने दिनों तक शांत भाव से धैर्य धारण किए हुए मन में तप कर रही थी। वह वरदान आज मुझे मिल गया है, तो यह मेरे लिये लज्जा की बात नहीं, आनंद की बात है।"

प्रभु सेवक—"धर्म-विरोध के होते हुए भी?"

सोफ़िया—"यह विचार उन लोगों के लिये है, जिनके प्रेम वासनाओं से युक्त होते हैं। प्रेम और वासना में उतना ही अंतर है, जितना कंचन और काँच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है, और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवा-भाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिये धर्म की विभिन्नता कोई बंधन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिये हैं, जिसका अंत विवाह है, उस प्रेम के लिये नहीं, जिसका अंत बलिदान है।"

प्रभु सेवक—"मैंने तुम्हें जता दिया, यहाँ से चलने के लिये तैयार रहो।"

सोफ़िया—"मगर घर पर किसी से इसकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं।"

प्रभु सेवक—"इससे निश्चिंत रहो।"

सोफ़िया—"कुछ निश्चय हुआ, यहाँ से उनके जाने का कब इरादा है?"

प्रभु सेवक—"तैयारियाँ हो रही हैं। रानीजी को यह बात मालूम हुई, तो विनय के लिये कुशल नहीं। मुझे आश्चर्य न होगा, अगर मामा से इसकी शिकायत करें।"

सोफ़िया ने गर्व से सिर उठाकर कहा—"प्रभु, कैसी बच्चों की-सी बातें करते हो। प्रेम अभय का मंत्र है। प्रेम का उपासक संसार की समस्त चिंताओं और बाधाओं से मुक्त हो जाता है।"

प्रभु सेवक चले गए, तो सोफ़िया ने किताब बंद कर दी, और बाग़ में आकर हरी घास पर लेट गई। उसे आज लहराते हुए फूलों में, मंद-मंद चलनेवाली वायु में, वृक्षों पर चहकनेवाली चिड़ियों के कलरव में, आकाश पर छाई लालिमा में एक विचित्र शोभा, एक अकथनीय सुषमा, एक अलौकिक छटा का अनुभव हो रहा था। वह प्रेम-रत्न पा गई थी।

उस दिन के बाद एक सप्ताह हो गया, पर विनयसिंह ने राजपूताने को प्रस्थान न किया। वह किसी-न-किसी हीले से दिन टालते जाते थे। कोई तैयारी न करनी थी, फिर भी तैयारियाँ पूरी न होती थीं। अब विनय और सोफ़िया, दोनो ही को विदित होने लगा कि प्रेम को, जब वह स्त्री और पुरुष में हो, वासना से निर्लिप्त रखना उतना आसान नहीं, जितना उन्होंने समझा था। सोफ़ी एक किताब बग़ल में दबाकर प्रातःकाल बाग़ में जा बैठती। शाम को भी कहीं और सैर करने न जाकर वहीं आ जाती। विनय भी उससे कुछ दूर पर लिखते-पढ़ते, कुत्ते से खेलते या किसी मित्र से बातें करते अवश्य दिखाई देते। दोनो एक दूसरे की ओर दबी आँखों से देख लेते थे; पर संकोच-वश कोई बातचीत करने में अग्रसर न होता था। दोनो ही लज्जाशील थे; पर दोनो इस मौन-भाषा का आशय समझते थे। पहले इस भाषा का ज्ञान न था। दोनो के मन में एक ही उत्कंठा, एक ही विकलता, एक ही तड़प, एक ही ज्वाला थी। मौन-भाषा से उन्हें तस्कीन न होती; पर किसी को वार्तालाप करने का साहस न होता। दोनो अपने-अपने मन में प्रेम-वार्ता की नई-नई उक्तियाँ सोचकर आते, और यहाँ आकर भूल जाते। दोनो ही

व्रतधारी, दोनो ही आदर्शवादी थे ; किंतु एक का धर्म-ग्रंथों की ओर ताकने को जी न चाहता था, दूसरा समिति को अपने निर्धारित विषय पर व्याख्यान देने का अवसर भी न पाता था। दोनो ही के लिये प्रेम-रत्न प्रेम-मद सिद्ध हो रहा था।

एक दिन, रात को, भोजन करने के बाद, सोफ़िया रानी जाह्नवी के पास बैठी हुई कोई समाचार-पत्र पढ़कर सुना रही थी कि विनय-सिंह आकर बैठ गए। सोफ़ी की विचित्र दशा हो गई, पढ़ते-पढ़ते भूल जाती कि कहाँ तक पढ़ चुकी हूँ, और पढ़ी हुई पंक्तियों को फिर पढ़ने लगती, वह भी अटक-अटककर, शब्दों पर आँखें न जमतीं। वह भूल जाना चाहती थी कि कमरे में रानी के अतिरिक्त कोई और बैठा हुआ है, पर बिना विनय की ओर देखे ही उसे दिव्य ज्ञान-सा हो जाता था कि अब वह मेरी ओर ताक रहे हैं, और तत्क्षण उसका मन अस्थिर हो जाता था। जाह्नवी ने कई बार टोका—सोती तो नहीं हो, क्या बात है, रुक क्यों जाती हो, आज तुझे क्या हो गया है बेटी? सहसा उनकी दृष्टि विनयसिंह की ओर फिरी—उसी समय, जब वह प्रेमातुर नेत्रों से उसकी ओर ताक रहे थे। जाह्नवी का विकसित, शांत मुख-मंडल तमतमा उठा, मानो बाग़ में आग लग गई। अग्निमय नेत्रों से विनय की ओर देखकर बोलीं—"तुम कब जा रहे हो?"

विनयसिंह—"बहुत जल्द।"

जाह्नवी—"मैं बहुत जल्द का आशय यह समझती हूँ कि तुम कल प्रातःकाल ही प्रस्थान करोगे।"

विनयसिंह—"अभी साथ जानेवाले कई सेवक बाहर गए हुए हैं।"

जाह्नवी—"कोई चिंता नहीं। वे पीछे चले जायँगे, तुम्हें कल प्रस्थान करना होगा।"

विनयसिंह—"जैसी आज्ञा।"

जाह्नवी—"अभी जाकर सब आदमियों को सूचना दे दो। मैं चाहती हूँ कि तुम स्टेशन पर सूर्य के दर्शन करो।"

विनय—"इंदु से मिलने जाना है।"

जाह्नवी—"कोई ज़रूरत नहीं। मिलने-भेंटने की प्रथा स्त्रियों के लिये है, पुरुषों के लिये नहीं, जाओ।"

विनय को फिर कुछ कहने की हिम्मत न हुई, आहिस्ते से उठे, और चले गए।

सोफ़ी ने साहस करके कहा—"आजकल तो राजपूताने में आग बरसती होगी।"

जाह्नवी ने निश्चयात्मक भाव से कहा—"कर्तव्य कभी आग और पानी का परवा नहीं करता। जाओ, तुम भी सो रहो, सबेरे उठना है।"

सोफ़ी सारी रात बैठी रही। विनय से एक बार मिलने के लिये उसका हृदय तड़फड़ा रहा था—आह! वह कल चले जायँगे, और मैं उनसे बिदा भी न हो सकूँगी। वह बार-बार खिड़की से झाँकती कि कहीं विनय की आहट मिल जाय। छत पर चढ़कर देखा, अंधकार छाया हुआ था, तारागण उसकी आतुरता पर हँस रहे थे। उसके जी में कई बार प्रबल आवेग हुआ कि छत पर से नीचे बाग़ में कूद पड़ूँ, उनके कमरे में जाऊँ, और कहूँ—मैं तुम्हारी हूँ। आह! अगर संप्रदाय ने हमारे और उनके बीच में बाधा न खड़ी कर दी होती, तो वह इतने चिंतित क्यों होते, मुझको इतना संकोच क्यों होता, रानी मेरी अवहेलना क्यों करतीं? अगर मैं राजपूतनी होती, तो रानी सहर्ष मुझे स्वीकार करतीं, पर मैं ईसा की अनुचरी होने के कारण त्याज्य हूँ। ईसा और कृष्ण में कितनी समानता है; पर उनके अनुचरों में कितनी विभिन्नता! कैसा अनर्थ है! कौन कह सकता है कि सांप्रदायिक भेदों ने हमारी आत्माओं पर कितना अत्याचार किया है।

ज्यों-ज्यों रात बीतती थी, सोफ़ी का दिल नैराश्य से बैठा जाता था—हाय, मैं यों ही बैठी रहूँगी, और सबेरा हो जायगा, विनय चले जायँगे। कोई ऐसा भी तो नहीं, जिसके हाथों एक पत्र लिखकर भेज दूँ। मेरे ही कारण तो उन्हें यह दंड मिल रहा है। माता का हृदय भी निर्दय होता है। मैं समझती थी, मैं ही अभागिनी हूँ; पर अब मालूम हुआ, ऐसी माताएँ और भी हैं!

तब वह छत पर से उतरी, और अपने कमरे में जाकर लेट रही। नैराश्य ने निद्रा की शरण ली; पर चिंता की निद्रा क्षुधावस्था का विनोद है—शांति-विहीन और नीरस। ज़रा ही देर सोई थी कि चौंककर उठ बैठी। सूर्य का प्रकाश कमरे में फैल गया था, और विनयसिंह अपने बीसों साथियों के साथ स्टेशन जाने के लिये तैयार खड़े थे। बाग़ में हज़ारों आदमियों की भीड़ लगी हुई थी।

वह तुरंत बाग़ में आ पहुँची, और भीड़ को हटाती हुई यात्रियों के सम्मुख आकर खड़ी हो गई। राष्ट्रीय गान हो रहा था, यात्री नंगे सिर, नंगे पैर, एक-एक कुरता पहने, हाथ में लकड़ी लिए, गरदनों में एक-एक थैली लटकाए चलने को तैयार थे। सब-के-सब प्रसन्न-वदन, उल्लास से भरे हुए, जातीयता के गर्व से उन्मत्त थे। जिनको देखकर दर्शकों के मन गौरवान्वित हो रहे थे। एक क्षण में रानी जाह्नवी आईं; और यात्रियों के मस्तक पर केशर के तिलक लगाए। तब कुँवर भरतसिंह ने आकर उनके गलों में हार पहनाए। इसके बाद डॉक्टर गंगुली ने चुने हुए शब्दों में उन्हें उपदेश दिया। उपदेश सुनकर यात्री लोग प्रस्थित हुए। जयजयकार की ध्वनि सहस्र-सहस्र कंठों से निकलकर वायुमंडल को प्रतिध्वनित करने लगी। स्त्रियों और पुरुषों का एक समूह उनके पीछे-पीछे चला। सोफ़िया चित्रवत् खड़ी यह दृश्य देख रही थी। उसके हृदय में बार-बार उत्कंठा होती थी,

मैं भी इन्हीं यात्रियों के साथ चली जाऊँ, और अपने दुःखित बंधुओं की सेवा करूँ। उसकी आँखें विनयसिंह की ओर लगी हुई थीं। एकाएक विनयसिंह की आँखें भी उसकी ओर फिरीं ; उनमें कितना नैराश्य था, कितनी मर्मवेदना, कितनी विवशता, कितनी विनय! वह सब यात्रियों के पीछे चल रहे थे, बहुत धीरे-धीरे, मानो पैरों में बेड़ी पड़ी हो। सोफ़िया उपचेतना की अवस्था में यात्रियों के पीछे-पीछे चली, और उसी दशा में सड़क पर आ पहुँची ; फिर चौराहा मिला, इसके बाद किसी राजा का विशाल भवन मिला ; पर अभी तक सोफ़ी को ख़बर न हुई कि मैं इनके साथ चली आ रही हूँ। उसे इस समय विनयसिंह के सिवा और कोई नज़र ही न आता था। कोई प्रबल आकर्षण उसे खींचे लिए जाता था। यहाँ तक कि वह स्टेशन के समीप के चौराहे पर पहुँच गई। अचानक उसके कानों में प्रभु सेवक की आवाज़ आई, जो बड़े वेग से फ़िटन दौड़ाए चले आते थे।

प्रभु सेवक ने पूछा—"सोफ़ी, तुम कहाँ जा रही हो? जूते तक नहीं, केवल स्लीपर पहने हो!"

सोफ़िया पर घड़ों पानी पड़ गया—आह! मैं इस वेष में कहाँ चली आई! मुझे सुधि ही न रही। लजाती हुई बोली—"कहीं तो नहीं?"

प्रभु सेवक—"क्या इन लोगों के साथ स्टेशन तक जाओगी? आओ, गाड़ी पर बैठ जाओ। मैं भी वहीं चलता हूँ। मुझे तो अभी-अभी मालूम हुआ कि ये लोग जा रहे हैं, जल्दी में गाड़ी तैयार कराके आ पहुँचा, नहीं तो मुलाक़ात भी न होती।"

सोफ़ी—"मैं इतनी दूर निकल आई, और ज़रा भी ख़याल न आया कि कहाँ जा रही हूँ।"

प्रभु सेवक—"आकर बैठ न जाओ। इतनी दूर आई हो, तो स्टेशन तक और चली चलो।"

सोफ़ी— "मैं स्टेशन न जाऊँगी। यहीं से लौट जाऊँगी।"

प्रभु सेवक—"मैं स्टेशन से लौटता हुआ आऊँगा। आज तुम्हें मेरे साथ घर चलना होगा।"

सोफ़ी—"मैं वहाँ न जाऊँगी।"

प्रभु सेवक—"बड़े पापा बहुत नाराज़ होंगे। आज उन्होंने तुम्हें बहुत आग्रह करके बुलाया है।"

सोफ़ी—"जब तक मामा मुझे ख़ुद आकर न ले जायँगी, उस घर में क़दम न रक्खूँगी।"

यह कहकर सोफ़ी लौट पड़ी, और प्रभु सेवक स्टेशन की तरफ़ चल दिए।

स्टेशन पर पहुँचकर विनय ने चारो तरफ़ आँखें फाड़-फाड़कर देखा, सोफ़ी न थी।

प्रभु सेवक ने उनके कान में कहा—"धर्मशाले तक यों ही रात के कपड़े पहने चली आई थी, वहाँ से लौट गई। जाकर ख़त ज़रूर लिखिएगा, वरना वह राजपूताने जा पहुँचेगी।"

विनय ने गद्गद कंठ से कहा—"केवल देह लेकर जा रहा हूँ, हृदय यहीं छोड़े जाता हूँ।"

[१०]

बालकों पर प्रेम की भाँति द्वेष का असर भी अधिक होता है। जब से मिठुआ और घीसू को मालूम हुआ था कि ताहिरअली हमारा मैदान ज़बरदस्ती ले रहे हैं, तब से दोनो उन्हें अपना दुश्मन समझते थे। चतारी के राजा साहब और सूरदास में जो बातें हुई थीं, उनकी उन दोनो को ख़बर न थी। सूरदास को स्वयं शंका थी कि यद्यपि राजा साहब ने आश्वासन दिया है, पर शीघ्र ही यह समस्या फिर उपस्थित होगी। जॉन सेवक साहब इतनी आसानी से गला छोड़नेवाले नहीं हैं। बजरंगी, नायकराम आदि भी इसी प्रकार की बातें करते रहते थे। मिठुआ और घीसू इन बातों को बड़े प्रेम से सुनते, और उनकी द्वेषाग्नि और भी प्रचंड होती थी। घीसू जब भैंस लेकर मैदान जाता, तो ज़ोर-ज़ोर से पुकारता—"देखें, कौन हमारी जमीन लेता है, उठाकर ऐसा पटकूँ कि वह भी याद करे। दोनो टाँगें तोड़ दूँगा। कुछ खेल समझ लिया है!" वह ज़रा था भी कड़े-दम, कुश्ती लड़ता था। बजरंगी ख़ुद भी जवानी में अच्छा पहलवान था। घीसू को वह शहर के पहलवानों की नाक बना देना चाहता था, जिससे पंजाबी पहलवानों को भी ताल ठोकने की हिम्मत न पड़े, दूर-दूर जाकर दंगल मारे, लोग कहें—"यह बजरंगी का बेटा है।" अभी से घीसू को अखाड़े भेजता था। घीसू अपने घमंड में समझता था कि मुझे जो पेच मालूम हैं, उनसे जिसे चाहूँ, गिरा दूँ। मिठुआ कुश्ती तो न लड़ता था; पर कभी-कभी अखाड़े की तरफ़ जा बैठता था। उसे अपनी पहलवानी की डींग मारने के लिये इतना ही काफ़ी था। दोनो जब ताहिरअली

को कहीं देखते, तो सुना-सुनाकर कहते—"दुश्मन जाता है, उसका मुँह काला।" मिठुआ कहता—"जै संकर, काँटा लगे न कंकर, दुश्मन को तंग कर।" घीसू कहता—"बम भोला, बैरी के पेट में गोला, उससे कुछ न जाय बोला।"

ताहिरअली इन छोकरों की छिछोरी बातें सुनते, और अनसुनी कर जाते। लड़कों के मुँह क्या लगें। सोचते—"कहीं ये सब गालियाँ दे बैठें, तो इनका क्या बना लूँगा।" वे दोनो समझते, डर के मारे नहीं बोलते; और भी शेर हो जाते। घीसू मिठुआ पर उन पेचों का अभ्यास करता, जिनसे वह ताहिरअली को पटकेगा। पहले यह हाथ पकड़ा, फिर अपनी तरफ़ खींचा; तब वह हाथ गरदन में डाल दिया, और अड़ंगी लगाई, बस चित। मिठुआ फ़ौरन् गिर पड़ता था, और उसे इस पेच के अद्भुत प्रभाव का विश्वास हो जाता था।

एक दिन दोनो ने सलाह की—"चलकर मियाँजी के लड़कों की ख़बर लेनी चाहिए।" मैदान में जाकर ज़ाहिर और जाबिर को खेलने के लिये बुलाया, और ख़ूब चपतें लगाईं। जाबिर छोटा था, उसे मिठुआ ने दाबा। ज़ाहिर और घीसू का जोड़ था; लेकिन घीसू अखाड़ा देखे हुए था, कुछ दाँव-पेच जानता ही था, आन-की-आन में ज़ाहिर को दबा बैठा। मिठुआ ने जाबिर के चुटकियाँ काटनी शुरू कीं। बेचारा रोने लगा। घीसू ने ज़ाहिर को कई घिस्से दिए, वह भी चौंधिया गया; जब देखा कि यह तो मार ही डालेगा, तो उसने फ़रियाद मचाई। इन दोनो का रोना सुनकर नन्हा-सा साबिर एक पतली-सी टहनी लिए, अकड़ता हुआ, पीड़ितों की सहायता करने आया, और घीसू को टहनी से मारने लगा। जब इस शस्त्र-प्रहार का घीसू पर कुछ असर न हुआ, तो उसने इससे ज़्यादा चोट करनेवाला बाण निकाला—घीसू पर थूकने लगा। घीसू ने ज़ाहिर

को छोड़ दिया, और साबिर के दो-तीन तमाचे लगाए। ज़ाहिर मौक़ा पाकर फिर उठा, और अब की ज़्यादा सावधान होकर घीसू से चिमट गया। दोनो में मल्ल-युद्ध होने लगा। आख़िर घीसू ने उसे फिर पटका, और मुश्कें चढ़ा दीं। ज़ाहिर को अब रोने के सिवा कोई उपाय न सूझा, जो निर्बलों का अंतिम आधार है। तीनो की आर्त-ध्वनि माहिरअली के कान में पहुँची। वह इस समय स्कूल जाने को तैयार थे। तुरत किताबें पटक दीं, और मैदान की तरफ़ दौड़े। देखा, तो जाबिर और ज़ाहिर नीचे पड़े हाय-हाय कर रहे हैं, और साबिर अलग बिलबिला रहा है। कुलीनता का रक्त खौल उठा; मैं सैयद, पुलिस के अफ़सर का बेटा, चुंगी के मुहर्रिर का भाई, अँगरेज़ी के आठवें दरजे का विद्यार्थी! यह मूर्ख, उजड्ड, अहीर का लौंडा, इसकी इतनी मजाल कि मेरे भाइयों को नीचा दिखाए! घीसू के एक ठोकर लगाई, और मिठुआ के कई तमाचे। मिठुआ तो रोने लगा; किंतु घीसू चिमड़ा था। ज़ाहिर को छोड़कर उठा, हौसले बढ़े हुए थे, दो मोरचे जीत चुका था, ताल ठोककर माहिरअली से भी लिपट गया। माहिर का सफ़ेद पाजामा मैला हो गया, आज ही जूते में रोग़न लगाया था, उस पर गर्द पड़ गई; सँवारे हुए बाल बिखर गए, क्रोधोन्मत्त होकर घीसू को इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि वह दो क़दम पर जा गिरा। साबिर, ज़ाहिर, जाबिर, सब हँसने लगे। लड़कों की चोट प्रतिकार के साथ ही ग़ायब हो जाती है। घीसू इनको हँसते देखकर और भी झुँझलाया; फिर उठा, और माहिरअली से लिपट गया। माहिर ने उसका टेटुआ पकड़ा, और ज़ोर से दबाने लगे। घीसू ने समझा, अब मरा, यह बिना मारे न छोड़ेगा। मरता क्या न करता, माहिर के हाथ में दाँत जमा दिए; तीन दाँत गड़ गए, ख़ून बहने लगा। माहिर चिल्ला उठे, उसका गला छोड़कर अपना हाथ छुड़ाने का

यत्न करने लगे; मगर घीसू किसी भाँति न छोड़ता था। ख़ून बहते देखकर तीनो भाइयों ने फिर रोना शुरू किया। ज़ैनब और रक़िया यह हंगामा सुनकर दरवाज़े पर आ गईं। देखा, तो समरभूमि रक्त से प्लावित हो रही है, गालियाँ देती हुईं ताहिरअली के पास आईं। ज़ैनब ने तिरस्कार-भाव से कहा—"तुम यहाँ बैठे खालें नोच रहे हो, कुछ दीन-दुनिया की भी ख़बर है; वहाँ वह अहीर का लौंडा हमारे लड़कों का ख़ून-खच्चर किए डालता है। मुए को पकड़ पाती, तो ख़ून ही चूस लेती।"

रक़िया—"मुआ आदमी है कि देव-बच्चा है। माहिर के हाथ में इतनी ज़ोर से दाँत काटा है कि ख़ून के फ़ौवारे निकल रहे हैं। कोई दूसरा मर्द होता, तो इसी बात पर मुए को जीता गाड़ देता।"

ज़ैनब—"कोई अपना होता, तो इस वक़्त मूड़ीकाटे को कच्चा ही चबा जाता।"

ताहिरअली घबराकर मैदान की ओर दौड़े। माहिर के कपड़े ख़ून से तर देखे, तो जामे से बाहर हो गए। घीसू के दोनो कान पकड़कर ज़ोर से हिलाए, और तमाचे-पर-तमाचे लगाने शुरू किए। मिठुआ ने देखा, अब पिटने की बारी आई, मैदान हमारे हाथ से गया, गालियाँ देता हुआ भागा! इधर घीसू ने भी गालियाँ देनी शुरू कीं। शहर के लौंडे गाली की कला में सिद्धहस्त होते हैं। घीसू नई-नई अछूती गालियाँ दे रहा था, और ताहिरअली गालियों का जवाब तमाचों से दे रहे थे। मिठुआ ने जाकर इस संग्राम की सूचना बजरंगी को दी—"सब लोग मिलकर घीसू को मार रहे हैं, उसके मुँह से लहू निकल रहा है। वह भैंसें चरा रहा था, बस तीनो लड़के आकर भैंसों को भगाने लगे। घीसू ने मना किया, तो सबों ने मिलकर मारा, और बड़े मियाँ भी निकलकर मार रहे हैं।" बजरंगी यह ख़बर सुनते ही आग हो गया। उसने ताहिरअली की

माताओं को ५०) दिए थे, और उस ज़मीन को अपनी समझे बैठा था। लाठी उठाई, और दौड़ा। देखा, तो ताहिरअली घीसू के हाथ-पाँव बँधवा रहे हैं। पागल हो गया, बोला—"बस, मुंशीजी, भला चाहते हो, तो हट जाओ; नहीं तो सारी सेखी भुला दूँगा, यहाँ जेहल का डर नहीं है, साल-दो साल वहीं काट आऊँगा, लेकिन तुम्हें किसी काम का न रक्खूँगा। जमीन तुम्हारे बाप की नहीं है। इसीलिये तुम्हें ५०) दिए हैं। क्या वे हराम के रुपए थे? बस, हट ही जाओ, नहीं तो कच्चा चबा जाऊँगा, मेरा नाम बजरंगी है!"

ताहिरअली ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि घीसू ने बाप को देखते ही ज़ोर से छलाँग मारी, और एक पत्थर उठाकर ताहिर-अली की तरफ़ फेंका। वह सिर नीचा न कर लें, तो माथा फट जाय। जब तक घीसू दूसरा पत्थर उठाए, उन्होंने लपककर उसका हाथ पकड़ा, और इतनी ज़ोर से ऐंठा कि वह 'आह मरा! आह मरा!' कहता हुआ ज़मीन पर गिर पड़ा। अब बजरंगी आपे से बाहर हो गया, झपटकर ऐसी लाठी मारी कि ताहिरअली तिरमिराकर गिर पड़े। कई चमार, जो अब तक इसे लड़कों का झगड़ा समझकर चुपचाप बैठे हुए थे, ताहिरअली को गिरते देखकर दौड़े, और बजरंगी को पकड़ लिया। समर-क्षेत्र में सन्नाटा छा गया। हाँ, ज़ैनब और रक़िया द्वार पर खड़ी शब्द-बाण चलाती जाती थीं—"मूँड़ीकाटे ने ग़ज़ब कर दिया, इस पर ख़ुदा का क़हर गिरे, दूसरा दिन देखना नसीब न हो, इसकी मैयत उठे, कोई दौड़कर साहब के पास क्यों जाकर इत्तिला नहीं करता। अरे-अरे चमारो, बैठे मुँह क्या ताकते हो, जाकर साहब को ख़बर क्यों नहीं देते; कहना—अभी चलिए! साथ लाना, कहना—पुलिस लेते चलिए, यहाँ जान देने नहीं आए हैं।"

बजरंगी ने ताहिरअली को गिरते देखा, तो सँभल गया, दूसरा हाथ न चलाया। घीसू का हाथ पकड़ा, और घर चला गया। यहाँ

घर में कुहराम मचा। दो चमार जॉन सेवक के बँगले की तरफ़ गए। ताहिरअली को लोगों ने उठाया, और चारपाई पर लादकर कमरे में लाए। कंधे पर लाठी पड़ी थी, शायद हड्डी टूट गई थी। अभी तक बेहोश थे। चमारों ने तुरंत हल्दी पीसी, और उसे गुड़-चूने में मिलाकर उनके कंधे में लगाया। एक आदमी लपककर पेड़ के पत्ते तोड़ लाया, दो आदमी बैठकर सेंकने लगे। ज़ैनब और रक़िया तो माहिरअली की मरहम-पट्टी करने लगीं, बेचारी कुलसूम दरवाज़े पर खड़ी रो रही थी। पति की ओर उससे ताका भी न जाता था। गिरने से उनके सिर में चोट आ गई थी। लहू बहकर माथे पर जम गया था। बालों में लटें पड़ गई थीं, मानो किसी चित्रकार के ब्रुश में रंग सूख गया हो। हृदय में शूल उठ रहा था; पर पति के मुख की ओर ताकते ही उसे मूर्च्छा-सी आने लगती थी, दूर खड़ी थी; यह विचार भी मन में उठ रहा था कि ये सब आदमी अपने दिल में क्या कहते होंगे! इसे पति के प्रति ज़रा भी प्रेम नहीं, खड़ी तमाशा देख रही है। क्या करूँ, उनका चेहरा न-जाने कैसा हो गया है। वही चेहरा, जिसकी कभी बलाएँ ली जाती थीं, मरने के बाद भयावह हो जाता है, उसकी ओर दृष्टिपात करने के लिये कलेजे को मज़बूत करना पड़ता है। जीवन की भाँति मृत्यु का भी सबसे विशिष्ट आलोक मुख ही पर पड़ता है। ताहिरअली की दिन-भर सेंक-बाँध हुई। चमारों ने इस तरह दौड़-धूप की, मानो उनका कोई अपना इष्ट-मित्र है। क्रियात्मक सहानुभूति ग्राम-निवासियों का विशेष गुण है। रात को भी कई चमार उनके पास बैठे सेंकते-बाँधते रहे। ज़ैनब और रक़िया बार-बार कुलसूम को ताने देतीं—"बहन, तुम्हारा दिल भी ग़ज़ब का है, शौहर का यहाँ बुरा हाल हो रहा है, और तुम यहाँ मज़े से बैठी हो। हमारे मियाँ के सिर में ज़रा-सा दर्द

होता था, तो हमारी जान नाख़ून में समा जाती थी। आजकल की औरतों का कलेजा सचमुच पत्थर का होता है।" कुलसूम का हृदय इन बाणों से बिंध जाता था; पर यह कहने का साहस न होता था कि तुम्हीं दोनो क्यों नहीं चली जातीं? आख़िर तुम भी तो उन्हीं की कमाई खाती हो, और मुझसे अधिक। किंतु इतना कहती, तो बचकर कहाँ जाती, दोनो उसके गले पड़ जातीं। सारी रात जागती रही। बार-बार द्वार पर जाकर आहट ले आती थी। किसी भाँति रात कटी। प्रातःकाल ताहिरअली की आँखें खुलीं; दर्द से अब भी कराह रहे थे; पर अब अवस्था उतनी शोचनीय न थी। तकिए के सहारे बैठ गए। कुलसूम ने उन्हें चमारों से बातें करते सुना। उसे ऐसा जान पड़ा कि इनका स्वर कुछ विकृत हो गया है। चमारों ने ज्यों ही उन्हें होश में देखा, समझ गए कि अब हमारी ज़रूरत नहीं रही, अब घरवालों की सेवा-शुश्रूषा का अवसर आ गया। एक-एक करके बिदा हो गए। अब कुलसूम ने चित्त सावधान किया, और पति के पास आ बैठी। ताहिरअली ने उसे देखा, तो क्षीण स्वर में बोले—"ख़ुदा ने मुझे नमकहरामी की सज़ा दी है। जिनके लिये अपने आक़ा का बुरा चेता, वही अपने दुश्मन हो गए।"

कुलसूम—"तुम यह नौकरी छोड़ क्यों नहीं देते? जब तक ज़मीन का मुआमला तय न हो जायगा, एक-न-एक झगड़ा-बखेड़ा रोज़ होता रहेगा, लोगों से दुश्मनी बढ़ती जायगी। यहाँ जान थोड़े ही देनी है। ख़ुदा ने जैसे इतने दिन रोज़ी दी, वैसे ही फिर देगा। जान तो सलामत रहेगी।"

ताहिर—"जान तो सलामत रहेगी, पर गुज़र क्योंकर होगा, कौन इतना दिए देता है? देखती हो कि अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे आदमी मारे-मारे फिरते हैं।"

कुल्सूम—"न इतना मिलेगा, न सही; इसका आधा तो मिलेगा। दोनो वक़्त न खायँगे, एक ही वक़्त सही; जान तो आफ़त में न रहेगी।"

ताहिर—"तुम एक वक़्त खाकर ख़ुश रहोगी, घर में और लोग भी तो हैं, उनके दुखड़े रोज़ कौन सुनेगा। मुझे अपनी जान से दुश्मनी थोड़े ही है; पर मजबूर हूँ। ख़ुदा को जो मंज़ूर होगा, वह पेश आएगा।"

कुल्सूम—"घर के लोगों के पीछे क्या जान दे दोगे?"

ताहिर—"कैसी बातें करती हो, आख़िर वे लोग कोई ग़ैर तो नहीं हैं। अपने ही भाई हैं, अपनी माएँ हैं। उनकी परवरिश मेरे सिवा और कौन करेगा?"

कुल्सूम—"तुम समझते होगे, वे तुम्हारे मुहताज हैं; मगर उन्हें तुम्हारी रत्ती-भर भी परवा नहीं। सोचती हैं, जब तक मुफ़्त का मिले, अपने ख़ज़ाने में क्यों हाथ लगाएँ। मेरे बच्चे पैसे-पैसे को तरसते हैं, और वहाँ मिठाइयों की हाँडियाँ आती हैं, उनके लड़के मज़े से खाते हैं। देखती हूँ, और आँखें बंद कर लेती हूँ।"

ताहिर—"मेरा जो फ़र्ज़ है, उसे पूरा करता हूँ। अगर उनके पास रुपए हैं, तो इसका मुझे क्यों अफ़सोस हो, वे शौक़ से खाएँ, और आराम से रहें। तुम्हारी बातों से हसद की बू आती है। ख़ुदा के लिये मुझसे ऐसी बातें न किया करो।"

कुल्सूम—"पछताओगे; जब समझाती हूँ, मुझ ही पर नाराज़ होते हो; लेकिन देख लेना, कोई बात न पूछेगा।"

ताहिर—"यह सब तुम्हारी नियत का क़सूर है।"

कुल्सूम—"हाँ, औरत हूँ, मुझे अक़्ल कहाँ। पड़े तो हो, किसी ने झाँका तक नहीं। कलक होता, तो यों चैन से न बैठी रहतीं।"

ताहिरअली ने करवट ली, तो कंधे में असह्य वेदना हुई, आह

आह ! करके चिल्ला उठे। माथे पर पसीना आ गया। कुलसूम घबराकर बोली—"किसी को भेजकर डॉक्टर को क्यों नहीं बुला लेते। कहीं हड्डी पर ज़रब न आ गया हो।"

ताहिर—"हाँ, मुझे भी ऐसा ही ख़ौफ़ होता है, मगर डॉक्टर को बुलाऊँ, तो उसकी फ़ीस के रुपए कहाँ से आवेंगे?"

कुलसूम—"तनख़्वाह तो अभी मिली थी, क्या इतनी जल्द ख़र्च हो गई?"

ताहिर—"ख़र्च तो नहीं हो गई, लेकिन फ़ीस की गुंजाइश नहीं है। अब की माहिर की तीन महीने की फ़ीस देनी होगी। १२) तो फ़ीस ही के निकल जायँगे, सिर्फ़ १८) बचेंगे। अभी तो पूरा महीना पड़ा हुआ है। क्या फ़ाक़े करेंगे।"

कुलसूम—"जब देखो, माहिर की फ़ीस का तक़ाज़ा सिर पर सवार रहता है। अभी दस दिन हुए, फ़ीस दी नहीं गई?"

ताहिर—"दस दिन नहीं हुए, एक महीना हो गया।"

कुलसूम—"फ़ीस अब की न दी जायगी। डॉक्टर की फ़ीस उनकी फ़ीस से ज़रूरी है। वह पढ़कर रुपए कमाएँगे, तो मेरा घर न भरेंगे। मुझे तो तुम्हारी ही ज़ात का भरोसा है।"

ताहिर—(बात बदलकर) "इन मूज़ियों की जब तक अच्छी तरह तबाह न हो जायगी, शरारत से बाज़ न आएँगे।"

कुलसूम—"सारी शरारत इसी माहिर की थी। लड़कों में लड़ाई-झगड़ा होता ही रहता है। यह वहाँ न जाता, तो क्यों मुआमला इतना तूल खींचता। इस पर जो अहीर के लौंडे ने ज़रा दाँत काट लिया, तो तुम भन्ना उठे।"

ताहिर—"मुझे तो ख़ून के छींटे देखते ही जैसे सिर पर भूत सवार हो गया।"

इतने में घीसू की माँ जमुनी आ पहुँची। ज़ैनब ने उसे देखते

ही तुरंत बुला लिया, और डाँटकर कहा—"मालूम होता है, तेरी शामत आ गई है।"

जमुनी—"बेगम साहब, सामत नहीं आई है, बुरे दिन आए हैं, और क्या कहूँ। मैं कल दही बेचकर लौटी, तो यह हाल सुना। सीधे आपकी खिदमत में दौड़ी; पर यहाँ बहुत-से आदमी जमा थे, लाज के मारे लौट गई। आज दही बेचने नहीं गई। बहुत डरते-डरते आई हूँ। जो कुछ भूल-चूक हुई, उसे माफ कीजिए, नहीं तो उजड़ जायँगे, कहीं ठिकाना नहीं है।"

ज़ैनब—"अब हमारे किए कुछ नहीं हो सकता। साहब बिना मुक़दमा चलाए न मानेंगे; और वह न चलाएँगे, तो हम चलाएँगे। हम कोई धुनिए-जुलाहे हैं? यों सबसे दबते फिरें, तो इज़्ज़त कैसे रहे? मियाँ के बाप थानेदार थे, सारा इलाक़ा उनके नाम से काँपता था, बड़े-बड़े रईस हाथ बाँधे सामने खड़े रहते थे। उनकी औलाद क्या अब ऐसी गई-गुज़री हो कि छोटे-छोटे आदमी बेइज़्ज़ती करें? तेरे लौंडे ने माहिर को इतनी ज़ोर से दाँत काटा कि लहू-लुहान हो गया; पट्टी बाँधे पड़ा है। तेरे शौहर ने आकर लड़के को डाँट दिया होता, तो बिगड़ी बात बन जाती। लेकिन उसने तो आते-ही-आते लाठी का वार कर दिया। हम शरीफ़ लोग हैं, इतनी रियायत नहीं कर सकते।"

रक़िया—"जब पुलिस आकर मारते-मारते कचूमर निकाल लेगी, तब होश आएगा; नज़र-नियाज़ देनी पड़ेगी, वह अलग। तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा।"

जमुनी को अपने पति के हिस्से का व्यावहारिक ज्ञान भी मिला था। इन धमकियों से भयभीत न होकर बोली—"बेगम साहब, यहाँ इतने रुपए कहाँ धरे हैं, दूध-पानी करके दस-पाँच रुपए बटोरे हैं। वहीं तक अपनी दौड़ है। इस रोजगार में अब क्या रक्खा है

रुपए का तीन पसेरी तो भूसा मिलता है । एक रुपए में एक भैंस का पेट नहीं भरता । उस पर खली, बिनौला, भूसी, चोकर, सभी कुछ चाहिए । किसी तरह दिन काट रहे हैं । आपके बाल-बच्चों को साल-छ महीने दूध पिला दूँगी ।"

ज़ैनब समझ गई कि यह अहीरन कच्ची गोटी नहीं खेली है। इसके लिये किसी दूसरे ही मंत्र का प्रयोग करना पड़ेगा । नाक सिकोड़कर बोली—"तू अपना दूध अपने घर रख, यहाँ दूध-घी के ऐसे भूखे नहीं हैं । यह ज़मीन अपनी हुई जाती है ; जितने जानवर चाहूँगी, पाल लूँगी । मगर तुझसे कहे देती हूँ कि तू कल से घर में न बैठने पाएगी । पुलिस की रपट तो साहब के हाथ में है; पर हमें भी ख़ुदा ने ऐसा इल्म दिया है कि जहाँ एक नक़्श लिखकर दम किया कि जिन्नात अपना काम करने लगे । जब हमारे मियाँ ज़िंदा थे, तो एक बार पुलिस के एक बड़े अँगरेज़ हाकिम से कुछ हुज्जत हो गई । बोला, हम तुमको निकाल देंगे । मियाँ ने कहा, हमें निकाल दोगे, तो तुम भी आराम से न बैठोगे । मियाँ ने आकर मुझसे कहा । मैंने उसी रात को सुलेमानी नक़्श लिखकर दम किया, उसकी मेम का पूरा हमल गिर गया । दौड़ा हुआ आया, ख़ुशामदें कीं, पैरों पर गिरा, मियाँ से क़सूर मुआफ़ कराया, तब मेम की जान बची । क्यों रक़िया, तुम्हें याद है न ?"

रक़िया—"याद क्यों नहीं है, मैंने ही तो दुआ पढ़ी थी । साहब रात को दरवाज़े पर पुकारता था ।"

ज़ैनब—"हम अपनी तरफ़ से किसी की बुराई नहीं चाहते; लेकिन जब जान पर आ बनती है, तो सबक़ भी ऐसा दे देते हैं कि ज़िंदगी-भर न भूले । अभी अपने पीर से कह दें, तो ख़ुदा जाने क्या ग़ज़ब ढाएँ । तुम्हें याद है रक़िया, एक अहीर ने उन्हें दूध में पानी मिलाकर दिया था । उनकी ज़बान से इतना ही निकला—'जा,

तुझसे ख़ुदा समझें।' अहीर ने घर आकर देखा, तो उसकी २००) की भैंस मर गई थी।"

जमुनी ने ये बातें सुनीं, तो होश उड़ गए। अन्य स्त्रियों की भाँति वह भी थाना, पुलिस, कचहरी और दरबार की अपेक्षा भूत-पिशाचों से ज़्यादा डरी रहती थी। पास-पड़ोस में पिशाच-लीला देखने के अवसर आएदिन मिलते ही रहते थे। मुल्लाओं के यंत्र-मंत्र कहीं ज़्यादा लागू होते हैं, यह भी मानती थी। ज़ैनब बेगम ने उसकी पिशाच-भीरुता को लक्षित करके अपनी विषम चातुरी का परिचय दिया। जमुनी भयभीत होकर बोली—"नहीं बेगम साहब, आपको भी भगवान ने बाल-बच्चे दिए हैं, ऐसा जुलुम न कीजिएगा, नहीं तो मर जाऊँगी।"

ज़ैनब—"यह भी न करें, वह भी न करें, तो इज़्ज़त कैसे रहे? कल को तेरा अहीर फिर लट्ठ लेकर आ पहुँचे, तो? ख़ुदा ने चाहा, तो अब वह लट्ठ उठाने-लायक़ रह ही न जायगा।"

जमुनी थरथराकर पैरों पर गिर पड़ी, और बोली—"बीबी, जो हुकुम हो, उसके लिये हाज़िर हूँ।"

ज़ैनब ने चोट-पर-चोट लगाई, और जमुनी के बहुत रोने-गिड़-गिड़ाने पर २५) लेकर जिन्नात से उसे अभय-दान दिया। घर गई, रुपए लाकर दिए, और पैरों पर गिरी; मगर बजरंगी से यह बात न कही। वह चली गई, तो ज़ैनब ने हँसकर कहा—"ख़ुदा देता है, तो छप्पर फाड़कर देता है। इसका तो सान-गुमान भी न था। तुम बेसब्र हो जाती हो, नहीं तो मैंने कुछ-न-कुछ और ऐंठा होता। सवार को चाहिए कि बाग हमेशा कड़ी रक्खे।"

सहसा साबिर ने आकर ज़ैनब से कहा—"आपको अब्बा बुलाते हैं।" ज़ैनब वहाँ गई, तो ताहिरअली को पड़े कराहते देखा। कुल्सूम से बोली—"बीबी, ग़ज़ब का तुम्हारा जिगर है। अरे भले आद॰

जाकर ज़रा मूँग का दलिया पका दे। ग़रीब ने रात को कुछ नहीं खाया, इस वक्त भी मुँह में कुछ न जायगा, तो क्या हाल होगा ?"

ताहिर—"नहीं, मेरा कुछ खाने को जी नहीं चाहता। आपको इसलिये तकलीफ़ दी है कि अगर आपके पास कुछ रुपए हों, तो मुझे क़र्ज़ के तौर पर दे दीजिए। मेरे कंधों में बड़ा दर्द है, शायद हड्डी टूट गई है, डॉक्टर को दिखाना चाहता हूँ; मगर उसकी फ़ीस के लिये रुपयों की ज़रूरत है।"

ज़ैनब—"बेटा, भला सोचो तो, मेरे पास रुपए कहाँ से आएँगे, तुम्हारे सिर की क़सम खाकर कहती हूँ। मगर तुम डॉक्टर को बुलाओ ही क्यों। तुम्हें सीधे साहब के यहाँ जाना चाहिए। यह हंगामा उन्हीं की बदौलत तो हुआ है, नहीं तो यहाँ हमसे किसी से क्या ग़रज़ थी। एक इक्का मँगवा लो, और साहब के यहाँ चले जाओ। वह एक रुक़्क़ा लिख देंगे, तो सरकारी शफ़ाख़ाने में ख़ासी तरह इलाज हो जायगा। तुम्हीं सोचो, हमारी हैसियत डॉक्टर बुलाने की है।"

ताहिरअली के दिल में यह बात बैठ गई। माता को धन्यवाद दिया। सोचा, न-जाने यही बात मेरी समझ में क्यों नहीं आई। इक्का मँगवाया, लाठी के सहारे बड़ी मुश्किल से उस पर सवार हुए, और साहब के बँगले पर पहुँचे।

मिस्टर सेवक, राजा महेंद्रकुमार से मिलने के बाद, कंपनी के हिस्से बेचने के लिये बाहर चले गए थे, और उन्हें लौटे हुए आज तीन दिन हो गए थे। कल वह राजा साहब से फिर मिले थे; मगर जब उनका फ़ैसला सुना, तो बहुत निराश हुए। बहुत देर तक बैठे तर्क-वितर्क करते रहे; लेकिन राजा साहब ने कोई संतोष-जनक उत्तर न दिया। निराश होकर आए, और मिसेज़ सेवक से सारा वृत्तांत कह सुनाया।

मिसेज़ सेवक को हिंदुस्थानियों से चिढ़ थी। यद्यपि इसी देश के अन्न-जल से उनकी सृष्टि हुई थी, पर अपने विचार में, हज़रत ईसा की शरण में आकर, वह हिंदुस्थानियों के अवगुणों से मुक्त हो चुकी थीं। उनके विचार में यहाँ के आदमियों को ख़ुदा ने सज्जनता, सहृदयता, उदारता, शालीनता आदि दिव्य गुणों से संपूर्णतः वंचित रक्खा है। वह योरपीय सभ्यता की भक्त थीं, और आहार-व्यवहार में उसी का अनुसरण करती थीं। खान-पान, वेष-भूषा, रहन-सहन, सब अँगरेज़ी थी; मजबूरी केवल अपने साँवले रंग से थी। साबुन के निरंतर प्रयोग और अन्य रासायनिक पदार्थों का व्यवहार करने पर भी मनोकामना पूरी होती न थी। उनके जीवन की एकमात्र यही अभिलाषा थी कि हम ईसाइयों की श्रेणी से निकलकर अँगरेज़ों में जा मिलें, हमें लोग साहब समझें, हमारा रब्त-ज़ब्त अँगरेज़ों से हो, हमारे लड़कों की शादियाँ ऍंग्लो-इंडियन या कम-से-कम उच्च श्रेणी के यूरेशियन लोगों से हो। सोफ़ी की शिक्षा-दीक्षा अँगरेज़ी ढंग पर हुई थी; किंतु वह माता के बहुत आग्रह करने पर भी अँगरेज़ी दावतों और पार्टियों में शरीक होती न थी, और नाच से तो उसे घृणा ही थी। किंतु मिसेज़ सेवक इन अवसरों को हाथ से जाने देती न थीं; यों काम न चलता, तो विशेष प्रयत्न करके निमंत्रण-पत्र मँगवाती थीं। अगर स्वयं उनके मकान पर दावतें और पार्टियाँ बहुत कम होती थीं, तो इसका कारण ईश्वर सेवक की कृपणता थी।

यह समाचार सुनकर मिसेज़ सेवक बोलीं—"देख ली हिंदुस्थानियों की सज्जनता? फूले न समाते थे। अब तो मालूम हुआ कि ये लोग कितने कुटिल और विश्वास-घातक हैं। एक अंधे भिखारी के सामने तुम्हारी यह इज़्ज़त है। पक्षपात तो इन लोगों की घुट्टी में पड़ा हुआ है, और यह उन बड़े-बड़े आदमियों का हाल है,

जो अपनी जाति के नेता समझे जाते हैं, जिनकी उदारता पर लोगों को गर्व है। मैंने मिस्टर क्लार्क से एक बार यह चर्चा की थी। उन्होंने तहसीलदारों को हुक्म दे दिया कि अपने-अपने इलाक़े में तंबाकू की पैदावार बढ़ाओ। यह सोफ़ी के आग में कूदने का पुरस्कार है! ज़रा-सा म्युनिसिपैलिटी का अख़्तियार क्या मिल गया, सबों के दिमाग़ फिर गए। मिस्टर क्लार्क कहते थे कि अगर राजा साहब ज़मीन का मुआमला न तय करेंगे, तो मैं ज़ाब्ते से उसे आपको दिला दूँगा।"

मिस्टर जोज़फ़ क्लार्क ज़िला के हाकिम थे। अभी थोड़े ही दिनों से यहाँ आए थे। मिसेज़ सेवक ने उनसे रब्त-ज़ब्त पैदा कर लिया था। वास्तव में उन्होंने क्लार्क को सोफ़ी के लिये चुना था। दो-एक बार उन्हें अपने घर बुला भी चुकी थीं। गृह-निर्वासन से पहले, दो-तीन बार सोफ़ी से उनकी मुलाक़ात भी हो चुकी थी; किंतु वह उनकी ओर विशेष आकृष्ट न हुई थी। तो भी मिसेज़ सेवक इस विषय में अभी निराश न हुई थीं। क्लार्क से कहती रहती थीं—"सोफ़ी मेहमानी करने गई है।" इसी प्रकार अवसर पाकर उनकी प्रेमाग्नि को भड़काती रहती थीं।

जॉन सेवक ने लज्जित होकर कहा—"मैं क्या जानता था, यह महाशय भी दग़ा देंगे, यहाँ उनकी बड़ी ख्याति है, अपने वचन के पक्के समझे जाते हैं। ख़ैर, कोई मुज़ायका नहीं, अब कोई दूसरा उपाय सोचना पड़ेगा।"

मिसेज़ सेवक—"मैं मिस्टर क्लार्क से कहूँगी। पादरी साहब से भी सिफ़ारिश कराऊँगी।"

जॉन सेवक—"मिस्टर क्लार्क को म्युनिसिपैलिटी के मुआमलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।"

जॉन सेवक इसी चिंता में पड़े हुए थे कि इस हंगामे की ख़बर

मिली। सन्नाटे में आ गए। पुलिस को रिपोर्ट की। दूसरे दिन गोदाम जाने का विचार कर ही रहे थे कि ताहिरअली लाठी टेकते हुए आ पहुँचे। आते-आते एक कुर्सी पर बैठ गए। इक्के के हचकोलों ने अधमुआ-सा कर दिया था।

मिसेज़ सेवक ने अँगरेज़ी में कहा—"कैसी सूरत बना ली है, मानो विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है!"

जॉन सेवक—"कहिए मुंशीजी, मालूम होता है, आपको बहुत चोट आई। मुझे इसका बड़ा दुःख है।"

ताहिर—"हुज़ूर, कुछ न पूछिए, कंबख़्तों ने मार डालने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी।"

जॉन सेवक—"और इन्हीं दुष्टों की आप मुझसे सिफ़ारिश कर रहे थे!"

ताहिर—"हुज़ूर, अपनी ख़ता की बहुत सज़ा पा चुका। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मेरी गरदन की हड्डी पर ज़रब आ गया है।"

जॉन सेवक—"यह आपकी भूल है। हड्डी टूट जाना कोई मामूली बात नहीं है। आप यहाँ तक किसी तरह न आ सकते थे। चोट ज़रूर आई है, मगर दो-चार रोज़ मालिश कर लेने से आराम हो जायगा। आख़िर यह मार-पीट हुई क्यों?"

ताहिर—"हुज़ूर, यह सब उसी शैतान बजरंगी अहीर की हरकत है।"

जॉन सेवक—"मगर चोट खा जाने ही से आप निरपराध नहीं हो सकते। मैं इसे आपकी नादानी और असावधानी समझता हूँ। आप ऐसे आदमियों से उलझे ही क्यों। आपको मालूम है, इसमें मेरी कितनी बदनामी है?"

ताहिर—"मेरी तरफ़ से तो ज़्यादती नहीं हुई।"

जॉन सेवक—"ज़रूर हुई, वरना देहातों के आदमी किसी से छेड़-

कर लड़ने नहीं आते। आपको इस तरह रहना चाहिए कि लोगों पर आपका रोब रहे। यह नहीं कि छोटे-छोटे आदमियों को आपसे मार-पीट करने की हिम्मत हो।"

मिसेज़ सेवक—"कुछ नहीं, यह सब इनकी कमज़ोरी है। कोई राह-चलते किसी को नहीं मारता।"

ईश्वर सेवक कुर्सी पर पड़े-पड़े बोले—"ख़ुदा के बेटे, मुझे अपने साए में ले, सच्चे दिल से उसकी बंदगी न करने की यही सज़ा है।"

ताहिरअली को ये बातें घाव पर नमक के समान लगीं। ऐसा क्रोध आया कि इसी वक़्त कह दूँ, जहन्नुम में जाय तुम्हारी नौकरी; पर जॉन सेवक को उनकी दुरवस्था से लाभ उठाने की एक युक्ति सूझ गई। फ़िटन तैयार कराई, और ताहिरअली को लिए हुए राजा महेंद्रकुमार के मकान पर जा पहुँचे। राजा साहब शहर का गश्त लगाकर मकान पर पहुँचे ही थे कि जॉन सेवक का कार्ड पहुँचा। झुँझलाए, लेकिन शील आ गया, बाहर निकल आए। मिस्टर सेवक ने कहा—"क्षमा कीजिएगा, आपको कुसमय कष्ट हुआ; किंतु पाँड़ेपुरवालों ने इतना उपद्रव मचा रक्खा है कि मेरी समझ में नहीं आता, आपके सिवा किसका दामन पकड़ूँ। कल सबों ने मिलकर गोदाम पर धावा कर दिया। शायद आग लगा देना चाहते थे, पर आग तो न लगा सके; हाँ, यह मेरे एजेंट हैं, सब-के-सब इन पर टूट पड़े, इनको और इनके भाइयों को मारते-मारते बेदम कर दिया। इतने पर भी उन्हें तसकीन न हुई, ज़नाने मकान में घुस गए; और अगर स्त्रियाँ अंदर से द्वार न बंद कर लें, तो उनकी आबरू बिगड़ने में कोई संदेह न था। इनके तो ऐसी चोटें लगी हैं कि शायद महीनों चलने-फिरने लायक़ न हों, कंधे की हड्डी ही टूट गई है।"

महेंद्रकुमारसिंह स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते थे। उनका अप-

मान होते देखकर तैश में आ जाते थे। रौद्र रूप धारण करके बोले—"सब ज़नाने में घुस गए?"

जॉन सेवक—"किवाड़ तोड़ना चाहते थे, मगर चमारों ने धमकाया, तो हट गए।"

महेंद्रकुमार—"कमीने! स्त्रियों पर अत्याचार करना चाहते थे!"

जॉन सेवक—"यही तो इस ड्रामा का सबसे लज्जास्पद अंश है।"

महेंद्रकुमार—"लज्जास्पद नहीं महाशय, घृणास्पद कहिए।"

जॉन सेवक—"अब यह बेचारे कहते हैं कि या तो मेरा इस्तीफ़ा लीजिए, या गोदाम की रक्षा के लिये चौकीदारों का प्रबंध कीजिए। स्त्रियाँ इतनी भयभीत हो गई हैं कि वहाँ एक क्षण भी नहीं रहना चाहतीं। यह सारा उपद्रव उसी अंधे की बदौलत हो रहा है।"

महेंद्रकुमार—"मुझे तो यह बहुत ही ग़रीब, सीधा-सा आदमी मालूम होता है; मगर है छँटा हुआ। उसी की दीनता पर तरस खाकर मैंने निश्चय किया था कि आपके लिये कोई दूसरी ज़मीन तलाश करूँ। लेकिन जब उन लोगों ने शरारत पर कमर बाँधी है, और आपको ज़बरदस्ती वहाँ से हटाना चाहते हैं, तो इसका उन्हें अवश्य दंड मिलेगा।"

जॉन सेवक—"बस यही बात है, वे लोग मुझे वहाँ से निकाल देना चाहते हैं। अगर रिआयत की गई, तो मेरे गोदाम में ज़रूर आग लग जायगी।"

महेंद्रकुमार—"मैं ख़ूब समझ रहा हूँ। यों मैं स्वयं जनवादी हूँ, और उस नीति का हृदय से समर्थन करता हूँ, पर जनवाद के नाम पर देश में जो अशांति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। इस जनवाद से तो धनवाद, एकवाद, सभी वाद अच्छे हैं। आप निश्चिंत रहिए।"

इसी भाँति कुछ देर और बातें करके और राजा साहब को ख़ूब

भरकर जॉन सेवक बिदा हुए। रास्ते में ताहिरअली सोचने लगा—साहब को मेरी दुर्गति से अपना स्वार्थ सिद्ध करने में ज़रा भी संकोच नहीं हुआ। क्या ऐसे धनी-मानी, विशिष्ट, विचारशील, विद्वान् प्राणी भी इतने स्वार्थभक्त होते हैं ?

जॉन सेवक अनुमान से उनके मन के भाव ताड़ गए। बोले—"आप सोच रहे होंगे, मैंने बातों में इतना रंग क्यों भरा, केवल घटना का यथार्थ वृत्तांत क्यों न कह सुनाया ; किंतु सोचिए, बिना रंग भरे मुझे यह फल प्राप्त हो सकता ? संसार में किसी काम का अच्छा या बुरा होना उसकी सफलता पर निर्भर है। एक व्यक्ति राजसत्ता का विरोध करता है। यदि अधिकारियों ने उसका दमन कर दिया, तो वह राजद्रोही कहा जाता है, और प्राण-दंड पाता है। यदि उसका उद्देश्य पूरा हो गया, तो वह अपनी जाति का उद्धार-कर्ता और विजयी समझा जाता है, उसके स्मारक बनाए जाते हैं। सफलता में दोषों को मिटाने की विलक्षण शक्ति है। आप जानते हैं, दो साल पहले मुस्तफ़ा कमाल क्या था ? बाग़ी, देश उसके .खून का प्यासा था। आज वह अपनी जाति का प्राण है। क्यों ? इसीलिये कि वह सफल-मनोरथ हुआ। लेनिन कई साल पहले प्राण-भय से अमेरिका भागा था, आज वह रूस का प्रधान है। इसीलिये कि उसका विद्रोह सफल हुआ। मैंने राजा साहब को स्वपक्षी बना लिया, फिर रंग भरने का दोष कहाँ रहा ?"

इतने में फ़िटन बँगले पर आ पहुँची। ईश्वर सेवक ने आते-ही-आते पूछा—"कहो, क्या कर आए ?"

जॉन सेवक ने गर्व से कहा—"राजा को अपना मुरीद बना आया। थोड़ा-सा रंग तो ज़रूर भरना पड़ा, पर उसका असर बहुत अच्छा हुआ।"

ईश्वर सेवक—".खुदा, मुझ पर दया-दृष्टि कर। बेटा, रंग मिलाए

बग़ैर भी दुनिया का कोई काम चलता है? सफलता का यही मूल-मंत्र है, और व्यवसाय की सफलता के लिये तो यह सर्वथा अनिवार्य है। आपके पास अच्छी-से-अच्छी वस्तु है; जब तक आप उसकी स्तुति नहीं करते, कोई ग्राहक खड़ा ही नहीं होता। अपनी अच्छी वस्तु को अमूल्य, दुर्लभ, अनुपम कहना बुरा नहीं। अपनी ओषधि को आप सुधा-तुल्य, रामबाण, अकसीर, ऋषिप्रदत्त, संजीवनी, जो चाहें कह सकते हैं, इसमें कोई बुराई नहीं। किसी उपदेशक से पूछो, किसी वकील से पूछो, किसी लेखक से पूछो, सभी एक स्वर से कहेंगे कि रंग और सफलता समानार्थक हैं। यह भ्रम है कि चित्रकार ही को रंगों की ज़रूरत होती है। अब तो तुम्हें निश्चय हो गया कि वह ज़मीन मिल जायगी?"

जॉन सेवक—"जी हाँ, अब कोई संदेह नहीं।"

यह कहकर उन्होंने प्रभु सेवक को पुकारा, और तिरस्कार करके बोले— बैठे-बैठे क्या कर रहे हो? ज़रा पाँड़ेपुर क्यों नहीं चले जाते? अगर तुम्हारा यही हाल रहा, तो मैं कहाँ तक तुम्हारी मदद करता फिरूँगा।"

प्रभु सेवक—"मुझे जाने में कोई आपत्ति नहीं है; पर इस समय मुझे सोफ़ी के पास जाना है।"

जॉन सेवक—"पाँड़ेपुर से लौटते हुए सोफ़ी के पास बहुत आसानी से जा सकते हो।"

प्रभु सेवक—"मैं सोफ़ी से मिलना ज़्यादा ज़रूरी समझता हूँ।"

जॉन सेवक—"तुम्हारे रोज़-रोज़ मिलने से क्या फ़ायदा, जब तुम आज तक उसे घर लाने में सफल नहीं हो सके।"

प्रभु सेवक के मुँह से ये शब्द निकलते-निकलते रह गए—"माता ने जो आग लगा दी है, वह मेरे बुझाए नहीं बुझ सकती।" तुरत अपने कमरे में आए, कपड़े पहने, और उसी वक़्त ताहिरअली

के साथ पाँड़ेपुर चलने को तैयार हो गए। ग्यारह बज चुके थे, ज़मीन से आग की लपट निकल रही थी, दोपहर का भोजन तैयार था, मेज़ लगा दी गई थी; किंतु प्रभु सेवक माता और पिता के बहुत आग्रह करने पर भी भोजन पर न बैठे। ताहिरअली ख़ुदा से दुआ कर रहे थे कि किसी तरह दोपहरी यहीं कट जाय, पंखे के नीचे टट्टियों से छनकर आनेवाली शीतल वायु ने उनकी पीड़ा को बहुत शांत कर दिया था; किंतु प्रभु सेवक के हठ ने उन्हें यह आनंद न उठाने दिया।

[११]

भैरो पासी अपनी मा का सपूत बेटा था। यथासाध्य उसे आराम से रखने की चेष्टा करता रहता था। इस भय से कि कहीं बहू सास को भूखा न रक्खे, वह उसकी थाली अपने सामने परसा लिया करता था, और उसे अपने साथ ही बिठाकर खिलाता था। बुढ़िया तंबाकू पीती थी। उसके वास्ते एक सुंदर, पीतल से मढ़ा हुआ, नारियल लाया था। आप चाहे ज़मीन पर सोए, पर उसे खाट पर सुलाता। कहता, इसने न-जाने कितने कष्ट झेलकर मुझे पाला-पोसा है; मैं इससे जीते-जी कभी उरिन नहीं हो सकता। अगर मा का सिर भी दर्द करता, तो बेचैन हो जाता, ओझे-सयाने बुला लाता। बुढ़िया को गहने-कपड़े का भी शौक़ था। पति के राज में जो सुख न पाए थे, वे बेटे के राज में भोगना चाहती थी। भैरो ने उसके लिये हाथों के कड़े, गले की हँसली और ऐसी ही कई चीज़ें बनवा दी थीं। पहनने के लिये मोटे कपड़ों की जगह कोई रंगीन छींट लाया करता था। अपनी स्त्री को ताकीद करता रहता था कि अम्मा को कोई तकलीफ़ न होने पाए। इस तरह बुढ़िया का मन बढ़ गया था। ज़रा-सी कोई बात इच्छा के विरुद्ध होती, तो रूठ जाती, और बहू को आड़े हाथों लेती। बहू का नाम सुभागी था। बुढ़िया ने उसका नाम अभागी रख छोड़ा था। बहू ने ज़रा चिलम भरने में देर की, चारपाई बिछाना भूल गई, या मुँह से निकलते ही उसका पैर दबाने या सिर के जुएँ निकालने न आ पहुँची, तो बुढ़िया उसके सिर हो जाती। उसके बाप और भाइयों के मुँह में कालिख लगाती, सबों की दाढ़ियाँ जलाती, और

उसे गालियों ही से संतोष न होता, ज्यों ही भैरो दूकान से आता, एक-एक के सौ-सौ लगाती। भैरो सुनते ही जल उठता, कभी भली-कटी बातों से और कभी डंडे से स्त्री की ख़बर लेता। जगधर से उसकी गहरी मित्रता थी। यद्यपि भैरो का घर बस्ती के पश्चिम सिरे पर था, और जगधर का घर पूर्व सिरे पर, किंतु जगधर की यहाँ बहुत आमद-रफ़्त थी। यहाँ मुफ़्त में ताड़ी पीने को मिल जाती थी, जिसे मोल लेने के लिये उसके पास पैसे न थे। उसके घर में खानेवाले बहुत थे, कमानेवाला अकेला वही था। पाँच लड़कियाँ थीं, एक लड़का और स्त्री। खोंचे की बिक्री में इतना लाभ कहाँ कि इतने पेट भरे, और ताड़ी-शराब भी पिए! वह भैरो की हाँ में हाँ मिलाया करता था। इसलिये सुभागी उससे जलती थी।

दो-तीन साल पहले की बात है, एक दिन, रात के समय, भैरो और जगधर बैठे हुए ताड़ी पी रहे थे। जाड़ों के दिन थे। बुढ़िया खा-पीकर, अँगीठी सामने रखकर, आग ताप रही थी। भैरो ने सुभागी से कहा—"थोड़े-से मटर भून ला। नमक, मिर्च, प्याज भी लेती आना।" ताड़ी के लिये चिखने की ज़रूरत थी। सुभागी ने मटर तो भूने, लेकिन प्याज़ घर में न था। हिम्मत न पड़ी कि कह दे—"प्याज नहीं है।" दौड़ी हुई कुँजड़े की दूकान पर गई। कुँजड़ा दूकान बंद कर चुका था। सुभागी ने बहुत चिरौरी की, पर उसने दूकान न खोली। विवश होकर उसने भुने हुए मटर लाकर भैरो के सामने रख दिए। भैरो ने प्याज़ न देखा, तो तेवर बदले। बोला—"क्या मुझे बैल समझती है कि भुने हुए मटर लाकर रख दिए, प्याज क्यों नहीं लाई?"

सुभागी ने कहा—"प्याज घर में नहीं है, तो क्या मैं प्याज हो जाऊँ?"

जगधर—"प्याज के बिना मटर क्या अच्छे लगेंगे?"

बुढ़िया—"प्याज तो अभी कल ही धेले का आया था। घर में कोई चीज तो बचती ही नहीं। न-जाने इस चुड़ैल का पेट है या भाड़।"

सुभागी—"मुझसे कसम ले लो, जो प्याज हाथ से भी छुआ हो। ऐसी जीभ होती, तो इस घर में एक दिन भी निबाह न होता।"

भैरो—"प्याज नहीं था, तो लाई क्यों नहीं?"

जगधर—"जो चीज़ घर में न रहे, उसकी फिकर रखनी चाहिए।"

सुभागी—"मैं क्या जानती थी कि आज आधी रात को प्याज की धुन सवार होगी।"

भैरो ताड़ी के नशे में था। नशे में भी क्रोध का-सा गुण है, निर्बलों ही पर उतरता है। डंडा पास ही धरा था, उठाकर एक डंडा सुभागी के मारा। उसके हाथ की सब चूड़ियाँ टूट गईं। घर से भागी। भैरो पीछे दौड़ा। सुभागी एक दूकान की आड़ में छिप गई। भैरो ने बहुत ढूँढ़ा, जब उसे न पाया, तो घर जाकर किवाड़ बंद कर लिए, और फिर रात-भर ख़बर न ली। सुभागी ने सोचा, इस वक़्त जाऊँगी, तो प्राण न बचेंगे। पर रात-भर रहूँगी कहाँ? बजरंगी के घर गई। उसने कहा—"ना बाबा, मैं यह रोग नहीं पालता। खोटा आदमी है, कौन उससे रार मोल ले!" ठाकुरदीन के द्वार बंद थे। सूरदास बैठा खाना पका रहा था। उसकी झोपड़ी में घुस गई, और बोली—"सूरे, आज रात-भर मुझे पड़ रहने दो, मारे डालता है, अभी जाऊँगी, तो एक हड्डी भी न बचेगी।"

सूरदास ने कहा—"आओ, लेट रहो, भोरे चली जाना, अभी नसे में होगा।"

दूसरे दिन जब भैरो को यह बात मालूम हुई, तो सूरदास से गाली-गलौज की, और मारने की धमकी दी। सुभागी उसी दिन से सूरदास पर स्नेह करने लगी। जब अवकाश पाती, तो उसके पास आ बैठती, कभी-कभी उसके घर में झाड़ू लगा जाती, कभी घर-वालों की आँख बचाकर उसे कुछ दे जाती, मिठुआ को अपने घर बुला ले जाती, और उसे गुड़-चबेना खाने को देती।

भैरो ने कई बार उसे सूरदास के घर से निकलते देखा। जगधर ने दोनो को बातें करते हुए पाया। भैरो के मन में संदेह हो गया कि ज़रूर इन दोनो में कुछ साँठ-गाँठ है। तभी से वह सूरदास से खार खाता था। उससे छेड़कर लड़ता ; नायकराम के भय से उसकी मरम्मत न कर सकता था। सुभागी पर उसका अत्याचार दिनोंदिन बढ़ता जाता था, और जगधर, शांत स्वभाव होने पर भी, भैरो का पक्ष लिया करता था।

जिस दिन बजरंगी और ताहिरअली में झगड़ा हुआ था, उसी दिन भैरो और सूरदास में भी संग्राम छिड़ गया। बुढ़िया ने दोपहर को नहाया था, सुभागी उसकी धोती छाँटना भूल गई। गरमी के दिन थे ही, रात को ६ बजे बुढ़िया को फिर गरमी मालूम हुई। गरमियों में दिन में दो बार स्नान करती थी, जाड़ों में दो महीने में एक बार! जब वह नहाकर धोती माँगने लगी, तो सुभागी को याद आई। काटो, तो बदन में लहू नहीं। हाथ जोड़कर बोली— "अम्मा, आज धोती धोने की याद नहीं रही, तुम ज़रा देर मेरी धोती पहन लो, तो मैं उसे छाँटकर अभी सुखाए देती हूँ।"

बुढ़िया इतनी क्षमाशील न थी, हज़ारों गालियाँ सुनाईं, और गीली धोती पहने बैठी रही। इतने में भैरो दूकान से आया, और सुभागी से बोला—"जल्दी खाना ला, आज संगत होनेवाली है। आओ अम्मा, तुम भी खा लो।"

बुढ़िया बोली—"नहाकर गीली धोती पहने बैठी हूँ। अब अपने हाथों धोती धो लिया करूँगी।"

भैरो—"क्या इसने धोती नहीं धोई?"

बुढ़िया—"वह अब मेरी धोती क्यों धोने लगी। घर की मालकिन है। यही क्या कम है कि एक रोटी खाने को दे देती है।"

सुभागी ने बहुत कुछ उज्र किया; किंतु भैरो ने एक न सुनी, डंडा लेकर मारने दौड़ा। सुभागी भागी, और आकर सूरदास के घर में घुस गई। पीछे-पीछे भैरो भी वहीं पहुँचा। झोपड़े में घुसा, और चाहता था कि सुभागी का हाथ पकड़कर खींच ले कि सूरदास उठकर खड़ा हो गया, और बोला—"क्या बात है भैरो, इसे क्यों मार रहे हो?"

भैरो गर्म होकर बोला—"द्वार पर से हट जाओ, नहीं तो पहले तुम्हारी हड्डियाँ तोड़ूँगा, सारा बगुलाभगतपन निकल जायगा। बहुत दिनों से तुम्हारा रंग देख रहा हूँ, आज सारी कसर निकाल लूँगा।"

सूरदास—"मेरा क्या छैलापन तुमने देखा? बस यही न कि मैंने सुभागी को घर से निकाल नहीं दिया?"

भैरो—"बस, अब चुप ही रहना। ऐसे पापी न होते, तो भगवान ने आँखें क्यों फोड़ दी होतीं। भला चाहते हो, तो सामने से हट जाओ।"

सूरदास—"मेरे घर में तुम उसे न मारने पाओगे; यहाँ से चली जाय, तो जितना चाहे मार लेना।"

भैरो—"हटता है सामने से कि नहीं?"

सूरदास—"मैं अपने घर यह उपद्रव न मचाने दूँगा।"

भैरो ने क्रोध में आकर सूरदास को धक्का दिया। बेचारा बेलाग खड़ा था, गिर पड़ा, पर फिर उठा, और भैरो की कमर पकड़कर बोला—"अब चुपके-से चले जाओ, नहीं तो अच्छा न होगा।"

सूरदास था तो दुबला-पतला, पर उसकी हड्डियाँ लोहे की थीं। बादल-बूँदी, सरदी-गरमी झेलते-झेलते उसके अंग ठोस हो गए थे। भैरो को ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो कोई लोहे का शिकंजा है। कितना ही ज़ोर मारता; पर शिकंजा ज़रा भी ढीला न होता था। सुभागी ने मौक़ा पाया, तो भागी। अब भैरो ज़ोर-ज़ोर से गालियाँ देने लगा। मोहल्लेवाले यह शोर सुनकर आ पहुँचे। नायकराम ने मज़ाक़ करके कहा—"क्यों सूरे, अच्छी सूरत देखकर आँखें खुल जाती हैं क्या? मुहल्ले ही में?"

सूरदास—"पंडाजी, तुम्हें दिल्लगी सूझी है, और यहाँ मुँह में कालिख लगाई जा रही है। अंधा था, अपाहिज था, भिखारी था, नीच था, पर चोरी-बदमासी के इलजाम से तो बचा हुआ था। आज वह इलजाम भी लग गया।"

बजरंगी—"आदमी जैसा आप होता है, वैसा ही दूसरों को समझता है।"

भैरो—"तुम कहाँ के बड़े साधू हो। अभी आज ही लाठी चलाकर आए हो। मैं दो साल से देख रहा हूँ, मेरी घरवाली इससे आकर अकेले में घंटों बातें करती है। जगधर ने भी उसे यहाँ से रात को आते-जाते देखा है। आज ही, अभी, उसके पीछे यह मुझसे लड़ने पर तैयार था।"

नायकराम—"सुभा होने की बात ही है, अंधा आदमी देवता थोड़े ही होता है, और फिर देवता लोग भी तो काम के तीर से नहीं बचे, सूरदास तो फिर भी आदमी है, और अभी उमर ही क्या है।"

ठाकुरदीन—"महराज, क्यों अंधे के पीछे पड़े हुए हो। चलो, कुछ भजन-भाव हो।"

नायकराम—"तुम्हें भजन-भाव सूझता है, यहाँ एक भले आदमी की इज़्ज़त का मुआमला आ पड़ा है। भैरो, हमारी एक बात मानो,

तो कहें। तुम सुभागी को मारते बहुत हो, इससे उसका मन तुमसे नहीं मिलता। अभी दूसरे दिन बारी आती है, अब महीने में दो बार से ज़्यादा न आने पावे।"

भैरो देख रहा था कि मुझे लोग बना रहे हैं। तिनककर बोला—"अपनी मेहरिया है, मारते-पीटते हैं, तो किसी का साझा है? जो घोड़ी पर कभी सवार ही नहीं हुआ, वह दूसरों को सवार होना क्या सिखाएगा। वह क्या जाने, औरत कैसे काबू में रहती है।"

यह व्यंग्य नायकराम पर था, जिसका अभी तक विवाह नहीं हुआ था। घर में धन था, यजमानों की बदौलत किसी बात की चिंता न थी, किंतु न-जाने क्यों अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ था। वह हज़ार-पाँच सौ रुपए से ग़म खाने को तैयार था; पर कहीं शिप्पा न जमता था। भैरो ने समझा था, नायकराम दिल में कट जायँगे; मगर वह छुँटा हुआ शहरी गुंडा ऐसे व्यंग्यों को कब ध्यान में लाता था। बोला—"कहो बजरंगी, इसका कुछ जवाब दो, औरत कैसे बस में रहती है?"

बजरंगी—"मार-पीट से नन्हा-सा लड़का तो बस में आता ही नहीं, औरत क्या बस में आएगी।"

भैरो—"बस में तो आए औरत का बाप, औरत किस खेत की मूली है, मार से भूत भागता है।"

बजरंगी—"तो औरत भी भाग जायगी, लेकिन काबू में न आएगी।"

नायकराम—"बहुत अच्छी कही बजरंगी, बहुत पक्की कही, वाह-वाह! मार से भूत भागता है, तो औरत भी भाग जायगी! अब तो कट गई तुम्हारी बात?"

भैरो—"बात क्या कट जायगी, दिल्लगी है? चूने को जितना ही कूटो, उतना ही चिमटता है।"

जगधर—"ये सब कहने की बातें हैं। औरत अपने मन से बस में आती है, और किसी तरह नहीं।"

नायकराम—"क्यों बजरंगी, नहीं है कोई जवाब?"

ठाकुरदीन—"पंडाजी, तुम दोनो को लड़ाकर तभी दम लोगे बिचारे अपाहिज आदमी के पीछे पड़े हो।"

नायकराम—"तुम सूरदास को क्या समझते हो, यह देखने ही में इतने दुबले हैं। अभी हाथ मिलाओ, तो मालूम हो। भैरो, अगर इन्हें पछाड़ दो, तो पाँच रुपए इनाम दूँ।"

भैरो—"निकल जाओगे।"

नायकराम—"निकलनेवाले को कुछ कहता हूँ। यह देखो, ठाकुरदीन के हाथ में रक्खे देता हूँ।"

जगधर—"क्या ताकते हो भैरो, ले पड़ो।"

सूरदास—"मैं नहीं लड़ता।"

नायकराम—"सूरदास, देखो, नाम-हँसाई मत कराओ। मर्द होकर लड़ने से डरते हो? हार ही जाओगे या और कुछ!"

सूरदास—"लेकिन भाई, मैं पेच-पाच नहीं जानता। पीछे से यह न कहना, हाथ क्यों पकड़ा। मैं जैसे चाहूँगा, वैसे लड़ूँगा।"

जगधर—हाँ-हाँ, तुम जैसे चाहना, वैसे लड़ना।"

सूरदास—अच्छा तो आओ, कौन आता है?"

नायकराम—"अंधे आदमी का जीवट देखना। चलो भैरो, आओ मैदान में।"

भैरो—"अंधे से क्या लड़ूँगा!"

नायकराम—"बस, इसी पर इतना अकड़ते थे!"

जगधर—"निकल आओ भैरो, एक झपट्टे में तो मार लोगे।"

भैरो—"तुम्हीं क्यों नहीं लड़ जाते, तुम्हीं इनाम ले लेना।"

जगधर को रुपयों की नित्य चिंता रहती थी। परिवार बड़ा होने

के कारण किसी तरह चूल न बैठती थी, घर में एक-न-एक चीज़ घटी ही रहती थी। धनोपार्जन के किसी उपाय को हाथ से न छोड़ना चाहता था। बोला—क्यों सूरे, हमसे लड़ोगे ?"

सूरदास—"तुम्हीं आ जाओ, कोई सही।"

जगधर—"क्यों पंडाजी, इनाम दोगे न ?"

नायकराम—"इनाम तो भैरो के लिये था, लेकिन कोई हरज नहीं ! हाँ, सर्त यह है कि एक ही झपट्टे में गिरा दो।"

जगधर ने धोती ऊपर चढ़ा ली, और सूरदास से लिपट गया। सूरदास ने उसकी एक टाँग पकड़ ली, और इतने ज़ोर से खींचा कि जगधर धम-से गिर पड़ा। चारों तरफ़ से तालियाँ बजने लगीं।

बजरंगी बोला—"वाह सूरदास, वाह !" नायकराम ने दौड़कर उसकी पीठ ठोंकी।

भैरो—"मुझे तो कहते थे, एक ही झपट्टे में गिरा दोगे, तुम कैसे गिर गए ?"

जगधर—"सूरे ने टाँग पकड़ ली, नहीं तो क्या गिरा लेते। वह अड़ंगा मारता कि चारो खाने चित गिरते।"

नायकराम—"अच्छा तो एक बाजी और हो जाय।"

जगधर—'हा-हाँ, अब की देखना।"

दोनो योद्धाओं में फिर मल्ल-युद्ध होने लगा। सूरदास ने अब की जगधर का हाथ पकड़कर इतने ज़ोर से ऐंठा कि वह आह ! आह ! करता हुआ ज़मीन पर बैठ गया। सूरदास ने तुरंत उसका हाथ छोड़ दिया, और गरदन पकड़कर दोनो हाथों से ऐसा दबोचा कि जगधर की आँखें निकल आईं। नायकराम ने दौड़कर सूरदास को हटा लिया। बजरंगी ने जगधर को उठाकर बिठाया, और हवा करने लगा।

भैरो ने बिगड़कर कहा—"यह कोई कुस्ती है कि जहाँ पकड़ पाया, वहीं धर दबाया। यह तो गँवारों की लड़ाई है, कुस्ती थोड़े ही है।"

नायकराम—"यह बात तो पहले ही तय हो चुकी थी।"

जगधर सँभलकर उठ बैठा, और चुपके से सरक गया। भैरो भी उसके पीछे चलता हुआ। उनके जाने के बाद यहाँ ख़ूब क़हक़हे उड़े, और सूरदास की ख़ूब पीठ ठोंकी गई। सबको आश्चर्य हो रहा था कि सूरदास-जैसा दुर्बल आदमी जगधर-जैसे मोटे-ताज़े आदमी को कैसे दबा बैठा! ठाकुरदीन यंत्र-मंत्र का क़ायल था। बोला—"सूरे को किसी देवता का इष्ट है। हमें भी बताओ सूरे, कौन-सा मंत्र जगाया था?"

सूरदास—सौ मंत्रों का मंत्र हिम्मत है। ये रुपए जगधर को दे देना, नहीं तो मेरी कुसल नहीं है।"

ठाकुरदीन—"रुपए क्यों दे दूँ, कोई लूट है? तुमने बाजी मारी है, तुमको मिलेंगे।"

नायकराम—"अच्छा सूरदास, ईमान से बता दो, सुभागी को किस मंत्र से बस में किया? अब तो यहाँ सब लोग अपने ही हैं, कोई दूसरा नहीं है। मैं भी कहीं कंपा लगाऊँ।"

सूरदास ने करुण स्वर में कहा—"पंडाजी, अगर तुम भी मुझसे ऐसी बातें करोगे, तो मैं मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जाऊँगा। मैं पराई स्त्री को अपनी माता, बेटी, बहन समझता हूँ। जिस दिन मेरा मन इतना चंचल हो जायगा, तुम मुझे जीता न देखोगे।" यह कहकर सूरदास फूट-फूटकर रोने लगा। ज़रा देर में आवाज़ सँभालकर बोला—"भैरो रोज़ उसे मारता है। बिचारी कभी-कभी मेरे पास आकर बैठ जाती है। मेरा अपराध इतना ही है कि मैं उसे दुत्कार नहीं देता। इसके लिये चाहे कोई मुझे बदनाम करे, चाहे जो इलजाम लगाए, मेरा जो धरम था, वह मैंने किया। बदनामी के डर से जो आदमी धरम से मुँह फेर ले, वह आदमी नहीं है।"

बजरंगी—"तुम्हें हट जाना था, उसकी औरत थी, मारता चाहे पीटता, तुमसे मतलब।"

सूरदास—"भैया, आँखों देखकर रहा नहीं जाता, यह तो संसार का व्यवहार है; पर इतनी-सी बात पर कोई इतना बड़ा कलंक तो नहीं लगा देता। मैं तुमसे सच कहता हूँ, आज मुझे जितना दुख हो रहा है, उतना दादा के मरने पर भी न हुआ था। मैं अपाहिज, दूसरों के टुकड़े खानेवाला, और मुझ पर यह कलंक!" (रोने लगा)

नायकराम—"तो रोते क्या हो भले आदमी, अंधे हो, तो क्या मर्द नहीं हो? मुझे तो कोई यह कलंक लगाता, तो और खुस होता। ये हजारों आदमी, जो तड़के गंगा-स्नान करने जाते हैं, वहाँ नजरबाजी के सिवा और क्या करते हैं! मंदिरों में इसके सिवा और क्या होता है! मेले-ठेलों मे भी यही बहार रहती है। यही तो मरदों के काम हैं। अब सरकार के राज में लाठी-तलवार का तो कहीं नाम नहीं रहा, सारी मनुसई इसी नजरबाजी में रह गई है। इसकी क्या चिंता! चलो, भगवान का भजन हो, यह सब दुख दूर हो जायगा।"

बजरंगी को चिंता लगी हुई थी—"आज की मार-पीट का न-जाने क्या फल हो। कल पुलीस द्वार पर आ जायगी। गुस्सा हराम होता है।" नायकराम ने आश्वासन दिया—"भले आदमी, पुलीस से क्या डरते हो? कहो थानेदार को बुलाकर नचाऊँ, कहो इसपेट्टर को बुलाकर चपतियाऊँ। निश्चिंत बैठे रहो, कुछ न होने पाएगा। तुम्हारा बाल भी बाँका हो जाय, तो मेरा जिम्मा।"

तीनो आदमी वहाँ से चले। दयागिर पहले ही से इनकी राह देख रहे थे। कई गाड़ीवान और बनिए भी आ बैठे थे। ज़रा देर में भजन की तानें उठने लगीं। सूरदास अपनी चिंताओं को भूल गया, मस्त होकर गाने लगा। कभी भक्ति से विह्वल होकर नाचता, उछलने-

कूदने लगता, कभी रोता, कभी हँसता। सभा विसर्जित हुई, तो सभी प्राणी प्रसन्न थे, सबके हृदय निर्मल हो गए थे, मलिनता मिट गई थी, मानो किसी रमणीक स्थान की सैर करके आए हों। सूरदास तो मंदिर के चबूतरे ही पर लेटा, और लोग अपने-अपने घर गए। किंतु थोड़ी ही देर बाद सूरदास को फिर उन्हीं चिंताओं ने आ घेरा—"मैं क्या जानता था कि भैरो के मन में मेरी ओर से इतना मैल है, नहीं तो सुभागी को अपने झोपड़े में आने ही क्यों देता। जो सुनेगा, वही मुझ पर थूकेगा। लोगों को ऐसी बातों पर कितनी जल्द विश्वास आ जाता है। मोहल्ले में कोई अपने दरवाजे पर खड़ा न होने देगा। ऊँह! भगवान तो सबके मन की बात जानते हैं। आदमी का धरम है कि किसी को दुख में देखे, तो उसे तसल्ली दे। अगर अपना धरम पालने में भी कलंक लगता है, तो लगे बला से। इसके लिये कहाँ तक रोऊँ। कभी-न-कभी तो लोगों को मेरे मन का हाल मालूम ही हो जायगा।"

किंतु जगधर और भैरो, दोनो के मन में ईर्ष्या का फोड़ा पक रहा था। जगधर कहता था—"मैंने तो समझा था, सहज में पाँच रुपए मिल जायँगे; नहीं तो क्या कुत्ते ने काटा था कि उससे भिड़ने जाता। आदमी काहे को है, लोहा है।"

भैरो—"मैं उसकी ताक़त की परीच्छा कर चुका हूँ। ठाकुरदीन सच कहता है, उसे किसी देवता का इष्ट है।"

जगधर—"इष्ट-विष्ट कुछ नहीं है, यह सब बेफिकरी है। हम-तुम गृहस्ती के जंजाल में फँसे हुए हैं, नोन-तेल-लकड़ी की चिंता सिर पर सवार रहती है, घाटे-नफे के फेर में पड़े रहते हैं। उसे कौन चिंता है? मजे से जो कुछ मिल जाता है, खाता है, और मीठी नींद सोता है। हमको-तुमको रोटी-दाल भी दोनो जून नसीब नहीं होती। उसे क्या कमी है, किसी ने चावल दिए, कहीं मिठाई

पा गया, घी-दूध बजरंगी के घर से मिल ही जाता है। बल तो खाने से होता है।"

भैरो—"नहीं, यह बात नहीं है। नसा खाने से बल का नास हो जाता है।"

जगधर—"कैसी उलटी बातें करते हो; ऐसा होता, तो फौज में गोरों को बराँडी क्यों पिलाई जाती। अँगरेज सभी सराब पीते हैं, तो क्या कमजोर होते हैं।"

भैरो—"आज सुभागी आती है, तो गला दबा देता हूँ।"

जगधर—"किसी के घर छिपी बैठी होगी।"

भैरो—"अंधे ने मेरी आबरू बिगाड़ दी। बिरादरी में यह बात फैलेगी, तो हुक्का बंद हो जायगा, भात देना पड़ जायगा।"

जगधर—"तुम्हीं तो ढिंढोरा पीट रहे हो। यह नहीं, पटकनी खाई थी, तो चुपके से घर चले आते। सुभागी घर आती, तो उससे समझते। तुम लगे वहीं दुहाई देने।"

भैरो—"इस अंधे को मैं ऐसा कपटी न समझता था, नहीं तो अब तक कभी उसका मजा चखा चुका होता। अब उस चुड़ैल को घर न रक्खूँगा। चमार के हाथों यह बे-आबरूई!"

जगधर—"अब इससे बड़ी और क्या बदनामी होगी, गला काटने का काम है।"

भैरो—"बस, यही मन में आता है कि चलकर एक गँड़ासा मारकर काम तमाम कर दूँ। लेकिन नहीं, मैं उसे खेला-खेलाकर मारूँगा। सुभागी का दोस नहीं है। सारा तूफान इसी ऐसे अंधे का खड़ा किया हुआ है।"

जगधर—"दोस दोनो का है।"

भैरो—"लेकिन छेड़छाड़ तो पहले मर्द ही करता है। उससे तो अब मुझे कोई वास्ता नहीं रहा, जहाँ चाहे जाय, जैसे चाहे रहे।

मुझे तो अब इसी अंधे से भुगतना है। सूरत से कैसा गरीब मालूम होता है, जैसे कुछ जानता ही नहीं, और मन में इतना कपट भरा हुआ है! भीख माँगते दिन जाते हैं, उस पर भी अभागे की आँखें नहीं खुलतीं। जगधर, इसने मेरा सिर नीचा कर दिया, मैं दूसरों पर हँसा करता था, अब जमाना मुझ पर हँसेगा। मुझे सबसे बड़ा मलाल तो यह है कि अभागिन गई भी, तो चमार के साथ गई। अगर किसी ऐसे आदमी के साथ जाती, जो जात-पाँत में, देखने-सुनने में, धन-दौलत में मुझसे बढ़कर होता, तो मुझे इतना रंज न होता। जो सुनेगा, अपने मन में यही कहेगा कि मैं इस अंधे से भी गया-बीता हूँ।"

जगधर—"औरतों का सुभाव कुछ समझ में नहीं आता। नहीं तो, कहाँ तुम और कहाँ वह अंधा, मुँह पर मक्खियाँ भिनका करती हैं, मालूम होता है, जूते खाकर आया है।"

भैरो—"और बेहया कितना बड़ा है! भीख माँगता है, अंधा है; पर जब देखो, हँसता ही रहता है। मैंने उसे कभी रोते नहीं देखा।"

जगधर—"घर में रुपए गड़े हैं, रोए उसकी बला। भीख तो दिखाने को माँगता है।"

भैरो—"अब रोएगा। ऐसा रुलाऊँगा कि छठी का दूध याद आ जायगा।"

यों बातें करते हुए दोनो अपने-अपने घर गए। रात के दो बजे होंगे कि अकस्मात् सूरदास की झोपड़ी से ज्वाला उठी। लोग अपने-अपने द्वारों पर सो रहे थे। निद्रावस्था में भी उपचेतना जागती रहती है। दम-के-दम में सैकड़ों आदमी जमा हो गए। आसमान पर लाली छाई हुई थी, ज्वालाएँ लपक-लपककर आकाश की ओर दौड़ने लगीं। कभी उनका आकार किसी मंदिर के स्वर्ण-कलश का-सा हो जाता था, कभी वे वायु के झोंकों से यों कंपित

होने लगती थीं, मानो जल में चाँद का प्रतिबिंब है। आग बुझाने का प्रयत्न किया जा रहा था; पर झोपड़े की आग, ईर्ष्या की आग की भाँति कभी नहीं बुझती। कोई पानी ला रहा था, कोई यों ही शोर मचा रहा था; किंतु अधिकांश लोग चुपचाप खड़े नैराश्य-पूर्ण दृष्टि से अग्निदाह को देख रहे थे, मानो किसी मित्र की चिताग्नि है।

सहसा सूरदास दौड़ा हुआ आया, और चुपचाप ज्वाला के प्रकाश में खड़ा हो गया। बजरंगी ने पूछा—"यह कैसे लगी सूरे, चूल्हे में तो आग नहीं छोड़ दी थी?"

सूरदास—"झोपड़े में जाने का कोई रास्ता नहीं है?"

बजरंगी—"अब तो अंदर-बाहर सब एक हो गया। दीवारें जल रही हैं।"

सूरदास—"किसी तरह नहीं जा सकता?"

बजरंगी—"कैसे जाओगे? देखते नहीं हो, यहाँ तक लपटें आ रही हैं?"

जगधर—"सूरे, क्या आज चूल्हा ठंडा नहीं किया था?"

नायकराम—"चूल्हा ठंडा किया होता, तो दुसमनों का कलेजा कैसे ठंडा होता।"

जगधर—"पंडाजी, मेरा लड़का काम न आए, अगर मुझे कुछ भी मालूम हो, तुम मुझ पर नाहक सुभा करते हो।"

नायकराम—"मैं जानता हूँ, जिसने लगाई है। बिगाड़ न दूँ, तो कहना।"

ठाकुरदीन—"तुम क्या बिगाड़ोगे, भगवान आप ही बिगाड़ देंगे। इसी तरह जब मेरे घर में चोरी हुई थी, तो सब स्वाहा हो गया था।"

जगधर—"जिसके मन में इतनी खुटाई हो, भगवान उसका सत्यानास कर दें।"

सूरदास—"अब तो लपट नहीं आती।"

बजरंगी—"हाँ, फूस जल गया, अब धरन जल रही है।"

सूरदास—"अब तो अंदर जा सकता हूँ।"

नायकराम—"अंदर तो जा सकते हो; पर बाहर नहीं निकल सकते। अब चलो आराम से सो रहो; जो होना था, हो गया। पछताने से क्या होगा।"

सूरदास—"हाँ, सो रहूँगा, जल्दी क्या है।"

थोड़ी देर में रही-सही आग भी बुझ गई। कुशल यह हुई कि और किसी के घर में आग न लगी। सब लोग इस दुर्घटना पर आलोचनाएँ करते हुए बिदा हुए। सन्नाटा छा गया। किंतु सूरदास अब भी वहीं बैठा हुआ था। उसे झोपड़े के जल जाने का दुख न था, बरतन आदि के जल जाने का भी दुख न था; दुख था उस पोटली का, जो उसकी उम्र-भर की कमाई थी, जो उसके जीवन की सारी आशाओं का आधार थी, जो उसकी सारी यातनाओं और याचनाओं का निष्कर्ष थी। इस छोटी-सी पोटली में उसका, उसके पितरों का और उसके नामलेवा का उद्धार संचित था। यही उसके लोक और परलोक, उसकी दीन-दुनिया का आशा-दीपक थी। उसने सोचा—पोटली के साथ रुपए थोड़े ही जल गए होंगे। अगर रुपए पिघल भी गए होंगे, तो चाँदी कहाँ जायगी। क्या जानता था कि आज यह विपत्ति आनेवाली है, नहीं तो यहीं न सोता। पहले तो कोई झोपड़ी के पास आता ही न; और अगर आग लगाता भी, तो पोटली को पहले ही निकाल लेता। सच तो यों है कि मुझे यहाँ रुपए रखने ही न चाहिए थे। पर रखता कहाँ? मुहल्ले में ऐसा कौन है, जिसे रखने को देता। हाय! पूरे पाँच सौ रुपए थे, कुछ पैसे ऊपर हो गए थे। क्या इसी दिन के लिये पैसे-पैसे बटोर रहा था। खा लिया होता, तो कुछ तसकीन होती। क्या सोचता था, और क्या हुआ। गया जाकर पितरों को पिंडा देने का इरादा किया था।

अब उनसे कैसे गला छूटेगा ? सोचता था, कहीं मिठुआ की सगाई ठहर जाय, तो कर डालूँ। बहू घर में आ जाय, तो एक रोटी खाने को मिले। अपने हाथों ठोंक-ठोंककर खाते एक जुग बीत गया। बड़ी भूल हुई। चाहिए था कि जैसे-जैसे हाथ में रुपए आते, एक-एक काम पूरा करता जाता। बहुत पाँव फैलाने का यही फल है!

उस समय तक राख ठंडी हो चुकी थी। सूरदास अटकल से द्वार की ओर से झोपड़े में घुसा; पर दो-तीन पग के बाद एकाएक पाँव भूबल में पड़ गया। ऊपर राख थी, लेकिन नीचे आग। तुरत पाँव खींच लिया, और अपनी लकड़ी से राख को उलटने-पलटने लगा, जिसमें नीचे की आग भी जल्द राख हो जाय। आध घंटे में उसने सारी राख नीचे से ऊपर कर दी, और तब फिर डरते-डरते राख में पैर रक्खा। राख गरम थी, पर असह्य न थी। उसने उसी जगह की सीध में राख को टटोलना शुरू किया, जहाँ छप्पर में पोटली रक्खी थी। उसका दिल धड़क रहा था। उसे विश्वास था कि रुपए मिलें या न मिलें, पर चाँदी तो कहीं गई ही नहीं। सहसा वह उछल पड़ा, कोई भारी चीज़ हाथ लगी। उठा लिया; पर टटोलकर देखा, तो मालूम हुआ, ईंट का टुकड़ा है। फिर टटोलने लगा, जैसे कोई आदमी पानी में मछलियाँ टटोले। कोई चीज़ हाथ न लगी। तब तो उसने नैराश्य की उतावली और अधीरता के साथ सारी राख छान डाली। एक-एक मुट्ठी राख हाथ में लेकर देखी। लोटा मिला, तवा मिला, किंतु पोटली न मिली। उसका वह पैर, जो अब तक सीढ़ी पर था, फिसल गया, और अब वह अथाह गहराई में जा पड़ा। उसके मुख से सहसा एक चीख़ निकल आई। वह वहीं राख पर बैठ गया, और बिलख-बिलखकर रोने लगा। यह फूस की राख न थी, उसकी अभिलाषाओं की राख थी। अपनी बेबसी का इतना दुख उसे कभी न हुआ था।

तड़का हो गया, सूरदास अब राख के ढेर को बटोरकर एक जगह एकत्र कर रहा था। आशा से ज़्यादा दीर्घजीवी और कोई वस्तु नहीं होती।

उसी समय जगधर आकर बोला—"सूरे, सच कहना, तुम्हें मुझ पर तो सुभा नहीं है?"

सूरे को शुभा तो था; पर उसने इसे छिपाकर कहा—"तुम्हारे ऊपर क्यों सुभा करूँगा। तुमसे मेरी कौन-सी अदावत थी।"

जगधर—"मुहल्लेवाले तुम्हें भड़काएँगे, पर मैं भगवान से कहता हूँ, मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता।"

सूरदास—"अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। कौन जाने, किसी ने लगा दी, या किसी की चिलम से उड़कर लग गई। यह भी तो हो सकता है कि चूल्हे में आग रह गई हो। बिना जाने-बूझे किस पर सुभा करूँ?"

जगधर—"इसी से तुम्हें चिता दिया कि कहीं सुभे में मैं भी न मारा जाऊँ।"

सूरदास—"तुम्हारी तरफ़ से मेरा दिल साफ़ है।"

जगधर को भैरो की बातों से अब यह विश्वास हो गया कि उसी की शरारत है। उसने सूरदास को रुलाने की बात कही थी। उस धमकी को इस तरह पूरा किया। वह वहाँ से सीधे भैरो के पास गया। वह चुपचाप बैठा नारियल पी रहा था, पर मुख से चिंता और घबराहट झलक रही थी। जगधर को देखते ही बोला—"कुछ सुना; लोग क्या बातचीत कर रहे हैं?"

जगधर—"सब लोग तुम्हारे ऊपर सुभा करते हैं। नायकराम की धमकी तो तुमने अपने कानों से सुनी।"

भैरो—"यहाँ ऐसी धमकियों की परवा नहीं है। सबूत क्या है कि मैंने लगाई?"

जगधर—"सच कहो, तुम्हीं ने लगाई ?"

भैरो—"हाँ, चुपके से एक दियासलाई लगा दी।"

जगधर—"मैं कुछ-कुछ पहले ही समझ गया था; पर यह तुमने बुरा किया। झोपड़ी जलाने से क्या मिला ? दो-चार दिन में फिर दूसरी झोपड़ी तैयार हो जायगी।"

भैरो—"कुछ हो, दिल की आग तो ठंडी हो गई। यह देखो !"

यह कहकर उसने एक थैली दिखाई, जिसका रंग धुएँ से काला हो गया था। जगधर ने उत्सुक होकर पूछा—"इसमें क्या है ? अरे ! इसमें तो रुपए भरे हुए हैं।"

भैरो—"यह सुभागी को बहका ले जाने का जरीबाना है।"

जगधर—"सच बताओ, ये रुपए कहाँ मिले ?"

भैरो—"उसी झोपड़े में। बड़े जतन से धरन की आड़ में रक्खे हुए थे। पाजी रोज राहगीरों को ठग-ठगकर पैसे लाता था, और इसी थैली में रखता था। मैंने गिने हैं। पाँच सौ रुपए से ऊपर हैं। न-जाने कैसे इतने रुपए जमा हो गए ! बचा को इन्हीं रुपयों की गरमी थी। अब गरमी निकल गई। अब देखूँ, किस बल पर उछलते हैं। बिरादरी को भोज-भात देने का सामान हो गया। नहीं तो, इस बखत इतने रुपए कहाँ मिलते ? आजकल तो देखते ही हो, बल्लमटेरों के मारे बिकरी कितनी मंदी है।"

जगधर—"मेरी तो सलाह है कि रुपए उसे लौटा दो। बड़ी मसक्कत की कमाई है। हजम न होगी।"

जगधर दिल का खोटा आदमी नहीं था; पर इस समय उसने यह सलाह उसे नेकनीयती से नहीं, हसद से दी थी। उसे यह असह्य था कि भैरो के हाथ इतने रुपए लग जायँ। भैरो आधे रुपए उसे दे देता, तो शायद उसे तस्कीन हो जाती; पर भैरो से यह आशा न की जा सकती थी। बेपरवाई से बोला—"मुझे, अच्छी तरह

हजम हो जायगी। हाथ में आए हुए रुपए को नहीं लौटा सकता। उसने तो भीख ही माँगकर जमा किए हैं, गेहूँ तो नहीं तौला था।"

जगधर—"पुलीस सब खा जायगी।"

भैरो—"सूरे पुलीस में न जायगा। रो-धोकर चुप हो रहेगा।"

जगधर—"गरीब की हाय बड़ी जान-लेवा होती है।'

भैरो—"वह गरीब है! अंधा होने ही से गरीब हो गया? जो आदमी दूसरों की औरतों पर डोरे डाले, जिसके पास सैकड़ों रुपए जमा हों, जो दूसरों को रुपए उधार देता हो, वह गरीब है? गरीब जो कहो, तो हम-तुम हैं। घर में ढूँढ़ आओ, एक पूरा रुपया न निकलेगा। ऐसे पापियों को गरीब नहीं कहते। अब भी मेरे दिल का काँटा नहीं निकला। जब तक उसे रोते न देखूँगा, यह काँटा न निकलेगा। जिसने मेरी आबरू बिगाड़ दी, उसके साथ जो चाहे करूँ, मुझे पाप नहीं लग सकता।"

जगधर का मन आज खोंचा लेकर गलियों का चक्कर लगाने में न लगा। छाती पर साँप लोट रहा था—"इसे दम-के-दम में इतने रुपए मिल गए, अब मौज उड़ाएगा। तकदीर इस तरह खुलती है। यहाँ कभी पड़ा हुआ पैसा भी न मिला। पाप-पुन्न की कोई बात नहीं। मैं ही कौन दिन-भर पुन्न किया करता हूँ। दमड़ी-छदाम कौड़ियों के लिये टेनी मारता हूँ। बाट खोटे रखता हूँ, तेल की मिठाई को घी कहकर बेचता हूँ। ईमान गँवाने पर भी हाथ कुछ नहीं लगता। जानता हूँ, यह बुरा काम है; पर बाल-बच्चों को पालना भी तो जरूरी है। इसने ईमान खोया, तो कुछ लेकर खोया, गुनाह बेलज्जत नहीं रहा। अब दो-तीन दूकानों का और ठेका ले लेगा। ऐसा ही कोई माल मेरे हाथ भी पड़ जाता, तो जिंदगानी सुफल हो जाती।"

जगधर के मन में ईर्ष्या का अंकुर जमा। वह भैरो के घर से

लौटा, तो देखा कि सूरदास राख को बटोरकर उसे आटे की भाँति गूँध रहा है। सारा शरीर भस्म से ढका हुआ है, और पसीने की धारें निकल रही हैं। बोला—"सूरे, क्या ढूँढ़ते हो ?"

सूरदास—"कुछ नहीं। यहाँ रक्खा ही क्या था ! यही लोटा-तवा देख रहा था।"

जगधर—"और वह थैली किसकी है, जो भैरो के पास है ?"

सूरदास चौंका। क्या इसीलिये भैरो आया था ? जरूर यही बात है। घर में आग लगाने के पहले रुपए निकाल लिए होंगे।

लेकिन अंधे भिखारी के लिये दरिद्रता इतनी लज्जा की बात नहीं है, जितना धन। सूरदास जगधर से अपनी आर्थिक हानि को गुप्त रखना चाहता था। वह गया करना चाहता था, मिठुआ का ब्याह करना चाहता था, कुआँ बनवाना चाहता था; किंतु इस ढंग से कि लोगों को आश्चर्य हो कि इसके पास रुपए कहाँ से आए, लोग यही समझें कि भगवान दीन जनों की सहायता करते हैं। भिखारियों के लिये धन-संचय पाप-संचय से कम अपमान की बात नहीं है। बोला—"मेरे पास थैली-वैली कहाँ। होगी किसी की। थैली होती, तो भीख माँगता ?"

जगधर—'मुझसे उड़ते हो ! भैरो मुझसे स्वयं कह रहा था कि झोपड़े में धरन के ऊपर यह थैली मिली। पाँच सौ रुपए से कुछ बेसी हैं।"

सूरदास—"वह तुमसे हँसी करता होगा। साढ़े पाँच रुपए तो कभी जुड़े ही नहीं, साढ़े पाँच सौ कहाँ से आते !"

इतने में सुभागी वहाँ आ पहुँची। रात-भर मंदिर के पिछवाड़े अमरूद के बाग़ में छिपी बैठी थी। वह जानती थी, आग भैरो ने लगाई है। भैरो ने उस पर जो कलंक लगाया था, उसकी उसे विशेष चिंता न थी; क्योंकि वह जानती थी, किसी को इस पर

विश्वास न आएगा। लेकिन मेरे कारण सूरदास का यों सर्वनाश हो जाय, इसका उसे बड़ा दुःख था। वह इस समय उसको तस्कीन देने आई थी। जगधर को वहाँ खड़े देखा, तो झिझकी। भय हुआ, कहीं यह मुझे पकड़ न ले। जगधर को वह भैरो ही का दूसरा अवतार समझती थी। उसने प्रण कर लिया था कि अब भैरो के घर न जाऊँगी, अलग रहूँगी, और मेहनत-मजूरी करके जीवन का निर्वाह करूँगी; यहाँ कौन लड़के रो रहे हैं, एक मेरा ही पेट उसे भारी है न? अब अकेले ठोंके और खाय, और बुढ़िया के चरण धो-धोकर पिए, मुझसे तो यह नहीं हो सकता। इतने दिन हुए, इसने कभी अपने मन से धेले का सेंदुर भी न दिया होगा, तो मैं क्यों उसके लिये मरूँ।

वह पीछे लौटा ही चाहती थी कि जगधर ने पुकारा—"सुभागी, कहाँ जाती है? देखी अपने खसम की करतूत, बेचारे सूरदास को कहीं का न रक्खा।"

सुभागी ने समझा—मुझे झाँसा दे रहा है। मेरे पेट की थाह लेने के लिये यह जाल फेंका है। व्यंग्य से बोली—"उसके गुरु तो तुम्हीं हो, तुम्हीं ने मंत्र दिया होगा।"

जगधर—"हाँ, यही मेरा काम है, चोरी-डाका न सिखाऊँ, तो रोटियाँ क्योंकर चलें।"

सुभागी ने फिर व्यंग्य किया—"क्या रात ताड़ी पीने को नहीं मिली क्या?"

जगधर—"ताड़ी के बदले क्या अपना ईमान बेच दूँगा। जब तक समझता था, भला आदमी है, साथ बैठता था, हँसता-बोलता था, ताड़ी भी पी लेता था, कुछ ताड़ी के लालच से नहीं जाता था (क्या कहना है, आप ऐसे ही धर्मात्मा तो हैं!); लेकिन आज से जो कभी उसके साथ बैठते देखना, तो कान पकड़ लेना। जो आदमी

दूसरों के घर में आग लगाए, गरीबों के रुपए चुरा ले जाय, वह अगर मेरा बेटा भी हो, तो उसकी सूरत न देखूँ। सूरदास ने न-जाने कितने जतन से पाँच सौ रुपए बटोरे थे। वह सब उड़ा ले गया। कहता हूँ, लौटा दे, तो लड़ने पर तैयार होता है।

सूरदास—"फिर वही रट लगाए जाते हो। कह दिया कि मेरे पास रुपए नहीं थे, कहीं और जगह से मार लाया होगा। मेरे पास पाँच सौ रुपए होते, तो चैन की बंसी न बजाता, दूसरों के सामने हाथ क्यों पसारता?"

जगधर—"सूरे, अगर तुम भरी गंगा में कहो कि मेरे रुपए नहीं हैं, तो मैं न मानूँगा। मैंने अपनी आँखों से वह थैली देखी है। भैरो ने अपने मुँह से कहा है कि यह थैली झोपड़े में धरन के ऊपर मिली। तुम्हारी बात कैसे मान लूँ?"

सुभागी—"तुमने थैली देखी है?"

जगधर—"हाँ, देखी नहीं, तो क्या झूठ बोल रहा हूँ!"

सुभागी—"सूरदास, सच-सच बता दो, रुपए तुम्हारे हैं?"

सूरदास—"पागल हो गई है क्या? इनकी बातों में आ जाती है! भला मेरे पास रुपए कहाँ से आते?"

जगधर—"इनसे पूछ, रुपए न थे, तो इस घड़ी राख बटोरकर क्या ढूँढ़ रहे थे।"

सुभागी ने सूरदास के चेहरे की तरफ़ अन्वेषण की दृष्टि से देखा। उसकी बीमार की-सी दशा थी, जो अपने प्रिय जनों की तस्कीन के लिये अपनी असह्य वेदना को छिपाने का असफल प्रयत्न कर रहा हो। जगधर के निकट आकर बोली—"रुपए ज़रूर थे, इसका चेहरा कहे देता है।"

जगधर—"मैंने थैली अपनी आँखों से देखी है।"

सुभागी—"अब चाहे वह मुझे मारे या निकाले, पर रहूँगी उसी

के घर। कहाँ-कहाँ थैली को छिपाएगा? कभी तो मेरे हाथ लगेगी। मेरे ही कारण इस पर यह बिपत पड़ी है। मैंने ही उजाड़ा है, मैं ही बसाऊँगी। जब तक इसके रुपए न दिला दूँगी, मुझे चैन न आएगी।"

यह कहकर वह सूरदास से बोली—"तो अब रहोगे कहाँ?"

सूरदास ने यह बात न सुनी। वह सोच रहा था—"रुपए मैंने ही तो कमाए थे, क्या फिर नहीं कमा सकता। यहो न होगा, जो काम इस साल होता, वह कुछ दिनों के बाद होगा। मेरे रुपए थे ही नहीं, शायद उस जन्म में मैंने भैरों के रुपए चुराए होंगे। यह उसी का डंड मिला है। मगर बिचारी सुभागी का अब क्या हाल होगा। भैरो उसे अपने घर में कभी न रक्खेगा। बिचारी कहाँ मारी-मारी फिरेगी। यह कलंक भी मेरे सिर लगना था। कहीं का न हुआ। धन गया, घर गया, आबरू गई; जो जमीन बच रही है, यह भी न-जाने जायगी या बचेगी। अंधापन ही क्या थोड़ा बिपत था कि नित ही एक-न-एक चपत पड़ती रहती है। जिसके जी में आता है, चार खोटी-खरी सुना देता है।"

इन दुःखजनक विचारों से मर्माहत-सा होकर वह रोने लगा। सुभागी जगधर के साथ भैरो के घर की ओर चली जा रही थी, और यहाँ सूरदास अकेला बैठा हुआ रो रहा था।

सहसा वह चौंक पड़ा। किसी ओर से आवाज़ आई—"तुम खेल में रोते हो!"

मिठुआ घीसू के घर से रोता चला आता था, शायद घीसू ने मारा था। इस पर घीसू उसे चिढ़ा रहा था—"खेल में रोते हो!"

सूरदास कहाँ तो नैराश्य, ग्लानि, चिंता और क्षोभ के अपार जल में ग़ोते खा रहा था, कहाँ यह चेतावनी सुनते ही उसे ऐसा मालूम हुआ, किसी ने उसका हाथ पकड़कर किनारे पर खड़ा कर दिया। "वाह! मैं तो खेल में रोता हूँ। कितनी बुरी बात है। लड़के भी

खेल में रोना बुरा समझते हैं, रोनेवाले को चिढ़ाते हैं, और मैं खेल में रोता हूँ। सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा। खेल हँसने के लिये, दिल बहलाने के लिये है, रोने के लिये नहीं।"

सूरदास उठ खड़ा हुआ, और विजय-गर्व की तरंग में राख के ढेर को दोनो हाथों से उड़ाने लगा।

आवेग में हम उद्दिष्ट स्थान से आगे निकल जाते हैं। वह संयम कहाँ है, जो शत्रु पर विजय पाने के बाद तलवार को म्यान में कर ले!

एक क्षण में मिठुआ, घीसू और मुहल्ले के बीसों लड़के आकर इस भस्म-स्तूप के चारो ओर जमा हो गए, और मारे प्रश्नों के सूरदास को परेशान कर दिया। उसे राख फेंकते देखकर सबों को खेल हाथ आया। राख की वर्षा होने लगी। दम-के-दम में सारी राख बिखर गई। भूमि पर केवल काला निशान रह गया।

मिठुआ ने पूछा—"दादा, अब हम रहेंगे कहाँ?"

सूरदास—"दूसरा घर बनाएँगे।"

मिठुआ—"और जो कोई फिर आग लगा दे?"

सूरदास—"तो फिर बनाएँगे।"

मिठुआ—"और फिर लगा दे?"

सूरदास—"तो हम भी फिर बनाएँगे।"

मिठुआ—"और जो कोई हज़ार बार लगा दे?"

सूरदास—"तो हम हज़ार बार बनाएँगे।"

बालकों को संख्याओं से विशेष रुचि होती है। मिठुआ ने फिर पूछा—"और जो कोई सौ लाख बार लगा दे?"

सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उत्तर दिया—"तो हम भी सौ लाख बार बनाएँगे।"

जब वहाँ राख की एक चुटकी भी न रही, तो सब लड़के किसी दूसरे खेल की तलाश में दौड़े। दिन अच्छी तरह निकल आया था। सूरदास ने भी लकड़ी सँभाली, और सड़क की तरफ़ चला। उधर जगधर यहाँ से नायकराम के पास गया; और यहाँ भी यह वृत्तांत सुनाया। पंडा ने कहा—"मैं भैरो के बाप से रुपए वसूल करूँगा, जाता कहाँ है, उसकी हड्डियों से रुपए निकालकर दम लूँगा, अंधा अपने मुँह से चाहे कुछ कहे या न कहे।"

जगधर वहाँ से बजरंगी, दयागिर, ठाकुरदीन आदि मोहल्ले के सब छोटे-बड़े आदमियों से मिला, और यह कथा सुनाई। आवश्यकतानुसार यथार्थ घटना में नमक-मिर्च भी लगाता जाता था। सारा मोहल्ला भैरो का दुश्मन हो गया।

सूरदास तो सड़क के किनारे राहगीरों की जय मना रहा था, यहाँ मोहल्लेवालों ने उसकी झोपड़ी बनानी शुरू की। किसी ने फूस दिया, किसी ने बाँस दिए, किसी ने धरन दी, कई आदमी झोपड़ी बनाने में लग गए। जगधर ही इस संगठन का प्रधान मंत्री था। अपने जीवन में शायद ही उसने इतना सदुत्साह दिखाया हो। ईर्ष्या में तम-ही-तम नहीं होता, कुछ सत् भी होता है। संध्या तक झोपड़ी तैयार हो गई, पहले से कहीं ज़्यादा बड़ी और पायदार। जमुनी ने मिट्टी के दो घड़े और दो-तीन हाँडियाँ लाकर रख दीं। एक चूल्हा भी बना दिया। सबोंने गुट कर रक्खा था कि सूरदास को झोपड़े के बनने की ज़रा भी ख़बर न हो, जब वह शाम को आए, तो घर देखकर चकित हो जाय, और पूछने लगे, किसने बनाया, तब सब लोग कहें, आप-ही-आप तैयार हो गया।

[१२]

प्रभु सेवक ताहिरअली के साथ चले, तो पिता पर झल्लाए हुए थे—"यह मुझे कोल्हू का बैल बनाना चाहते हैं। आठो पहर तंबाकू ही के नशे में डूबा पड़ा रहूँ, अधिकारियों की चौखट पर मस्तक रगड़ूँ, हिस्से बेचता फिरूँ, पत्रों में विज्ञापन छपवाऊँ, बस सिगरेट की डिबिया बन जाऊँ। यह मुझसे नहीं हो सकता। मैं धन कमाने की कल नहीं हूँ, मनुष्य हूँ, धन-लिप्सा अभी तक मेरे भावों को कुचल नहीं पाई है; अगर मैं अपनी ईश्वर-दत्त रचना-शक्ति से काम न लूँ, तो यह मेरी कृतघ्नता होगी। प्रकृति ने मुझे धनोपार्जन के लिये बनाया ही नहीं, नहीं तो वह मुझे इन भावों से क्यों भूषित करती। कहते तो हैं कि अब मुझे धन की क्या चिंता, थोड़े दिनों का मेहमान हूँ, मानो ये सब तैयारियाँ मेरे लिये हो रही हैं; लेकिन अभी कह दूँ कि आप मेरे लिये यह कष्ट न उठाइए, मैं जिस दशा में हूँ, उसी में प्रसन्न हूँ, तो कुहराम मच जाय! अच्छी विपत्ति गले पड़ी, जाकर देहातियों पर रोब जमाइए, उन्हें धमकाइए, उनको गालियाँ सुनाइए। क्यों? उन सबोंने कोई नई बात नहीं की है। कोई उनकी जायदाद पर ज़बरदस्ती हाथ बढ़ाएगा, तो वे लड़ने पर उतारू हो ही जायँगे। अपने स्वत्वों की रक्षा करने का उनके पास और साधन ही क्या है। मेरे मकान पर आज कोई अधिकार करना चाहे, तो मैं कभी चुपचाप न बैठूँगा। धैर्य तो नैराश्य की अंतिम अवस्था का नाम है। जब तक हम निरुपाय नहीं हो जाते, धैर्य की शरण नहीं लेते। इन मियाँजी को भी ज़रा-सी चोट आ गई, तो फ़रियाद लेकर पहुँचे। ख़ुशामदी है, चापलूसी से अपना

विश्वास जमाना चाहता है। आपको भी ग़रीबों पर रोब जमाने की धुन सवार होगी। मिलकर नहीं रहते बनता। पापा की भी यही इच्छा है। ख़ुदा करे, सब-के-सब बिगड़ खड़े हों, गोदाम में आग लगा दें, और इस महाशय की ऐसी ख़बर लें कि यहाँ से भागते ही बने।" ताहिरअली से सरोष होकर बोले—"क्या बात हुई कि सब-के-सब बिगड़ खड़े हुए?"

ताहिर—"हुज़ूर, बिलकुल बेसबब। मैं तो ख़ुद ही इन सबों से जान बचाता रहता हूँ।"

प्रभु सेवक—"किसी कार्य के लिये कारण का होना आवश्यक है; पर आज मालूम हुआ कि वह भी दार्शनिक रहस्य है, क्यों?"

ताहिर—(बात न समझकर) "जी हाँ, और क्या।"

प्रभु सेवक—"जी हाँ, और क्या के क्या मानी? क्या आप बात भी नहीं समझते, या बहरेपन का रोग है? मैं कहता हूँ—बिना चिनगारी के आग नहीं लग सकती; आप फ़रमाते हैं—'जी हाँ, और क्या।' आपने कहाँ तक शिक्षा पाई है?"

ताहिर—(कातर स्वर से) "हुज़ूर, मिडिल तक तालीम पाई थी, पर बदक़िस्मती से पास न हो सका। मगर जो काम मैं कर सकता हूँ, वह मिडिल पास कर दे, तो जो जुर्माना कहिए, दूँ। बहुत दिनों तक चुंगी में मुंशी रह चुका हूँ।"

प्रभु सेवक—"तो फिर आपके पांडित्य और विद्वता पर किसे शंका हो सकती है। आपके कथन के आधार पर मुझे मान लेना चाहिए कि आप शांत बैठे हुए पुस्तकावलोकन में मग्न थे, या संभवतः ईश्वर-भजन में तन्मय हो रहे थे, और विद्रोहियों का एक सशस्त्र दल पहुँचकर आप पर हमले करने लगा।"

ताहिर—"हुज़ूर तो ख़ुद ही चल रहे हैं, मैं क्या अर्ज़ करूँ, तहक़ीक़ात कर लीजिएगा।"

प्रभु सेवक—"सूर्य को सिद्ध करने के लिये दीपक की ज़रूरत नहीं होती। देहाती लोग प्रायः बड़े शांतिप्रिय होते हैं। जब तक उन्हें भड़काया न जाय, लड़ाई-दंगा नहीं करते। आपकी तरह उन्हें ईश्वर-भजन से रोटियाँ नहीं मिलतीं। सारे दिन सिर खपाते हैं, तब रोटियाँ नसीब होती हैं। आश्चर्य है कि आपके सिर पर जो कुछ गुज़री, उसके कारण भी नहीं बता सकते। इसका आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि या तो आपको ख़ुदा ने बहुत मोटी बुद्धि दी है, या आप अपना रोब जमाने के लिये लोगों पर अनुचित दबाव डालते हैं।"

ताहिर—हुज़ूर, झगड़ा लड़कों से शुरू हुआ। मोहल्ले के कई लड़के मेरे लड़कों को मार रहे थे। मैंने जाकर उन सबों की गोश-माली कर दी। बस, इतनी ज़रा-सी बात पर लोग चढ़ आए।"

प्रभु सेवक—"धन्य है, आपके साथ भगवान् ने उतना अन्याय नहीं किया है, जितना मैं समझता था। आपके लड़कों में और मोहल्ले के लड़कों में मार-पीट हो रही थी। आपने अपने लड़कों के रोने की आवाज़ सुनी, और आपका ख़ून उबलने लगा। देहातियों के लड़कों की इतनी हिम्मत कि आपके लड़कों को मारें! ख़ुदा का ग़ज़ब! आपकी शराफ़त यह अत्याचार न सह सकी। आपने औचित्य, दूरदर्शिता और सहज बुद्धि को समेटकर ताक़ पर रख दिया, और उन दुस्साहसी लड़कों को मारने दौड़े। तो अगर आप-जैसे सभ्य पुरुष को बाल-संग्राम में हस्तक्षेप करते देखकर और लोग भी आपका अनुसरण करें, तो आपको शिकायत न होनी चाहिए। आपको दुनिया में इतने दिनों तक रहने के बाद यह अनुभव हो जाना चाहिए था कि लड़कों के बीच में बूढ़ों को न पड़ना चाहिए। इसका नतीजा बुरा होता है। अगर आप इस अनुभव से वंचित थे, तो आपको इस पाठ के लिये प्रसन्न होना चाहिए, जिससे आपको

एक परमावश्यक और महत्त्व-पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके लिये फ़रियाद करने की ज़रूरत न थी।"

फ़िटन उड़ी जाती थी, और उसके साथ ताहिरअली के होश भी उड़े जाते थे—"मैं समझता था, इन हज़रत में ज़्यादा इंसानियत होगी; पर देखता हूँ, तो यह अपने बाप से भी दो अंगुल ऊँचे हैं। न हारी मानते हैं, न जीती। ये ताने बर्दाश्त नहीं हो सकते। कुछ मुफ़्त में तनख़्वाह नहीं देते। काम करता हूँ, मज़दूरी लेता हूँ। तानों-ही-तानों में मुझे कमीना, अहमक़, जाहिल, सब कुछ बना डाला। अभी उम्र में मुझसे कितने छोटे हैं! माहिर से दो चार साल बड़े होंगे; मगर मुझे इस तरह आड़े हाथों ले रहे हैं, गोया मैं नादान बच्चा हूँ। दौलत ज़्यादा होने से क्या अक़्ल भी ज़्यादा हो जाती है। चैन से ज़िंदगी बसर होती है, जभी ये बातें सूझ रही हैं। रोटियों के लिये ठोकरें खानी पड़तीं, तो मालूम होता, तजुर्बा क्या चीज़ है। आक़ा कोई बात एतराज़ के लायक़ देखे, तो उसे समझाने का हक़ है, इसकी मुझे शिकायत नहीं; पर जो कुछ कहो, नरमी और हमदर्दी के साथ। यह नहीं कि ज़हर उगलने लगो, कलेजे को चलनी बना डालो।"

ये बातें हो रही थीं कि पाँड़ेपुर आ पहुँचा। सूरदास आज बहुत प्रसन्नचित्त नज़र आता था। और दिन सवारियों के निकल जाने के बाद दौड़ता था। आज आगे ही से उनका स्वागत किया, फ़िटन देखते ही दौड़ा। प्रभुसेवक ने फ़िटन रोक दी, और कर्कश स्वर में बोले—"क्यों सूरदास, माँगते हो भीख, बनते हो साधु, और काम करते हो बदमाशों का? मुझसे फ़ौजदारी करने का हौसला हुआ है?"

सूरदास—"कैसी फौजदारी हुजूर? मैं अंधा-अपाहिज आदमी भला क्या फौजदारी करूँगा।"

प्रभु सेवक—"तुम्हीं ने तो मोहल्लेवालों को साथ लेकर मेरे मुंशीजी पर हमला किया था, और गोदाम में आग लगाने को तैयार थे?"

सूरदास—"सरकार, भगवान से कहता हूँ, मैं नहीं था। आप लोगों का मँगता हूँ, जान-माल का कल्यान मनाता हूँ, मैं क्या फौजदारी करूँगा।"

प्रभु सेवक—"क्यों मुंशीजी, यही अगुआ था न?"

ताहिर—"नहीं हुजूर, इशारा इसी का था, पर यह वहाँ न था।"

प्रभु सेवक—"मैं इन चालों को खूब समझता हूँ। तुम जानते होगे, इन धमकियों से ये लोग डर जायँगे, मगर एक-एक से चक्की न पिसवाई, तो कहना कि कोई कहता था। साहब को तुमने क्या समझा है! अगर हाकिमों से झूठों भी कह दें, तो सारा मोहल्ला बँध जाय। मैं तुम्हें जताए देता हूँ।"

फ़िटन आगे बढ़ा, तो जगधर मिला। खोंचा हथेली पर रक्खे, एक हाथ से मक्खियाँ उड़ाता चला जाता था। प्रभु सेवक को देखते ही सलाम करके खड़ा हो गया। प्रभु सेवक ने पूछा—"तुम भी कल फ़ौजदारी करनेवालों में थे?"

जगधर—"सरकार, मैं टके का आदमी क्या खाके फौजदारी करूँगा, और बिचारे सूरदास की क्या मजाल है कि सरकार के सामने अकड़ दिखाए। अपनी ही बिपत में पड़ा हुआ है। किसी ने रात को बिचारे की झोपड़ी में आग लगा दी। बरतन-भाँड़ा, सब जल गया। न-जाने किस-किस जतन से कुछ रुपए जुटाए थे, वे भी लुट गए। गरीब ने सारी रात रो-रोकर काटी है। आज हम लोगों ने उसका झोपड़ा बनाया है। अभी छुट्टी मिली है, तो खोंचा लेकर निकला हूँ। हुकुम हो, तो कुछ खिलाऊँ। कचालू खूब चटपटे हैं।"

प्रभु सेवक का जी ललचा गया। खोंचा उतारने को कहा, और

कचालू, दही-बड़े, फुलौड़ियाँ खाने लगे। भूख लगी हुई थी। ये चीज़ें बहुत प्रिय लगीं। कहा—"सूरदास ने तो यह बात मुझसे न कही।"

जगधर—"वह कभी न कहेगा। कोई गला भी काट ले, तो सिकायत न करेगा।"

प्रभु सेवक—"तब तो वास्तव में कोई महापुरुष है। कुछ पता न चला, किसने झोपड़े में आग लगाई थी?"

जगधर—"सब मालूम हो गया हजूर, पर क्या किया जाय। कितना कहा गया कि उस पर थाने में रपट कर दे, मुदा कहता है, कौन किसी को फँसाए। जो कुछ भाग में लिखा था, वह हुआ। हजूर, सारी करतूत इसी भैरो ताड़ीवाले की है।"

प्रभु सेवक—"कैसे मालूम हुआ? किसी ने उसे आग लगाते देखा?"

जगधर—"हजूर, वह खुद मुझसे कह रहा था। रुपयों की थैली लाकर दिखाई। इससे बढ़कर और क्या सबूत होगा?"

प्रभु सेवक—"भैरो के मुँह पर कहोगे?"

जगधर—"नहीं सरकार, ख़ून हो जायगा।"

सहसा भैरो सिर पर ताड़ी का घड़ा रक्खे आता हुआ दिखाई दिया। जगधर ने तुरंत खोंचा उठाया, और बिना पैसे लिए क़दम बढ़ाता हुआ दूसरी तरफ़ चल दिया। भैरो ने समीप आकर सलाम किया। प्रभु सेवक ने आँखें दिखाकर पूछा—"तू ही भैरो ताड़ीवाला है न?"

भैरो—(काँपते हुए) "हाँ हजूर, मेरा ही नाम भैरो है।"

प्रभु सेवक—"तू यहाँ लोगों के घरों में आग लगाता फिरता है?"

भैरो—"हजूर, जवानी की कसम खाता हूँ, किसी ने हजूर से झूठ कह दिया है।"

प्रभु सेवक--"तू कल मेरे गोदाम पर फ़ौजदारी करने में शरीक था ?"

भैरो—हजूर का तावेदार हूँ, आपसे फ़ौजदारी करूँगा ! मुंशीजी से पूछिए, झूठ कहता हूँ या सच। सरकार, न-जाने क्यों सारा मोहल्ला मुझसे दुसमनी करता है। अपने घर में एक रोटी खाता हूँ, वह भी लोगों से नहीं देखा जाता। यह जो अंधा है, हजूर, एक ही बदमास है। दूसरों की बहू-बेटियों पर बुरी निगाह रखता है। माँग-माँगकर रुपए जोड़ लिए हैं, लेन-देन करता है। सारा मोहल्ला उसके कहने में है। उसी के चेले बजरंगी ने फ़ौजदारी की है। मालमस्त है, गाएँ-भैंसे हैं, पानी मिला-मिलाकर दूध बेचता है। उसके सिवा किसका गुरदा है कि हजूर से फ़ौजदारी करे।"

प्रभु सेवक—"अच्छा ! इस अंधे के पास रुपए भी हैं।"

भैरो—"हजूर, बिना रुपए के इतनी गरमी और कैसे होगी। जब पेट भरता है, तभी तो बहू-बेटियों पर निगाह डालने की सूझती है।"

प्रभु सेवक—"बेकार क्या बकता है, अंधा आदमी क्या बुरी निगाह डालेगा। मैंने तो सुना है, वह बहुत सीधा-सादा आदमी है।"

भैरो— आपका कुत्ता आपको थोड़े ही काटता है, आप तो उसकी पीठ सुहलाते हैं; पर जिन्हें काटने दौड़ता है, वे तो उसे इतना सीधा न समझेंगे।"

इतने में भैरो की दूकान आ गई। कई गाहक उसकी राह देख रहे थे। वह अपनी दूकान में चला गया। तब प्रभु सेवक ने ताहिर-अली से कहा—"आप कहते हैं, सारा मोहल्ला मिलकर मुझे मारने आया था। मुझे इस पर विश्वास नहीं आता। जहाँ लोगों में इतना वैर-विरोध है, वहाँ इतना एका होना असंभव है। दो आदमी मिले, दोनो एक-दूसरे के दुश्मन। अगर आपकी जगह कोई दूसरा आदमी

होता, तो इस वैमनस्य से मनमाना फ़ायदा उठाता। उन्हें आपस में लड़ाकर दूर से तमाशा देखता। मुझे तो इन आदमियों पर क्रोध के बदले दया आती है।"

बजरंगी का घर मिला। तीसरा पहर हो गया था। वह भैंसों की नाँद में पानी डाल रहा था। फ़िटन पर ताहिरअली के साथ प्रभु सेवक को बैठे देखा, तो समझ गया "मियाँजी अपने मालिक को लेकर रोब जमाने आए हैं; जानते हैं, इस तरह मैं दब जाऊँगा; साहब अमीर होंगे, अपने घर के होंगे; मुझे कायल कर दें, तो अभी जो जुरमाना लगा दें, वह देने को तयार हूँ; लेकिन जब मेरा कोई कसूर नहीं, कसूर सोलहो आने मियाँ ही का है; तो मैं क्यों दबूँ? न्याय से दबा लें, पद से दबा लें, लेकिन भबकी से दबनेवाले कोई और होंगे।"

ताहिरअली ने इशारा किया, यही बजरंगी है। प्रभु सेवक ने बनावटी क्रोध धारण करके कहा—"क्यों बे, कल के हंगामे में तू भी शरीक था?"

बजरंगी—"सरीक किसके साथ था? मैं अकेला था।"

प्रभु सेवक—"तेरे साथ सूरदास और मोहल्ले के और लोग न थे? झूठ बोलता है!"

बजरंगी—"झूठ नहीं बोलता, किसी का दबैल नहीं हूँ। मेरे साथ न सूरदास था, और न मोहल्ले का कोई दूसरा आदमी। मैं अकेला था।"

घीसू ने हाँक लगाई—"पादड़ी। पादड़ी!!"

मिठुआ बोला—"पादड़ी आया, पादड़ी आया!"

दोनो अपने हमजोलियों को यह आनंद-समाचार सुनाने दौड़े। पादड़ी गाएगा, तसवीरें दिखाएगा, किताबें देगा, मिठाइयाँ और पैसे बाँटेगा। लड़कों ने सुना, तो वे भी इस लूट का माल बँटाने

दौड़े। एक क्षण में वहाँ बीसों बालक जमा हो गए। शहर के दूरवर्ती मोहल्लों में अँगरेज़ी वस्त्रधारी पुरुष पादड़ी का पर्याय है। नायकराम भंग पीकर बैठे हुए थे, पादड़ी का नाम सुनते ही उठे, उनकी बेसुरी तानों में उन्हें विशेष आनंद मिलता था। ठाकुर-दीन ने भी दूकान छोड़ दी, उन्हें पादड़ियों से धार्मिक वाद-विवाद करने की लत थी, अपना धर्मज्ञान प्रकट करने के ऐसे सुंदर अवसर पाकर न छोड़ते थे। दयागिर भी आ पहुँचे। पर जब लोग फ़िटन के पास पहुँचे, तो भेद खुला। प्रभु सेवक बजरंगी से कह रहे थे—"तुम्हारी शामत न आए, नहीं तो साहब तुम्हें तबाह कर देंगे। किसी काम के न रहोगे। तुम्हारी इतनी मजाल!"

बजरंगी इसका जवाब देना ही चाहता था कि नायकराम ने आगे बढ़कर कहा—"उस पर आप क्यों बिगड़ते हैं, फौजदारी मैंने की है, जो कहना हो, मुझसे कहिए।"

प्रभु सेवक ने विस्मित होकर पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है?"

नायकराम को कुछ तो राजा महेंद्रकुमार के आश्वासन, कुछ विजया की तरंग और कुछ अपनी शक्ति के ज्ञान ने उच्छृंखल बना दिया था। लाठी सीधी करता हुआ बोला—"लट्ठमार पाँड़े!"

इस जवाब में हेकड़ी की जगह हास्य का आधिक्य था। प्रभु सेवक का बनावटी क्रोध हवा हो गया। हँसकर बोले—"तब तो यहाँ ठहरने में कुशल नहीं है, कहीं बिल खोदना चाहिए।"

नायकराम अक्खड़ आदमी था। प्रभु सेवक के मनोभाव न समझ सका। भ्रम हुआ—"यह मेरी हँसी उड़ा रहे हैं, मानो कह रहे हैं कि तुम्हारी बकवास से क्या होता है, हम जमीन लेंगे और जरूर लेंगे।" तिनककर बोला—"आप हँसते क्या हैं, क्या समझ रक्खा है कि अंधे की जमीन सहज ही में मिल जायगी? इस धोखे में न रहिएगा।"

प्रभु सेवक को भी अब क्रोध आया। पहले उन्होंने समझा था, नायकराम दिल्लगी कर रहा है। अब मालूम हुआ कि वह सचमुच लड़ने पर तैयार है। बोले—"इस धोखे में नहीं हूँ, कठिनाइयों को ख़ूब जानता हूँ; अब तक भरोसा था कि समझौते से सारी बातें तय हो जायँगी, इसीलिये आया था। लेकिन तुम्हारी इच्छा कुछ और हो, तो वही सही। अब तक मैं तुम्हें निर्बल समझता था, और निर्बलों पर अपनी शक्ति का प्रयोग न करना चाहता था। पर आज जाना कि तुम हेकड़ हो, तुम्हें अपने बल का घमंड है। इसलिये अब हम भी तुम्हें अपने हाथ दिखाएँ, तो कोई अन्याय नहीं है।"

इन शब्दों में नेकनीयती झलक रही थी। ठाकुरदीन ने कहा—"हजूर, पंडाजी की बातों का खियाल न करें। इनकी आदत ही ऐसी है, जो कुछ मुँह में आया, बक डालते हैं। हम लोग आपके ताबेदार हैं।"

नायकराम—"आप दूसरों के बल पर कूदते होंगे, यहाँ अपने हाथों के बल का भरोसा करते हैं। आप लोगों के दिल में जो अरमान हो, निकाल डालिए। फिर न कहना कि धोखे में वार किया। (धीरे से) एक ही हाथ में सारी किरस्तानी निकल जायगी।"

प्रभु सेवक—"क्या कहा, ज़रा ज़ोर से क्यों नहीं कहते?"

नायकराम—(कुछ डरकर) "कह तो रहा हूँ, जो अरमान हो, निकाल डालिए।"

प्रभु सेवक—"नहीं, तुमने कुछ और कहा है।"

नायकराम—"जो कुछ कहा है, वही फिर कह रहा हूँ। किसी का डर नहीं है।"

प्रभु सेवक—"तुमने गाली दी है।"

यह कहते हुए प्रभु सेवक फ़िटन से नीचे उतर पड़े, नेत्रों से ज्वाला-सी निकलने लगी, नथने फड़कने लगे, सारा शरीर थरथराने

लगा, एड़ियाँ ऐसी उछल रही थीं, मानो किसी उबलती हुई हाँडी का ढकना है। आकृति विकृत हो गई थी। उसके हाथ में केवल एक पतली-सी छड़ी थी। फ़िटन से उतरते ही वह झपटकर नायकराम के कल्ले पर पहुँच गए, उसके हाथ से लाठी छीनकर फेंक दी, और ताबड़तोड़ कई बेंत लगाए। नायकराम दोनो हाथों से वारों को रोकता पीछे हटता जाता था। ऐसा जान पड़ता था कि वह अपने होश में नहीं है। वह यह जानता था कि भद्र पुरुष मार खाकर चाहे चुप रह जायँ, गाली नहीं सह सकते। कुछ तो पश्चात्ताप, कुछ आघात की अविलंबिता और कुछ परिणाम के भय ने उसे वार करने का अवकाश ही न दिया। इन अविरल प्रहारों से वह चौंधिया-सा गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रभुसेवक उसके जोड़ के न थे; किंतु उसमें वह सत्साहस, वह न्याय-पक्ष का विश्वास न था, जो संख्या और शस्त्र तथा बल की परवा नहीं करता।

और लोग भी हतबुद्धि-से खड़े रहे, किसी ने बीच-बचाव तक न किया। बजरंगी नायकराम के पसीने की जगह खून बहानेवालों में था। दोनो साथ खेले और एक ही अखाड़े में लड़े थे। ठाकुरदीन और कुछ न कर सकता था, तो प्रभु सेवक के सामने खड़ा हो सकता था; किंतु दोनो-के-दोनो सुम-सुम-से ताकते रहे। यह सब कुछ पल मारने में हो गया। प्रभु सेवक अभी तक बेंत चलाते ही जाते थे। जब छड़ी से कोई असर न होते देखा, तो ठोकर चलानी शुरू की। यह चोट कारगर हुई। दो-ही-तीन ठोकरें पड़ी थीं कि नायकराम जाँघ में चोट खाकर गिर पड़ा। उसके गिरते ही बजरंगी ने दौड़कर प्रभु सेवक को हटा दिया, और बोला—"बस साहब, बस, अब इसी में कुसल है कि आप चले जाइए, नहीं तो खून हो जायगा।"

प्रभु सेवक—"हमको कोई चरकटा समझ लिया है, बदमाश, खून पी जाऊँगा, गाली देता है!"

बजरंगी—"बस, अब बहुत न बढ़िए, यह उसी गाली का फल है कि आप यों खड़े हैं; नहीं तो अब तक न-जाने क्या हो गया होता।"

प्रभु सेवक क्रोधोन्माद से निकलकर विचार के क्षेत्र में पहुँच चुके थे। आकर फ़िटन पर बैठ गए, और घोड़े को चाबुक मारा, घोड़ा हवा हो गया।

बजरंगी ने जाकर नायकराम को उठाया। घुटनों में बहुत चोट आई थी, खड़ा न हुआ जाता था। मालूम होता था, हड्डी टूट गई है। बजरंगी का कंधा पकड़कर धीरे-धीरे लँगड़ाते हुए घर चले।

ठाकुरदीन ने कहा—"नायकराम, भला मानो या बुरा, भूल तुम्हारी थी। ये लोग गाली नहीं बर्दाश्त कर सकते।"

नायकराम—"अरे, तो मैंने गाली कब दी थी भाई, मैंने तो यही कहा था कि एक ही हाथ में किरस्तानी निकल जायगा। बस, इसी पर बिगड़ गया।"

जमुनी अपने द्वार पर खड़े-खड़े यह तमाशा देख रही थी। आकर बजरंगी को कोसने लगी—"खड़े मुँह ताकते रहे, और वह लौंडा मार-पीटकर चला गया, सारी पहलवानी धरी रह गई।"

बजरंगी—"मैं तो जैसे घबरा गया।"

जमुनी—"चुप भी रहो। लाज नहीं आती। एक लौंडा आकर सबको पछाड़ गया, यह तुम लोगों के घमंड की सजा है।"

ठाकुरदीन—"बहुत सच कहती हो जमुना, यह कौतुक देखकर यही कहना पड़ता है कि भगवान को हमारे गरूर की सजा देनी थी, नहीं तो क्या ऐसे ऐसे जोधा कठ-पुतलियों की भाँति खड़े रहते। भगवान किसी का घमंड नहीं रखते।"

नायकराम—"यही बात होगी भाई, मैं अपने घमंड में किसी को कुछ न समझता था।"

ये बातें करते हुए लोग नायकराम के घर आए। किसी ने आग बनाई, कोई हल्दी पीसने लगा। थोड़ी देर में मोहल्ले के और लोग आकर जमा हो गए। सबको आश्चर्य होता था कि "नायकराम-जैसा फेंकैत और लठैत कैसे मुँह की खा गया। कहाँ सैकड़ों के बीच से बेदाग़ निकल आता था, कहाँ एक लौंडे ने लथेड़ डाला। भगवान की मरजी है।"

जगधर हल्दी का लेप करता हुआ बोला—"यह सारी आग भैरो की लगाई हुई है। उसने रास्ते ही में साहब के कान भर दिए थे। मैंने तो देखा, उसकी जेब में पिस्तौल भी था।"

नायकराम—"पिस्तौल और बंदूक सब देखूँगा, अब तो लाग पड़ गई।"

ठाकुरदीन—"कोई अनुष्ठान करवा दिया जाय।"

जगधर—"अनुष्ठान का किरस्तानों पर कुछ बस नहीं चलता।"

नायकराम—"इसे बीच बजार में फिटन रोककर मारूँगा, फिर कहीं मुँह दिखाने-लायक न रहेगा। अब मन में यही ठन गई है।"

सहसा भैरो आकर खड़ा हो गया। नायकराम ने ताना दिया—"तुम्हें तो बड़ी ख़ुशी हुई होगी भैरो!"

भैरो—"क्यों भैया?"

नायकराम—"मुझ पर मार न पड़ी है।"

भैरो—"क्या मैं तुम्हारा दुसमन हूँ भैया? मैंने तो अभी दूकान पर सुना। होस उड़ गए। साहब देखने में तो बहुत सीधा-सादा मालूम होता था। मुझसे हँस-हँसकर बातें कीं, यहाँ आकर न-जाने कौन भूत उस पर सवार हो गया।"

नायकराम—"उसका भूत मैं उतार दूँगा, अच्छी तरह उतार दूँगा, जरा खड़ा तो होने दो। हाँ, यहाँ जो कुछ राय हो, उसकी ख़बर वहाँ न होने पाए, नहीं तो चौकन्ना हो जायगा।"

बजरंगी—"यहाँ हमारा ऐसा कौन बैरी बैठा हुआ है ?"

जगधर—"यह न कहो, घर का भेदी लंका दाहे । कौन जाने, कोई आदमी साबसी लूटने के लिये, इनाम लेने के लिये, सुर्ख़रू बनने के लिये, वहाँ सारी बातें लगा आए ।"

भैरो—"मुझी पर सक कर रहे हो न ? तो मैं इतना नीच नहीं हूँ कि घर का भेद दूसरों से खोलता फिरूँ । इस तरह चार आदमी एक जगह रहते हैं, तो आपस में खटपट होती ही है; लेकिन इतना कमीना नहीं हूँ कि भभीखन की भाँति अपने भाई के घर में आग लगवा दूँ । क्या इतना नहीं जानता कि मरने-जीने में, बिपत-संपत में, मुहल्ले के लोग ही काम आते हैं ? कभी किसी के साथ विश्वासघात किया है ? पंडाजी ही कह दें, कभी उनकी बात टुलखी है । उनकी आड़ न होती, तो पुलिस ने अब तक मुझे कब का लदवा दिया होता, नहीं तो रजिस्टर में नाम तक नहीं है ।"

नायकराम—"भैरो, तुमने अवसर पड़ने पर कभी साथ नहीं छोड़ा, इतना तो मानना ही पड़ेगा ।"

भैरो—"पंडाजी, तुम्हारा हुकुम हो, तो आग में कूद पड़ूँ ।"

इतने में सूरदास भी आ पहुँचा । सोचता आता था—"आज कहाँ खाना बनाऊँगा, इसकी क्या चिंता है; बस, नीम के पेड़ के नीचे बाटियाँ लगाऊँगा । गरमी के तो दिन हैं, कौन पानी बरस रहा है ।" ज्यों ही बजरंगी के द्वार पर पहुँचा कि जमुनी ने आज का सारा वृत्तांत कह सुनाया । होश उड़ गए । उपले-ईंधन की सुधि न रही । सीधे नायकराम के यहाँ पहुँचा । बजरंगी ने कहा—"आओ सूरे, बड़ी देर लगाई, क्या अभी चले आते हो ? आज तो यहाँ बड़ा गोलमाल हो गया ।"

सूरदास—"हाँ, जमुनी ने अभी मुझसे कहा । मैं तो सुनते ही ठक रह गया ।"

बजरंगी—"होनहार थी, और क्या। है तो लौंडा, पर हिम्मत का पक्का है। जब तक हम लोग हाँ-हाँ करें, तब तक फिटन पर से कूद ही तो पड़ा, और लगा हाथ-पर-हाथ चलाने।"

सूरदास—"तुम लोगों ने पकड़ भी न लिया?"

बजरंगी—"सुनते तो हो, जब तक दौड़ें, तब तक तो उसने हाथ चला ही दिया।"

सूरदास—"बड़े आदमी गाली सुनकर आपे से बाहर हो जाते हैं।"

जगधर—"जब बीच बाज़ार में बेभाव की पड़ेगी, तब रोएँगे। अभी तो फूले न समाते होंगे।"

बजरंगी—"जब चौक में निकलै, तो गाड़ी रोककर जूतों से मारें।"

सूरदास—"अरे, अब जो हो गया, सो हो गया, उसकी आबरू बिगाड़ने से क्या मिलेगा?"

नायकराम—"तो क्या मैं यों ही छोड़ दूँगा! एक-एक बेत के बदले अगर सौ-सौ जूते न लगाऊँ, तो मेरा नाम नायकराम नहीं। यह चोट मेरे बदन पर नहीं, मेरे कलेजे पर लगी है। बड़े-बड़ों का सिर नीचा कर चुका हूँ, इन्हें मिटाते क्या देर लगती है। (चुटकी बजाकर) इस तरह उड़ा दूँगा।"

सूरदास—"बैर बढ़ाने से कुछ फायदा न होगा। तुम्हारा तो कुछ न बिगड़ेगा, लेकिन मुहल्ले के सब आदमी बँध जायँगे।"

नायकराम—"कैसी पागलों की-सी बातें करते हो। मैं कोई धुनिया-चमार हूँ कि इतनी बेइज़्ज़ती कराके चुप हो जाऊँ। तुम लोग सूरदास को कायल क्यों नहीं करते जी? क्या चुप होके बैठ रहूँ? बोलो बजरंगी, तुम लोग भी डर रहे हो कि वह किरस्तान सारे मुहल्ले को पीसकर पी जायगा?"

बजरंगी—"औरों की तो मैं नहीं कहता, लेकिन मेरा बस चले,

तो उसके हाथ-पैर तोड़ दूँ, चाहे जेहल ही क्यों न काटना पड़े। यह तुम्हारी ही बेइज्जती नहीं है, मुहल्ले-भर के मुँह में कालिख लग गई है।"

भैरो—"तुमने मेरे मुँह से बात छीन ली। क्या कहूँ, उस बखत मैं न था, नहीं तो हड्डी तोड़ डालता।"

जगधर—"पंडाजी, मुँह-देखी नहीं कहता, तुम चाहे दूसरों के कहने-सुनने में आ जाओ, लेकिन मैं बिना उसकी मरम्मत किए न मानूँगा।"

इस पर कई आदमियों ने कहा—"मुखिया की इज्जत गई, तो सबकी गई। वही तो किरस्तान हैं, जो गली-गली ईसा-मसीह के गीत गाते फिरते हैं। डोमड़ा, चमार, जो गिरजा में जाकर खाना खा ले, वही किरस्तान हो जाता है। वही बाद को कोट-पतलून पहनकर साहब बन जाते हैं।"

ठाकुरदीन—"मेरी तो सलाह यही है कि कोई अनुष्ठान करा दिया जाय।"

नायकराम—"अब बताओ सूरे, तुम्हारी बात मानूँ या इतने आदमियों की? तुम्हें यह डर होगा कि कहीं मेरी जमीन पर आँच न आ जाय, तो इससे तुम निश्चिंत रहो। राजा साहब ने जो बात कह दी, उसे पत्थर की लकीर समझो। साहब सिर रगड़कर मर जायँ, तो भी अब जमीन नहीं पा सकते।"

सूरदास—"जमीन की मुझे चिंता नहीं है। मरूँगा, तो सिर पर लाद थोड़े ही ले जाऊँगा। पर अंत में यह सारा पाप मेरे ही सिर पड़ेगा। मैं ही तो इस सारे तूफ़ान की जड़ हूँ, मेरे ही कारन तो यह रगड़-झगड़ मची हुई है, नहीं तो साहब को तुमसे कौन दुसमनी थी।"

नायकराम—"यारो, सूरे को समझाओ।"

जगधर—"सूरे, सोचो, हम लोगों की कितनी बेआबरूई हुई है!"

सूरदास—"आबरू का बनाने-बिगाड़नेवाला आदमी नहीं है, भगवान हैं। उन्हीं की निगाह में आबरू बनी रहनी चाहिए। आदमियों की निगाह में आबरू की परख कहाँ है। जब सूद खानेवाला बनिया, घूस लेनेवाला हाकिम और झूठ बोलनेवाला गवाह बेआबरू नहीं समझा जाता, लोग उसका आदर-मान करते हैं, तो यहाँ सच्ची आबरू की कदर करनेवाला कोई है ही नहीं।"

बजरंगी—"तुमसे कुछ मतलब नहीं, हम लोग जो चाहेंगे, करेंगे।"

सूरदास—"अगर मेरी बात न मानोगे, तो मैं जाके साहब से सारा माजरा कह सुनाऊँगा।"

नायकराम—"अगर तुमने उधर पैर रक्खा, तो याद रखना, वहीं खोदकर गाड़ दूँगा। तुम्हें अंधा-अपाहिज समझकर तुम्हारी मुरौवत करता हूँ, नहीं तो तुम हो किस खेत की मूली! क्या तुम्हारे कहने से अपनी इज्जत गँवा दूँ, बाप-दादों के मुँह में कालिख लगवा दूँ? बड़े आए हो वहाँ से ज्ञानी बनके। तुम भीख माँगते हो, तुम्हें अपनी इज्जत की फिकिर न हो, यहाँ तो आज तक पीठ में धूल नहीं लगी।"

सूरदास ने इसका कुछ जवाब न दिया। चुपके से उठा, और मंदिर के चबूतरे पर जाकर लेट गया। मिठुआ प्रसाद के इंतज़ार में वहीं बैठा हुआ था। उसे पैसे निकालकर दिए कि सत्तू-गुड़ लाकर खा ले। मिठुआ ख़ुश होकर बनिए की दूकान की ओर दौड़ा। बच्चों को सत्तू और चबेना रोटियों से अधिक प्रिय होता है।

सूरदास के चले आने के बाद कुछ देर तक लोग सन्नाटे में बैठे रहे। उसके विरोध ने उन्हें संशय में डाल दिया था। उसकी स्पष्टवादिता से सब लोग डरते थे। यह भी मालूम था कि वह जो कुछ कहता है, उसे पूरा कर दिखाता है। इसलिये आवश्यक था कि पहले सूरदास ही से निबट लिया जाय। उसे क़ायल करना मुश्किल था। धमकी से भी कोई काम न निकल सकता था। नायकराम ने उस पर

लगे हुए कलंक का समर्थन करके उसे परास्त करने का निश्चय किया। बोला—"मालूम होता है, उन लोगों ने अंधे को फोड़ लिया।"

भैरो—"मुझे भी यही संदेह होता है।"

जगधर—"सूरदास फूटनेवाला आदमी नहीं है।"

बजरंगी—"कभी नहीं।"

ठाकुरदीन—"ऐसा स्वभाव तो नहीं है, पर कौन जाने। किसी की नहीं चलाई जाती। मेरे ही घर चोरी हुई, तो क्या बाहर के चोर थे। पड़ोसियों ही की करतूत थी। पूरे एक हज़ार का माल उठ गया। और वही लोग, जिन्होंने माल उड़ाया, अब तक मेरे मित्र बने हुए हैं। आदमी का मन छिन-भर में क्या से क्या हो जाता है।"

नायकराम—"शायद जमीन का मामला करने पर राजी हो गया हो; पर साहब ने इधर आँख उठाकर भी देखा, तो बँगले में आग लगा दूँगा। (मुस्किराकर) भैरो मेरी मदद करेंगे ही।"

भैरो—"पंडाजी, तुम लोग मेरे ऊपर सुभा करते हो, पर मैं जवानी की कसम खाता हूँ, जो उसके झोपड़े के पास भी गया होऊँ। जगधर मेरे यहाँ आते-जाते हैं, इन्हीं से ईमान से पूछिए।"

नायकराम—"जो आदमी किसी की बहू-बेटी पर बुरी निगाह करे, उसके घर में आग लगाना बुरा नहीं। मुझे पहले तो विश्वास नहीं आता था; पर आज उसके मिजाज का रंग बदला हुआ है।"

बजरंगी—"पंडाजी, सूरे को तुम आज ३० बरसों से देख रहे हो। ऐसी बात न कहो।"

जगधर—"सूरे में और चाहे जितनी बुराइयाँ हों, यह बुराई नहीं है।"

भैरो—"मुझे भी ऐसा जान पड़ता है कि हमने हक-नाहक उस पर कलंक लगाया। सुभागी आज सबेरे आकर मेरे पैरों पर गिर पड़ी

और तब से घर से बाहर नहीं निकली। सारे दिन अम्मा की सेवा-टहल करती रही।"

यहाँ तो ये ही बातें होती रहीं कि प्रभु सेवक का सत्कार क्योंकर किया जायगा। उसी के कार्य-क्रम का निश्चय होता रहा। उधर प्रभु सेवक घर चले, तो आज के कृत्य पर उन्हें वह संतोष न था, जो सत्कार्य का सबसे बड़ा इनाम है। इसमें संदेह नहीं कि उनकी आत्मा शांत थी।

कोई भला आदमी अपशब्दों को सहन नहीं कर सकता, और न करना ही चाहिए। अगर कोई गालियाँ खाकर चुप रहे, तो इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थ-हीन है, उसमें आत्माभिमान नहीं। गालियाँ खाकर भी जिसके ख़ून में जोश न आए, वह जड़ है, पशु है, मृतक है।

प्रभु सेवक को खेद यह था कि मैंने यह नौबत आने ही क्यों दी। मुझे उनसे मैत्री करनी चाहिए थी। उन लोगों को ताहिरअली के गले मिलाना चाहिए था; पर यह समय-सेवा किससे सीखूँ? उँह! ये चालें वह चले, जिसे फैलने की अभिलाषा हो, यहाँ तो सिमटकर रहना चाहते हैं। पापा सुनते ही झल्ला उठेंगे। सारा इलज़ाम मेरे ही सिर मढ़ेंगे। मैं ही बुद्धिहीन, विचारहीन, अनुभवहीन प्राणी हूँ। अवश्य हूँ। जिसे संसार में रहकर सांसारिकता का ज्ञान न हो, वह मंदबुद्धि है। पापा बिगड़ेंगे, मैं शांत भाव से उनका क्रोध सह लूँगा। अगर वह मुझसे निराश होकर यह कारख़ाना खोलने का विचार त्याग दें, तो मैं मुँह-माँगी मुराद पा जाऊँ।

किंतु प्रभु सेवक को कितना आश्चर्य हुआ, जब सारा वृत्तांत सुनकर भी जॉन सेवक के मुख पर क्रोध का कोई लक्षण न दिखाई दिया; यह मौन व्यंग्य और तिरस्कार से कहीं ज़्यादा दुस्सह था। प्रभु सेवक चाहते थे कि पापा मेरी ख़ूब तंबीह करें, जिसमें मुझे

अपनी सफ़ाई देने का अवसर मिले, मैं सिद्ध कर दूँ कि इस दुर्घटना का ज़िम्मेदार मैं नहीं हूँ। मेरी जगह कोई दूसरा आदमी होता, तो उसके सिर भी यही विपत्ति पड़ती। उन्होंने दो-एक बार पिता के क्रोध को उकसाने की चेष्टा की; किंतु जॉन सेवक ने केवल एक बार उन्हें तीव्र दृष्टि से देखा, और उठकर चले गए। किसी कवि की यशेच्छा श्रोताओं के मौन पर इतनी मर्माहत न हुई होगी!

मिस्टर जॉन सेवक छलके हुए दूध पर आँसू न बहाते थे। प्रभु सेवक के कार्य की तीव्र आलोचना करना व्यर्थ था। वह जानते थे कि इसमें आत्मसम्मान कूट-कूटकर भरा हुआ है। उन्होंने स्वयं इस भाव का पोषण किया था। सोचने लगे—इस गुत्थी को कैसे सुलझाऊँ? नायकराम मुहल्ले का मुखिया है। सारा मुहल्ला इसके इशारों का ग़ुलाम है। सूरदास तो केवल स्वर भरने के लिये है। और, नायकराम मुखिया ही नहीं है, शहर का मशहूर गुंडा भी है। बड़ी कुशल हुई कि प्रभु सेवक वहाँ से जीता-जागता लौट आया। राजा साहब बड़ी मुश्किलों से सीधे हुए थे! नायकराम उनके पास ज़रूर फ़रियाद करेगा, अब की हमारी ज़्यादती साबित होगी। राजा साहब को पूँजीवालों से यों ही चिढ़ है, यह कथा सुनते ही जामे से बाहर हो जायँगे। फिर किसी तरह उनका मुँह सीधा न होगा। सारी रात जॉन सेवक इसी उधेड़-बुन में पड़े रहे। एका-एक उन्हें एक बात सूझी। चेहरे पर मुस्किराहट की झलक दिखाई दी। संभव है, यह चाल सीधी पड़ जाय, तो फिर बिगड़ा हुआ काम सँवर जाय। सुबह को हाज़िरी खाने के बाद फिटन तैयार कराई, और पाँड़ेपुर चल दिए।

नायकराम ने पैरों में पट्टियाँ बाँध ली थीं, शरीर में हल्दी की मालिश कराए हुए थे, एक डोली मँगवा रक्खी थी, और राजा महेंद्र-कुमार के पास जाने को तैयार थे। अभी मुहूर्त में दो-चार पल की

कसर थी। बजरंगी और जगधर भी साथ जानेवाले थे। सहसा फ़िटन पहुँची, तो लोग चकित हो गए। एक क्षण में सारा मोहल्ला आकर जमा हो गया, आज क्या होगा?

जॉन सेवक नायकराम के पास जाकर बोले—"आप ही का नाम नायकराम पाँड़े है न? मैं आपसे कल की बातों के लिये क्षमा माँगने आया हूँ। लड़के ने ज्यों ही मुझसे यह समाचार कहा, मैंने उसको ख़ूब डाँटा, और रात ज़्यादा न हो गई होती, तो मैं उसी वक़्त आपके पास आया होता। लड़का कुमार्गी और मूर्ख है। कितना ही चाहता हूँ कि उसमें ज़रा आदमीयत आ जाय, पर ऐसी उलटी समझ है कि किसी बात पर ध्यान ही नहीं देता। विद्या पढ़ने के लिये विलायत भेजा, वहाँ से भी पास हो आया; पर सज्जनता न आई। उसकी नादानी का इससे बढ़कर और क्या सबूत होगा कि इतने आदमियों के बीच में वह आपसे बेअदबी कर बैठा। अगर कोई आदमी शेर पर पत्थर फेंके, तो उसकी वीरता नहीं, उसका अभिमान भी नहीं, उसकी बुद्धिहीनता है। ऐसा प्राणी दया के योग्य है; क्योंकि जल्द या देर में वह शेर के मुँह का ग्रास बन जायगा। इस लौंडे की ठीक यही दशा है। आपने मुरौवत न की होती, क्षमा से न काम लिया होता, तो न-जाने क्या हो जाता। जब आपने इतनी दया की है, तो दिल से मलाल भी निकाल डालिए।"

नायकराम चारपाई पर लेट गए, मानो खड़े रहने में कष्ट हो रहा है, और बोले—"साहब, दिल से मलाल तो न निकलेगा, चाहे जान निकल जाय। इसे चाहे हम लोगों की मुरौवत कहिए, चाहे उनकी तकदीर कहिए कि वह यहाँ से बेदाग चले गए; लेकिन मलाल तो दिल में बना हुआ है। वह तभी निकलेगा, जब या तो मैं न रहूँगा या वह न रहेंगे। रही भलमनसी, भगवान ने चाहा, तो जल्द ही

सीख जायँगे। बस, एक बार हमारे हाथ में फिर पड़ जाने दीजिए। हमने बड़े-बड़ों को भलामानुस बना दिया, उनकी क्या हस्ती है!"

जॉन सेवक—"अगर आप इतनी आसानी से उसे भलमनसी सिखा सकें, तो कहिए, आप ही के पास भेज दूँ; मैं तो सब कुछ करके हार गया।"

नायकराम—"बोलो भाई बजरंगी, साहब की बातों का जवाब दो, मुझसे तो बोला नहीं जाता, रात कराह-कराहकर काटी है। साहब कहते हैं, माफ़ कर दो, दिल में मलाल न रक्खो। मैं तो यह सब व्यवहार नहीं जानता। यहाँ तो ईंट का जवाब पत्थर से देना सीखा है।"

बजरंगी—"साहब लोगों का यही दस्तूर है। पहले तो मारते हैं, और जब देखते हैं कि अब हमारे ऊपर भी मार पड़ा चाहती है, तो चट कहते हैं—माफ़ कर दो; यह नहीं सोचते कि जिसने मार खाई है, उसे बिना मारे कैसे तसकीन होगी।"

जॉनसेवक—"तुम्हारा यह कहना ठीक है, लेकिन यह समझ लो कि क्षमा बदले के भय से नहीं माँगी जाती। भय से आदमी छिप जाता है, दूसरों की मदद माँगने दौड़ता है, क्षमा नहीं माँगता। क्षमा आदमी उसी वक़्त माँगता है, जब उसे अपने अन्याय और बुराई का विश्वास हो जाता है, और जब उसकी आत्मा उसे लज्जित करने लगती है। प्रभु सेवक से तुम माफ़ी माँगने को कहो, तो कभी न राज़ी होगा। तुम उसकी गरदन पर तलवार चलाकर भी उसके मुँह से क्षमा-याचना का एक शब्द नहीं निकलवा सकते। अगर विश्वास न हो, तो इसकी परीक्षा कर लो। इसका कारण यही है कि वह समझता है, मैंने कोई ज़्यादती नहीं की। वह कहता है, मुझे उन लोगों ने गालियाँ दी। लेकिन मैं इसे किसी तरह नहीं मान सकता कि आपने उसे गालियाँ दी होंगी। शरीफ़ आदमी न

गालियाँ देता है, न गालियाँ सुनता है। मैं जो क्षमा माँग रहा हूँ, वह इसलिये कि मुझे यहाँ सरासर उसकी ज़्यादती मालूम होती है। मैं उसके दुर्व्यवहार पर लज्जित हूँ, और मुझे इसका दुःख है कि मैंने उसे यहाँ क्यों आने दिया। सच पूछिए, तो अब मुझे यही पछतावा हो रहा है कि मैंने इस ज़मीन को लेने की बात ही क्यों उठाई। आप लोगों ने मेरे गुमाश्ते को मारा, मैंने पुलिस में रपट तक न की। मैंने निश्चय कर लिया कि अब इस ज़मीन का नाम न लूँगा। मैं आप लोगों को कष्ट नहीं देना चाहता, आपको उजाड़कर अपना घर नहीं बनाना चाहता। अगर तुम लोग ख़ुशी से दोगे, तो लूँगा, नहीं तो छोड़ दूँगा। किसी का दिल दुखाना सबसे बड़ा अधर्म कहा गया है। जब तक आप लोग मुझे क्षमा न करेंगे मेरी आत्मा को शांति न मिलेगी।"

उद्दंडता सरलता का केवल उग्र रूप है। साहब के मधुर वाक्यों ने नायकराम का क्रोध शांत कर दिया। कोई दूसरा आदमी इतनी ही आसानी से उसे साहब की गरदन पर तलवार चलाने के लिये उत्तेजित कर सकता था; संभव था, प्रभु सेवक को देखकर उसके सिर पर ख़ून सवार हो जाता; पर इस समय साहब की बातों ने उसे मंत्रमुग्ध-सा कर दिया। बोला—"कहो बजरंगी, क्या कहते हो?"

बजरंगी—"कहना क्या है, जो अपने सामने मस्तक नवाए, उसके सामने मस्तक नवाना ही पड़ता है। साहब यह भी तो कहते हैं कि अब हम इस जमीन से कोई सरोकार न रक्खेंगे, तो हमारे और इनके बीच में झगड़ा ही क्या रहा।"

जगधर—"हाँ, झगड़े का मिट जाना ही अच्छा है। बैर-विरोध से किसी का भला नहीं होता।"

भैरों—"छोटे साहब को चाहिए कि आकर पंडाजी से खता माफ

करावें। अब वह कोई बालक नहीं हैं कि आप उनकी ओर से सिफारिस करें। बालक होते, तो दूसरी बात थी, तब हम लोग आप ही को उलहना देते। वह पढ़े-लिखे आदमी हैं, मूछ-दाढ़ी निकल आई है, उन्हें खुद आकर पंडाजी से कहना-सुनना चाहिए।"

नायकराम—"हाँ, यह बात पक्की है। जब तक वह थूककर न चाटेंगे, मेरे दिल से मलाल न निकलेगा।"

जॉन सेवक—"तो तुम समझते हो कि दाढ़ी-मूछ आ जाने से बुद्धि भी आ जाती है? क्या ऐसे आदमी नहीं देखे हैं, जिनके बाल पक गए हैं, दाँत टूट गए हैं, और अभी तक अक़्ल नहीं आई? प्रभु सेवक अगर बुद्धू न होता, तो वह इतने आदमियों के बीच में, और पंडाजी-जैसे पहलवान पर, हाथ न उठाता। उसे तुम कितना ही दबाओ, पर मुआफ़ी न माँगेगा। रही ज़मीन की बात, अगर तुम लोगों की मरज़ी है कि मैं इस मुआमले को दबा रहने दूँ, तो यही सही। पर शायद अभी तक तुम लोगों ने इस समस्या पर विचार नहीं किया, नहीं तो कभी बिरोध न करते। बतलाइए पंडाजी, आपको क्या शंका है?"

नायकराम—"भैरो, इसका जवाब दो। अब तो साहब ने तुमको कायल कर दिया!"

भैरो—"कायल क्या कर दिया, साहब यही कहते हैं न कि छोटे साहब को अक़्ल नहीं है, तो वह कुएँ में क्यों नहीं कूद पड़ते, अपने दाँतों से अपना हाथ क्यों नहीं काट लेते? ऐसे आदमियों को कोई कैसे पागल समझ ले?"

जॉन सेवक—"जो आदमी यह न समझे कि किस मौक़े पर कौन काम करना चाहिए, किस मौक़े पर कौन बात करनी चाहिए, वह पागल नहीं, तो और क्या है।"

नायकराम—"साहब, उन्हें मैं पागल तो किसी तरह न मानूँगा।

हाँ, आपका मुँह देख के उनसे बैर न बढ़ाऊँगा। आपकी नम्रता ने मेरा सिर झुका दिया। सच कहता हूँ, आपकी भलमनसी और सराफत ने मेरा गुस्सा ठंडा कर दिया। नहीं तो मेरे दिल में न-जाने कितना गुबार भरा हुआ था। अगर आप थोड़ी देर और न आते, तो आज शाम तक छोटे साहब असपताल में होते। आज तक कभी मेरी पीठ में धूल नहीं लगी। जिंदगी में पहली बार मेरा इतना अपमान हुआ, और पहली बार मैंने क्षमा करना भी सीखा। यह आपकी बुद्धि की बरकत है। मैं आपकी खोपड़ी को मान गया। अब साहब की दूसरी बात का जवाब दो बजरंगी!"

बजरंगी—"इसमें अब काहे का सवाल-जवाब। साहब ने तो कह दिया कि मैं उसका नाम न लूँगा, बस झगड़ा मिट गया।"

जॉन सेवक—"लेकिन अगर उस ज़मीन के मेरे हाथ में आने से तुम्हारा सोलहो आने फ़ायदा हो, तो भी तुम हमें न लेने दोगे?"

बजरंगी—"हमारा फायदा क्या होगा, हम तो मिट्टी में मिल जायँगे।"

जॉन सेवक—"मैं तो दिखा दूँगा कि यह तुम्हारा भ्रम है। बत-लाओ, तुम्हें क्या एतराज़ है?"

बजरंगी—"पंडाजी,के हजारों जात्री आते हैं, वे सब इसी मैदान में ठहरते हैं। दस-दस, बीस-बीस दिन पड़े रहते हैं, वहीं खाना बनाते हैं, वहीं सोते भी हैं। सहर के धरमसालों में देहात के लोगों को आराम कहाँ। यह जमीन न रहे, तो कोई जात्री यहाँ झाँकने भी न आए।"

जॉनसेवक—"जात्रियों के लिये, सड़क के किनारे, खपरैल के मकान बनवा दिए जायँ तो कैसा?"

बजरंगी—"इतने मकान कौन बनवाएगा?"

जॉनसेवक—इसका मेरा ज़िम्मा। मैं वचन देता हूँ कि यहाँ धर्मशाला बनवा दूँगा।"

बजरंगी—'मेरी और मुहल्ले के दूसरे आदमियों की गाएँ-भैंसें कहाँ चरेंगी ?"

जॉन सेवक—"अहाते में घास चराने का तुम्हें अख्तियार रहेगा। फिर, अभी तुम्हें अपना सारा दूध लेकर शहर जाना पड़ता है; हलवाई तुमसे दूध लेकर मलाई, मक्खन, दही बनाता है, और तुमसे कहीं ज़्यादा सुखी है। यह नफ़ा उसे तुम्हारे ही दूध से तो होता है! तुम अभी यहाँ मलाई-मक्खन बनाओ, तो लेगा कौन? जब यहाँ कारख़ाना खुल जायगा, तो हज़ारों आदमियों की बस्ती हो जायगी, तुम दूध की मलाई बेचोगे, दूध अलग बिकेगा। इस तरह तुम्हें दोहरा नफ़ा होगा। तुम्हारे उपले घर बैठे बिक जायँगे। तुम्हें तो कारख़ाना खुलने से सब नफ़ा-ही-नफ़ा है।"

नायकराम—"आता है समझ में न बजरंगी?"

बजरंगी—"समझ में क्यों नहीं आता, लेकिन एक मैं दूध की मलाई बना लूँगा, और लोग भी तो हैं, दूध खाने के लिये जानवर पाले हुए हैं। उन्हें तो मुसकिल पड़ेगी।"

ठाकुरदीन—"मेरी ही एक गाय है। चोरों का बस चलता, तो इसे भी ले गए होते। दिन-भर वहाँ चरती है। साँझ-सबेरे दूध दुहकर छोड़ देता हूँ। धेले का भी चारा नहीं लेना पड़ता। तब तो आठ आने रोज का भूसा भी पूरा न पड़ेगा।"

जॉन सेवक—"तुम्हारी पान की दूकान है न? अभी तुम दस-बारह आने पैसे कमाते होगे। तब तुम्हारी बिक्री चौगुनी हो जायगी। इधर की कमी उधर पूरी हो जायगी। मज़दूरों को पैसे की पकड़ नहीं होती; काम से ज़रा फ़ुरसत मिली कि कोई पान पर गिरा, कोई सिगरेट पर दौड़ा। ख़ोंचेवाले की ख़ासी बिक्री होगी, और शराब-ताड़ी का तो पूछना ही क्या, चाहे तो पानी को शराब बनाकर बेचो। गाड़ीवालों की मज़दूरी बढ़ जायगी। यही मोहल्ला चौक की भाँति

गुलज़ार हो जायगा। अभी तुम्हारे लड़के शहर पढ़ने जाते हैं, तब यहीं मदरसा खुल जायगा।"

जगधर—"क्या यहाँ मदरसा भी खुलेगा?"

जॉन सेवक—"हाँ, कारख़ाने के आदमियों के लड़के आख़िर पढ़ने कहाँ जायँगे? अँगरेज़ी भी पढ़ाई जायगी।"

जगधर—"फ़ीस कुछ कम ली जायगी?"

जॉन सेवक—"फ़ीस बिलकुल ही न ली जायगी, कम-ज़्यादा कैसी!"

जगधर—"तब तो बड़ा आराम हो जायगा।"

नायकराम—जिसका माल है, उसे क्या मिलेगा?"

जॉन सेवक—"जो तुम लोग तय कर दो। मैं तुम्हीं को पंच मानता हूँ। बस, उसे राज़ी करना तुम्हारा काम है।"

नायकराम—"वह राज़ी ही है। आपने बात-की-बात में सबको राज़ी कर लिया, नहीं तो यहाँ लोग मन में न-जाने क्या-क्या समझे बैठे थे। सच है, विद्या बड़ी चीज़ है।"

भैरो—"वहाँ ताड़ी की दूकान के लिये कुछ देना तो न पड़ेगा?"

नायकराम—"कोई और खड़ा हो गया, तो चढ़ा-ऊपरी होगी ही।"

जॉन सेवक—"नहीं, तुम्हारा हक़ सबसे बढ़कर समझा जायगा।"

नायकराम—"तो फिर तुम्हारी चाँदी है भैरो!"

जॉन सेवक—"तो अब मैं चलूँ पंडाजी, अब आपके दिल में मलाल तो नहीं है?"

नायकराम—"अब कुछ कहलाइए न, आपका-सा भलामानुस आदमी कम देखा।"

जॉन सेवक चले गए, बजरंगी ने कहा—"कहीं सूरे राज़ी न हुए, तो?"

नायकराम—"हम तो राज़ी करेंगे! चार हजार रुपए दिलाने

चाहिए। अब इसी समझौते में कुशल है। जमीन रह नहीं सकती। यह आदमी इतना चतुर है कि इससे हम लोग पेश नहीं पा सकते। यों निकल जायगी, तो हमारे साथ यह सलूक कौन करेगा? संत में जस मिलता हो, तो छोड़ना न चाहिए।"

जॉन सेवक घर पहुँचे, तो डिनर तैयार था। प्रभु सेवक ने पूछा—"आप कहाँ गए थे?" जॉन सेवक ने रूमाल से मुँह पोंछते हुए कहा—"हरएक काम करने को तमीज़ चाहिए, कविता रच लेना दूसरी बात है, काम कर दिखाना दूसरी बात। तुम एक काम करने गए, मोहल्ले-भर से लड़ाई ठानकर चले आए। जिस समय मैं पहुँचा हूँ, सारे आदमी नायकराम के द्वार पर जमा थे। वह डोली में बैठकर शायद राजा महेंद्रसिंह के पास जाने को तैयार था। मुझे सबों ने यों देखा, जैसे फाड़ खाएँगे। लेकिन मैंने कुछ इस तरह धैर्य और विनय से काम लिया, उन्हें दलीलों और चिकनी-चुपड़ी बातों से ऐसा दर्रे पर लाया कि जब चला, तो सब मेरा गुणानुवाद कर रहे थे। ज़मीन का मुआमला भी तय हो गया। उसके मिलने में अब कोई बाधा नहीं है।"

प्रभु सेवक—"पहले तो सब उस ज़मीन के लिये मरने-मारने पर तैयार थे।"

जॉन सेवक—"और कुछ कसर थी, तो वह तुमने जाकर पूरी कर दी। लेकिन याद रक्खो, ऐसे विषयों में सदैव मार्मिक अवसर पर निगाह रखनी चाहिए। यही सफलता का मूल-मंत्र है। शिकारी जानता है, किस वक़्त हिरन पर निशाना मारना चाहिए। वकील जानता है, अदालत पर कब उसकी युक्तियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ सकता है। एक महीना नहीं, एक दिन पहले, मेरी बातों का इन आदमियों पर ज़रा भी असर न होता। कल तुम्हारी उद्दंडता ने वह अवसर प्रस्तुत कर दिया। मैं क्षमा-प्रार्थी बनकर उनके सामने गया।

मुझे दबकर, झुककर, दीनता से, नम्रता से अपनी समस्या को उनके सम्मुख उपस्थित करने का अवसर मिला। यदि उनकी ज़्यादती होती, तो मेरी ओर से भी कड़ाई की जाती। उस दशा में दबना नीति और आचरण के विरुद्ध होता। ज़्यादती हमारी ओर से हुई, बस यही मेरी जीत थी।"

ईश्वर सेवक बोले—"ईश्वर इस पापी को अपनी शरण में ले। बर्फ़ आजकल बहुत महँगी हो गई है, फिर समझ में नहीं आता, क्यों इतनी निर्दयता से ख़र्च की जाती है। सुराही का पानी काफ़ी ठंडा होता है।"

जॉन सेवक—"पापा, क्षमा कीजिए, बिना बर्फ़ के प्यास ही नहीं बुझती।"

ईश्वर सेवक—"ख़ुदा ने चाहा बेटा, तो उस ज़मीन का मुआमला तय हो जायगा। आज तुमने बड़ी चतुरता से काम किया।"

मिसेज़ सेवक—"मुझे इन हिंदुस्थानियों पर विश्वास नहीं आता। दग़ाबाज़ी कोई इनसे सीख ले। अभी सब-के-सब हाँ-हाँ कर रहे हैं, मौक़ा पड़ने पर सब निकल जायँगे। महेंद्रसिंह ने नहीं धोखा दिया? यह जाति ही हमारी दुश्मन है। इनका बस चले, तो एक ईसाई भी मुल्क में न रहने पाए।"

प्रभु सेवक—"मामा, यह आपका अन्याय है? पहले हिंदुस्थानियों को ईसाइयों से कितना ही द्वेष रहा हो, किंतु अब हालत बदल गई है। हम ख़ुद अँगरेज़ों की नक़ल करके उन्हें चिढ़ाते हैं। प्रत्येक अवसर पर अँगरेज़ों की सहायता से उन्हें दबाने की चेष्टा करते हैं। किंतु यह हमारी राजनीतिक भ्रांति है। हमारा उद्धार देशवासियों से भ्रातृभाव रखने में है, उन पर रोब जमाने में नहीं। आख़िर हम भी तो इसी जननी की संतान हैं। यह असंभव है कि गोरी जातियाँ केवल धर्म के नाते हमारे साथ भाईचारे का व्यवहार करें। अमे-

रिका के हबशी ईसाई हैं, लेकिन अमेरिका के गोरे उनके साथ कितना पाशविक और अत्याचार-पूर्ण बर्ताव करते हैं! हमारी मुक्ति भारतवासियों के साथ है।"

मिसेज़ सेवक—"खुदा वह दिन न लाए कि हम इन विधर्मियों की दोस्ती को अपने उद्धार का साधन बनाएँ। हम शासनाधिकारियों के सहधर्मी हैं। हमारा धर्म, हमारी रीति-नीति, हमारा आहार-व्यवहार अँगरेज़ों के अनुकूल है। हम और वे एक कलिसिया में, एक परमात्मा के सामने, सिर झुकाते हैं। हम इस देश में शासक बनकर रहना चाहते हैं, शासित बनकर नहीं। तुम्हें शायद कुँअर भरतसिंह ने यह उपदेश दिया है। कुछ दिन और उनकी सोहबत रही, तो शायद तुम भी ईसू से विमुख हो जाओ।"

प्रभु सेवक—"मुझे तो ईसाइयों में जागृति के विशेष लक्षण नहीं दिखाई देते।"

जॉन सेवक—"प्रभु सेवक तुमने बड़ा गहन विषय छेड़ दिया। मेरे विचार में हमारा कल्याण अँगरेज़ों के साथ मेल-जोल करने में है। अँगरेज़ इस समय भारतवासियों की संयुक्त शक्ति से चिंतित हो रहे हैं। हम अँगरेज़ों से मैत्री करके उन पर अपनी राजभक्ति का सिक्का जमा सकते हैं, और मनमाने स्वत्व प्राप्त कर सकते हैं। खेद यही है कि हमारी जाति ने अभी तक राजनीतिक क्षेत्र में पग ही नहीं रक्खा। यद्यपि देश में हम अन्य जातियों से शिक्षा में कहीं आगे बढ़े हुए हैं, पर अब तक राजनीति पर हमारा कोई प्रभाव नहीं है। हिंदुस्थानियों में मिलकर हम गुम हो जायँगे, खो जायँगे। उनसे पृथक् रहकर विशेष अधिकार और विशेष सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।"

ये ही बातें हो रही थीं कि एक चपरासी ने आकर एक ख़त दिया। यह ज़िलाधीश मिस्टर क्लार्क का ख़त था। उनके यहाँ

विलायत से कई मेहमान आए हुए थे। क्लार्क ने उनके सम्मान में एक डिनर दिया था, और मिसेज़ सेवक तथा मिस सोफ़िया सेवक को उसमें सम्मिलित होने के लिये निमंत्रित किया था। साथ ही मिसेज़ सेवक से विशेष अनुरोध भी किया था कि सोफ़िया को एक सप्ताह के लिये अवश्य बुला लीजिए।

चपरासी के चले जाने के बाद मिसेज़ सेवक ने कहा—"सोफ़ी के लिये यह स्वर्ण-संयोग है।"

जॉन सेवक—"हाँ, है तो; पर वह आएगी कैसे?"

मिसेज़ सेवक—"उसके पास यह पत्र भेज दूँ?"

जॉन सेवक—"सोफ़ी इसे खोलकर देखेगी भी नहीं। उसे जाकर लिवा क्यों नहीं लातीं?"

मिसेज़ सेवक—"वह तो आती ही नहीं।"

जॉन सेवक—"तुमने कभी बुलाया ही नहीं, आती क्योंकर?"

मिसेज़ सेवक—"वह आने के लिये कैसी शर्त लगाती है!"

जॉन सेवक—"अगर उसकी भलाई चाहती है, तो अपनी शर्तों को तोड़ दो।"

मिसेज़ सेवक—"वह गिरजा न जाय, तो भी ज़बान न खोलूँ?"

जॉन सेवक—"हज़ारों ईसाई कभी गिरजा नहीं जाते, और अँगरेज़ तो बहुत कम आते हैं।"

मिसेज़ सेवक—"प्रभु मसीह की निंदा करे, तो भी चुप रहूँ?"

जॉन सेवक—"वह मसीह की निंदा नहीं करती, और न कर सकती है। जिसे ईश्वर ने ज़रा भी बुद्धि दी है, वह प्रभु मसीह का सच्चे दिल से सम्मान करेगा। हिंदू तक ईसू का नाम आदर के साथ लेते हैं। अगर सोफ़ी मसीह को अपना मुक्तिदाता, ईश्वर का बेटा या ईश्वर नहीं समझती, तो उस पर जब्र क्यों किया जाय? कितने ही ईसाइयों को इस विषय में शंकाएँ हैं, चाहे वे उन्हें प्रक-

यश प्रकट न करें ! मेरे विचार में अगर कोई प्राणी अच्छे कर्म करता है, और शुद्ध विचार रखता है, तो वह उस मसीह के उस भक्त से कहीं श्रेष्ठ है, जो मसीह का नाम तो जपता है, पर नीयत का ख़राब है।"

ईश्वर सेवक—"या ख़ुदा, इस ख़ानदान पर अपना साया फैला। बेटा, ऐसी बातें ज़बान से न निकालो। मसीह का दास कभी सन्मार्ग से नहीं फिर सकता। उस पर प्रभु मसीह की दया-दृष्टि रहती है।"

जॉन सेवक—(स्त्री से) "तुम कल सुबह चली जाओ, रानी से भेंट भी हो जायगी, और सोफ़ी को भी लेती आओगी।"

मिसेज़ सेवक—"अब जाना पड़ेगा। जी तो नहीं चाहता; पर जाऊँगी। उसी की टेक रहे!"

❀ ❀ ❀

सूरदास संध्या-समय घर आया, और सब समाचार सुने, तो नायकराम से बोला—"तुमने मेरी जमीन साहब को दे दी ?"

नायकराम—"मैंने क्यों दी ? मुझसे वास्ता ?"

सूरदास—"मैं तो तुम्हीं को सब कुछ समझता था, और तुम्हारे ही बल पर कूदता था; पर आज तुमने भी साथ छोड़ दिया। अच्छी बात है। मेरी भूल थी कि तुम्हारे बल पर फूला हुआ था। यह उसी की सजा है। अब न्याय के बल पर लड़ूँगा, भगवान ही का भरोसा करूँगा।"

नायकराम—"बजरंगी, जरा भैरो को बुला लो, इन्हें सब बातें समझा दे। मैं इनसे कहाँ तक मगज लड़ाऊँ।"

बजरंगी—"भैरो को क्यों बुला लूँ, क्या मैं इतना भी नहीं कर सकता। भैरो को इतना सिर चढ़ा दिया, इसी से तो उसे घमंड हो गया है।"

यह कहकर बजरंगी ने जॉन सेवक की सारी आयोजनाएँ कुछ

बढ़ा-घटाकर बयान कर दीं, और बोला—"बताओ, जब कारखाने से सबका फायदा है, तो हम साहब से क्यों लड़ें?"

सूरदास—"तुम्हें विश्वास हो गया कि सबका फायदा होगा?"

बजरंगी—"हाँ, हो गया। मानने-लायक बात होती है, तो मानी ही जाती है।"

सूरदास—"कल तो तुम लोग जमीन के पीछे जान देने पर तैयार थे, मुझ पर संदेह कर रहे थे कि मैंने साहब से मेल कर लिया, आज साहब के एक ही चकमे में पानी हो गए।"

बजरंगी—"अब तक किसी ने ये सब बातें इतनी सफाई से न समझाई थीं। कारखाने से सारे मुहल्ले का, सारे शहर का, फायदा है। मजूरों की मजूरी बढ़ेगी, दूकानदारों की बिक्री बढ़ेगी। तो अब हमें तो झगड़ा नहीं है। तुमको भी हम यही सलाह देते हैं कि अच्छे दाम मिल रहे हैं, जमीन दे डालो। यों न दोगे, तो जाबते से ले ली जायगी। इससे क्या फायदा?"

सूरदास—"अधर्म और अविचार कितना बढ़ जायगा, यह भी मालूम है?"

बजरंगी—"धन से तो अधर्म होता ही है, पर धन को कोई छोड़ नहीं देता?"

सूरदास—"तो अब तुम लोग मेरा साथ न दोगे? मत दो। जिधर न्याय है, उधर किसी की मदद की इतनी जरूरत भी नहीं है। मेरी चीज है, बाप-दादों की कमाई है, किसी दूसरे का उस पर कोई अख्तियार नहीं है। अगर जमीन गई, तो उसके साथ मेरी जान भी जायगी।"

यह कहकर सूरदास उठ खड़ा हुआ, और अपने झोपड़े के द्वार पर आकर नीम के नीचे लेट रहा।

---

[१३]

विनयसिंह के जाने के बाद सोफ़िया को ऐसा प्रतीत होने लगा की रानी जाह्नवी मुझसे खिंची हुई हैं। वह अब उसे पुस्तकें तथा पत्र पढ़ने या चिट्ठियाँ लिखने के लिये बहुत कम बुलातीं, उसके आचार-व्यवहार को संदिग्ध दृष्टि से देखतीं। यद्यपि अपनी बदगुमानी को वह यथासाध्य प्रकट न होने देतीं, पर सोफ़ी को ऐसा ख़याल होता कि मुझ पर अविश्वास किया जा रहा है। वह जब कभी बाग़ में सैर करने चली जाती, या कहीं घूमने निकल जाती, तो लौटने पर उसे ऐसा मालूम होता कि मेरी किताबें उलट-पलट दी गई हैं। यह बदगुमानी उस वक्त और भी असह्य हो जाती, जब डाकिए के आने पर रानीजी स्वयं उसके हाथ से पत्रआदि लेतीं, और बड़े ध्यान से देखतीं कि सोफ़िया का कोई पत्र तो नहीं है। कई बार सोफ़िया को अपने पत्रों के लिफ़ाफ़े फटे हुए मिले। वह इस कूट-नीति का रहस्य ख़ूब समझती थी। वह रोक-थाम केवल इसलिये है कि मेरे और विनयसिंह के बीच में पत्र-व्यवहार न होने पाए। पहले रानीजी सोफ़िया से विनय और इंदु की चर्चा अक्सर किया करतीं। अब भूलकर भी विनय का नाम न लेतीं। यह प्रेम की पहली परीक्षा थी।

किंतु आश्चर्य यह था कि सोफ़िया में अब वह आत्माभिमान न था, जो नाक पर मक्खी न बैठने देती थी। वह अब अत्यंत सहनशील हो गई थी। रानीजी से द्वेष करने के बदले वह उनकी संशय-निवृत्ति के लिये अवसर खोजा करती थी। उसे रानीजी का बर्ताव सर्वथा न्याय-संगत मालूम होता था। वह सोचती—इनकी परम अभि-

लाषा है कि विनय का जीवन आदर्श हो, और मैं उनके आत्मसंयम में बाधक न बनूँ। मैं इन्हें कैसे समझाऊँ कि आपकी अभिलाषा को मेरे हाथों ज़रा-सा भी झोंका न लगेगा। मैं तो स्वयं अपना जीवन एक ऐसे उद्देश्य पर समर्पित कर चुकी हूँ, जिसके लिये वह काफ़ी नहीं। मैं स्वयं किसी इच्छा को अपने उद्देश्य-मार्ग का काँटा न बनाऊँगी। लेकिन उसे यह अवसर न मिलता था। जो बातें ज़बान पर नहीं आ सकतीं, उनके लिये कभी अवसर नहीं मिलता।

सोफ़ी को बहुधा अपने मन की चंचलता पर खेद होता। वह मन को इधर से हटाने के लिये पुस्तकावलोकन में मग्न हो जाना चाहती; लेकिन जब पुस्तक सामने खुली रहती, और मन कहीं और जा पहुँचता, तो वह झुँझलाकर पुस्तक बंद कर देती, और सोचती—यह मेरी क्या दशा है! क्या माया यह कपट-रूप धारण करके मुझे सन्मार्ग से विचलित करना चाहती है? मैं जानकर क्यों अनजान बनी जाती हूँ। तब वह प्रतिज्ञा करती कि मैं इस काँटे को हृदय से निकाल डालूँगी।

लेकिन प्रेम-ग्रस्त प्राणियों की प्रतिज्ञा कायर की समर-लालसा है, जो द्वंद्वी की ललकार सुनते ही विलुप्त हो जाती है। सोफ़िया विनय को तो भूल जाना चाहती थी; पर इसके साथ ही शंकित रहती थी कि कहीं वह मुझे भूल न जायँ। जब कई दिनों तक उनका कोई समाचार नहीं मिला, तो उसने समझा—मुझे भूल गए, ज़रूर भूल गए। मुझे उनका पता मालूम होता, तो कदाचित् रोज़ एक पत्र लिखती, दिन में कई-कई पत्र भेजती; पर उन्हें एक पत्र लिखने का भी अवकाश नहीं। वह मुझे भूल जाने का उद्योग कर रहे हैं। अच्छा ही है। वह एक क्रिश्चियन स्त्री से क्यों प्रेम करने लगे? उनके लिये क्या एक-से-एक परम सुंदरी, सुशिक्षिता, प्रेमपरायणा राजकुमारियाँ नहीं हैं?

एक दिन इन भावनाओं ने उसे इतना व्याकुल किया कि वह रानी के कमरे में जाकर विनय के पत्रों को पढ़ने लगी, और एक क्षण में जितने पत्र मिले, सब पढ़ डाले। देखूँ, मेरी ओर कोई संकेत है या नहीं; कोई वाक्य ऐसा है, जिसमें से प्रेम की सुगंध आए? किंतु ऐसा एक शब्द भी न मिला, जिससे वह खींच-तानकर भी कोई गुप्त आशय निकाल सकती। हाँ, उस पहाड़ी देश में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, उनका विस्तार से उल्लेख किया गया था। युवावस्था को अतिशयोक्ति से प्रेम है। हम बाधाओं पर विजय पाकर नहीं, उनकी विशद व्याख्या करके अपना महत्त्व बढ़ाना चाहते हैं। अगर सामान्य ज्वर है, तो वह सन्निपात कहा जाता है। एक दिन पहाड़ों में चलना पड़ा, तो वह नित्य पहाड़ों से सिर टकराना कहा जाता है। विनयसिंह के पत्र ऐसी ही वीर-कथाओं से भरे हुए थे। सोफ़िया यह हाल पढ़कर विकल हो गई। वह इतनी विपत्ति झेल रहे हैं, और मैं यहाँ आराम से पड़ी हूँ! वह इसी उद्वेग में अपने कमरे में आई, और विनय को एक लंबा पत्र लिखा, जिसका एक-एक शब्द प्रेम में डूबा हुआ था। अंत में उसने बड़े प्रेम-विनीत शब्दों में प्रार्थना की कि मुझे अपने पास आने की आज्ञा दीजिए, मैं अब यहाँ नहीं रह सकती। उसकी शैली अज्ञात रूप से कवित्वमय हो गई। पत्र समाप्त करके वह उसी वक्त पास ही के लेटरबॉक्स में डाल आई।

पत्र डाल आने के बाद जब उसका उद्वेग शांत हुआ, तो उसे विचार आया कि मेरा रानीजी के कमरे में छिपकर जाना और पत्रों को पढ़ना किसी तरह उचित न था। वह सारे दिन इसी चिंता में पड़ी रही। बार-बार अपने को धिक्कारती। ईश्वर! मैं कितनी अभागिनी हूँ! मैंने अपना जीवन सच्चे धर्म की जिज्ञासा पर अर्पण कर दिया था, बरसों से सत्य की मीमांसा में रत हूँ; पर वासना की

पहली ही ठोकर में नीचे गिर पड़ी। मैं क्यों इतनी दुर्बल हो गई हूँ? क्या मेरा पवित्र उद्देश्य वासनाओं के भँवर में पड़कर डूब जायगा? मेरी आदत इतनी बुरी हो जायगी कि मैं किसी की वस्तुओं की चोरी करूँगी, इसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। जिनका मुझ पर इतना विश्वास, इतना भरोसा, इतना प्रेम, इतना आदर है, उन्हीं के साथ मेरा यह विश्वासघात! अगर अभी यह दशा है, तो भगवान् ही जाने, आगे चलकर क्या दशा होगी। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि जीवन का अंत हो जाय। आह! वह पत्र, जो मैं अभी छोड़ आई हूँ, वापस मिल जाता, तो मैं फाड़ डालती।

वह इसी चिंता और ग्लानि में बैठी हुई थी कि रानीजी कमरे में आई। सोफ़िया उठ खड़ी हुई, और अपनी आँखें छिपाने के लिये ज़मीन की ओर ताकने लगी। किंतु आँसू पी जाना आसान नहीं है। रानी ने कठोर स्वर में पूछा—"सोफ़ी, क्यों रोती हो?"

जब हम अपनी भूल पर लज्जित होते हैं, तो यथार्थ बात आप-ही-आप हमारे मुँह से निकल पड़ती है। सोफ़ी हिचकती हुई बोली—"जी कुछ नहीं......मुझसे एक अपराध हो गया है, आपसे क्षमा माँगती हूँ।"

रानी ने और भी तीव्र स्वर में पूछा—"क्या बात है?"

सोफ़ी—"आज जब आप सैर करने गई थीं, तो मैं आपके कमरे में चली गई थी।"

रानी—"क्या काम था?"

सोफ़ी लज्जा से आरक्त होकर बोली—"मैंने आपकी कोई चीज़ नहीं छुई।"

रानी—"मैं तुम्हें इतना नीच नहीं समझती।"

सोफ़ी—"एक......एक पत्र देखना था।"

रानी—"विनयसिंह का?"

सोफ़िया ने सिर झुका लिया। वह अपनी दृष्टि में स्वयं इतनी पतित हो गई थी कि जी चाहता था, ज़मीन फट जाती, और मैं उसमें समा जाती। रानी ने तिरस्कार के भाव से कहा—"सोफ़ी, तुम मुझे कृतघ्न समझोगी, मगर मैंने तुम्हें अपने घर में रखकर बड़ी भूल की। ऐसी भूल मैंने कभी न की थी। मैं न जानती थी कि तुम आस्तीन का साँप बनोगी। इससे बहुत अच्छा होता कि विनय उसी दिन आग में जल गया होता। तब मुझे इतना दुःख न होता। मैं तुम्हारे आचरण को पहले न समझी। मेरी आँखों पर परदा पड़ा था। तुम जानती हो, मैंने क्यों विनय को इतनी जल्द यहाँ से भगा दिया? तुम्हारे कारण, तुम्हारे प्रेमाघातों से बचाने के लिये। लेकिन अब भी तुम भाग्य की भाँति उसका दामन नहीं छोड़तीं। आख़िर तुम उससे क्या चाहती हो? तुम्हें मालूम है, तुमसे उसका विवाह नहीं हो सकता। अगर मैं हैसियत और कुल-मर्यादा का विचार न करूँ, तो भी तुम्हारे और हमारे बीच में धर्म की दीवार खड़ी है। इस प्रेम का फल इसके सिवा और क्या होगा कि तुम अपने साथ उसे भी ले डूबोगी, और मेरी चिर-संचित अभिलाषाओं को मिट्टी में मिला दोगी? मैं विनय को ऐसा मनुष्य बनाना चाहती हूँ, जिस पर समाज को गर्व हो, जिसके हृदय में अनुराग हो, साहस हो, धैर्य हो, जो संकटों के सामने मुँह न मोड़े, जो सेवा के हेतु सदैव सिर को हथेली पर लिए रहे, जिसमें विलासिता का लेश भी न हो, जो धर्म पर अपने को मिटा दे। मैं उसे सपूत बेटा, निश्छल मित्र और निस्स्वार्थ सेवक बनाना चाहती हूँ। मुझे उसके विवाह की लालसा नहीं, अपने पोतों को गोद में खेलाने की अभिलाषा नहीं। देश में आत्मसेवी पुरुषों और संतान-सेवी माताओं का अभाव नहीं है। धरती उनके बोझ से दबी जाती है। मैं अपने बेटे को सच्चा राजपूत बनाना चाहती हूँ। आज वह किसी की रक्षा के

निमित्त अपने प्राण दे दे, तो मुझसे अधिक भाग्यवती माता संसार में न होगी। तुम मेरे इस स्वर्ण-स्वप्न को विच्छिन्न कर रही हो। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ सोफ़ी, अगर तुम्हारे उपकार के बोझ से दबी न होती, तो तुम्हें इस दशा में विष देकर मार्ग से हटा देना अपना कर्तव्य समझती। मैं राजपूतनी हूँ, मरना भी जानती हूँ, और मारना भी जानती हूँ। इसके पहले कि तुम्हें विनय से पत्र-व्यवहार करते देखूँ, मैं तुम्हारा गला घोट दूँगी। मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ, विनय को अपने प्रेम-पाश में फँसाने की चेष्टा न करो; नहीं तो इसका फल बुरा होगा। तुम्हें ईश्वर ने बुद्धि दी है: विवेक दिया है। विवेक से काम लो। मेरे कुल का सर्वनाश न करो।"

सोफ़ी ने रोते हुए कहा—"मुझे आज्ञा दीजिए, आज चली जाऊँ।"

रानी कुछ नर्म होकर बोलीं—"मैं तुम्हें जाने को नहीं कहती। तुम मेरे सिर और आँखों पर रहो, (लज्जित होकर) मेरे मुँह से इस समय जो कटु शब्द निकले हैं, उनके लिये क्षमा करो। वृद्धावस्था बड़ी अविनयशील होती है। यह तुम्हारा घर है। शौक़ से रहो। विनय अब शायद फिर न आएगा। हाँ, वह शेर का सामना कर सकता है; पर मेरे क्रोध का सामना नहीं कर सकता। वह वन-वन की पत्तियाँ तोड़ेगा; पर घर न आएगा। अगर तुम्हें उससे प्रेम है, तो अपने को उसके हित के लिये बलिदान करने को तैयार हो जाओ। अब उसकी जीवन-रक्षा का केवल एक ही उपाय है। जानती हो, वह क्या है?"

सोफ़ी ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं।"

रानी—"जानना चाहती हो?"

सोफ़ी ने सिर हिलाकर कहा—"हाँ।"

रानी—"आत्मसमर्पण के लिये तैयार हो?"

सोफ़ी ने फिर सिर हिलाकर कहा—"हाँ।"

रानी—"तो तुम किसी सुयोग्य पुरुष से विवाह कर लो। विनय को दिखा दो कि तुम उसे भूल गई, तुम्हें उसकी चिंता नहीं है। यही नैराश्य उसको बचा सकता है। हो सकता है कि यह नैराश्य उसे जीवन से विरक्त कर दे, वह ज्ञान-लाभ का आश्रय ले, जो नैराश्य का एकमात्र शरणस्थल है, पर संभावना होने पर भी इस उपाय के सिवा दूसरा अवलंब नहीं है। स्वीकार करती हो?"

सोफ़ी रानी के पैरों पर गिर पड़ी, और रोती हुई बोली—"उनके हित के लिये......कर सकती हूँ।"

रानी ने सोफ़ी को उठाकर गले लगा लिया, और करुण स्वर में बोलीं—"मैं जानती हूँ, तुम उसके लिये सब कुछ कर सकती हो। ईश्वर तुम्हें इस प्रतिज्ञा को पूरा करने का बल प्रदान करें।"

यह कहकर जाह्नवी वहाँ से चली गईं। सोफ़ी एक कोच पर बैठ गई, और दोनो हाथों से मुँह छिपाकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसका रोम-रोम ग्लानि से पीड़ित हो रहा था। उसे जाह्नवी पर क्रोध न था। उसे उन पर असीम श्रद्धा हो रही थी। कितना उच्च और पवित्र उद्देश्य है। वास्तव में मैं ही दूध की मक्खी हूँ, मुझको निकल जाना चाहिए। लेकिन रानी का अंतिम आदेश उसके लिये सबसे कड़ुवा ग्रास था। वह योगिनी बन सकती थी; पर प्रेम को कलंकित करने की कल्पना ही से उसे घृणा होती थी। उसकी दशा उस योगी की-सी थी, जो किसी बाग़ में सैर करने जाय, और फल तोड़ने के अपराध में पकड़ लिया जाय। विनय के त्याग ने उसे उनका भक्त बना दिया, भक्ति ने शीघ्र ही प्रेम का रूप धारण किया, और अब वही प्रेम उसे बलात् नारकीय अंधकार की ओर खींचे लिए जाता था। अगर वह हाथ-पैर छुड़ाती है; तो भय है—वह इसके आगे कुछ न सोच सकी। विचार-शक्ति शिथिल हो गई।

अंत में सारी चिंताएँ, सारी ग्लानि, सारा नैराश्य, सारी विडंबना एक ठंडी साँस में विलीन हो गई।

शाम हो गई थी। सोफ़िया मन-मारे उदास बैठी बाग़ की तरफ़ टकटकी लगाए ताक रही थी, मानो कोई विधवा पति-शोक में मग्न हो। सहसा प्रभु सेवक ने कमरे में प्रवेश किया।

सोफ़िया ने प्रभु सेवक से कोई बात न की। चुपचाप अपनी जगह पर मूर्तिवत् बैठी रही। वह उस दशा को पहुँच गई थी, जब सहानुभूति से भी अरुचि हो जाती है। नैराश्य की अंतिम अवस्था विरक्ति होती है।

लेकिन प्रभु सेवक अपनी नई रचना सुनाने के लिये इतने उत्सुक हो रहे थे कि सोफ़ी के चेहरे की ओर उनका ध्यान ही न गया। आते-ही-आते बोले—"सोफ़ी, देखो, मैंने आज रात को यह कविता लिखी है। ज़रा ध्यान देकर सुनना। मैंने अभी कुँअर साहब को सुनाई है। उन्हें बहुत आनंद आया।"

यह कहकर प्रभु सेवक ने मधुर स्वर में अपनी कविता सुनानी शुरू की। कवि ने मृत्युलोक के एक दुखी प्राणी के हृदय के वे भाव व्यक्त किए थे, जो तारागण को देखकर उठे थे। वह एक-एक चरण झूम-झूमकर पढ़ते थे, और उसे दो-दो, तीन-तीन बार दुहराते थे; किंतु सोफ़िया ने एक बार भी दाद न दी, मानो वह काव्य-रस-शून्य हो गई थी। जब पूरी कविता समाप्त हो गई, तो प्रभु सेवक ने पूछा—"इसके विषय में तुम्हारा क्या विचार है?"

सोफ़िया ने कहा—"अच्छी तो है।"

प्रभु सेवक—"मेरी सूक्तियों पर तुमने ध्यान नहीं दिया। तारा-गण की आज तक किसी कवि ने देवात्माओं से उपमा नहीं दी है। मुझे तो विश्वास है कि इस कविता के प्रकाशित होते ही कवि-समाज में हलचल मच जायगी।"

सोफ़िया—"मुझे तो याद आता है कि शेली और वर्ड्सवर्थ इस उपमा को पहले ही बाँध चुके हैं। यहाँ के कवियों ने भी कुछ ऐसा ही वर्णन किया है। कदाचित् ह्यूगो की एक कविता का शीर्षक भी यही है। संभव है, तुम्हारी कल्पना उन कवियों से लड़ गई हो।"

प्रभु सेवक—"मैंने काव्य-साहित्य तुमसे बहुत ज़्यादा देखा है; पर मुझे कहीं यह उपमा नहीं दिखाई दी।"

सोफ़िया—"ख़ैर, हो सकता है, मुझी को याद न होगा। कविता बुरी नहीं है।"

प्रभु सेवक—"अगर कोई दूसरा कवि यह चमत्कार दिखा दे, तो उसकी ग़ुलामी करूँ।"

सोफ़िया—"तो मैं कहूँगी, तुम्हारी निगाह में अपनी स्वाधीनता का मूल्य बहुत ज़्यादा नहीं है।"

प्रभु सेवक—"तो मैं भी यही कहूँगा कि कवित्व के रसास्वादन के लिये अभी तुम्हें बहुत अभ्यास करने की ज़रूरत है।"

सोफ़िया—"मुझे अपने जीवन में इससे अधिक महत्त्व के काम करने हैं। आजकल घर के क्या समाचार हैं?"

प्रभु सेवक—"वही पुरानी दशा चली जाती है। मैं तो आजिज़ आ गया हूँ। पापा को अपने कारख़ाने की धुन लगी हुई है, और मुझे उस काम से घृणा है। पापा और मामा, दोनो हरदम भुन-भुनाते रहते हैं। किसी का मुँह ही नहीं सीधा होता। कहीं ठिकाना नहीं मिलता, नहीं तो इस माया के घोंसले में एक दिन भी न रहता। कहाँ जाऊँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

सोफ़िया—"बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने गुणी और विद्वान् होकर भी तुम्हें अपने निर्वाह का कोई उपाय नहीं सूझता! क्या कल्पना के संसार में आत्मसम्मान का कोई स्थान नहीं है?"

प्रभु सेवक—"सोफ़ी, मैं और सब कुछ कर सकता हूँ, पर गृह-चिंता का बोझ नहीं उठा सकता। मैं निर्द्वंद्व, निश्चिन्त, निर्लिप्त रहना चाहता हूँ। एक सुरम्य उपवन में, किसी सघन वृक्ष के नीचे, पक्षियों का मधुर कलरव सुनता हुआ, काव्य-चिंतन में मग्न पड़ा रहूँ, यही मेरे जीवन का आदर्श है।"

सोफ़िया—"तुम्हारी ज़िंदगी इसी भाँति स्वप्न देखने में गुज़रेगी।"

प्रभु सेवक—"कुछ हो, चिंता से तो मुक्त हूँ, स्वच्छंद तो हूँ।"

सोफ़िया—"जहाँ आत्मा और सिद्धांतों की हत्या होती हो, वहाँ से स्वच्छंदता कोसों भागती है। मैं इसे स्वच्छंदता नहीं कहती, यह निर्लज्जता है। माता-पिता की निर्दयता कम पीड़ाजनक नहीं होती, बल्कि दूसरों का अत्याचार इतना असह्य नहीं होता, जितना माता-पिता का।"

प्रभु सेवक—"उँह, देखा जायगा, सिर पर जो आ जायगी, झेल लूँगा, मरने के पहले ही क्यों रोऊँ।"

यह कहकर प्रभु सेवक ने पाँड़ेपुर की घटना बयान की, और इतनी डींगें मारीं कि सोफ़ी चिढ़कर बोली—"रहने भी दो, एक गँवार को पीट लिया, तो कौन-सा बड़ा काम किया। अपनी कविताओं में तो अहिंसा के देवता बन जाते हो, वहाँ ज़रा-सी बात पर इतने जामे से बाहर हो गए!"

प्रभु सेवक—"गाली सह लेता?"

सोफ़िया—"जब तुम मारनेवाले को मारोगे, गाली देनेवाले को भी मारोगे, तो अहिंसा का निर्वाह कब करोगे? राह-चलते तो किसी को कोई नहीं मारता। वास्तव में किसी युवक को उपदेश करने का अधिकार नहीं है, चाहे उसकी कवित्व-शक्ति कितनी ही विलक्षण हो। उपदेश करना सिद्ध पुरुषों ही का काम है। यह नहीं कि जिसे ज़रा तुकबंदी आ गई, वह लगा शांति, संतोष और अहिंसा का

पाठ पढ़ाने। जो बात दूसरों को सिखलाना चाहते हो, वह पहले स्वयं सीख लो।"

प्रभु सेवक—"ठीक यही बात विनय ने भी अपने पत्र में लिखी है। लो, याद आ गया। यह तुम्हारा पत्र है। मुझे याद ही न रही थी। यह प्रसंग न आ जाता, तो जेब में रक्खे ही लौट जाता।"

यह कहकर प्रभु सेवक ने एक लिफ़ाफ़ा निकालकर सोफ़िया के हाथ में रख दिया। सोफ़िया ने पूछा—"आजकल कहाँ है?"

प्रभु सेवक—"उदयपुर के पहाड़ी प्रांतों में घूम रहे हैं। मेरे नाम जो पत्र आया है, उसमें तो उन्होंने साफ़ लिखा है कि मैं इस सेवा-कार्य के लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझमें उतनी सहनशीलता नहीं, जितनी होनी चाहिए। युवावस्था अनुभव-लाभ का समय है। अवस्था प्रौढ़ हो जाने पर ही सार्वजनिक कार्यों में सम्मिलित होना चाहिए। किसी युवक को सेवा-कार्य करने को भेजना वैसा ही है, जैसे किसी बच्चे वैद्य को रोगियों के कष्ट-निवारण के लिये भेजना।"

प्रभु सेवक चले गए, तो सोफ़िया सोचने लगी—"यह पत्र पढ़ूँ या न पढ़ूँ? विनय इसे रानीजी से गुप्त रखना चाहते हैं, नहीं तो यहीं के पते से न भेजते। मैंने अभी रानीजी को वचन दिया है, उनसे पत्र-व्यवहार न करूँगी। इस पत्र को खोलना उचित नहीं। रानीजी को दिखा दूँ। इससे उनके मन में मुझ पर जो संदेह है, वह दूर हो जायगा। मगर न-जाने क्या बातें लिखी हैं। संभव है, कोई ऐसी बात हो, जो रानी के क्रोध को और भी उत्तेजित कर दे। नहीं, इस पत्र को गुप्त ही रखना चाहिए। रानी को दिखाना मुनासिब नहीं।"

उसने फिर सोचा—"पढ़ने से क्या फ़ायदा, न-जाने मेरे चित्त की क्या दशा हो। मुझे अब अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा। अब इस प्रेमांकुर को जड़ से उखाड़ना ही है, तो उसे क्यों सींचूँ? इस पत्र को रानी के हवाले कर देना ही उचित है।"

सोफ़िया ने और ज़्यादा सोच-विचार न किया। शंका हुई, कहीं मैं विचलित न हो जाऊँ। चलनी में पानी नहीं ठहरता।

उसने उसी वक़्त वह पत्र ले जाकर रानी को दे दिया। उन्होंने पूछा—"किसका पत्र है? यह तो विनय की लिखावट जान पड़ती है। तुम्हारे नाम आया है न? तुमने लिफ़ाफ़ा खोला नहीं?"

सोफ़िया—"जी नहीं।"

रानी ने प्रसन्न होकर कहा—"मैं तुम्हें आज्ञा देती हूँ, पढ़ो। तुमने अपना वचन पालन किया, इससे मैं बहुत ख़ुश हुई।"

सोफ़िया—"मुझे क्षमा कीजिए।"

रानी—"मैं ख़ुशी से कहती हूँ, पढ़ो; देखो, क्या लिखते हैं?"

सोफ़िया—"जी नहीं।"

रानी ने पत्र ज्यों-का-त्यों संदूक़ में बंद कर दिया। ख़ुद भी नहीं पढ़ा। कारण, यह नीति-विरुद्ध था। तब सोफ़िया से बोलीं—"बेटी, अब मेरी तुमसे एक और याचना है। विनय को एक पत्र लिखो, और उसमें स्पष्ट लिख दो, हमारा और तुम्हारा कल्याण इसी में है कि हममें केवल भाई और बहन का संबंध रहे। तुम्हारे पत्र से यह प्रकट होना चाहिए कि तुम उनके प्रेम की अपेक्षा उनके जातीय भावों की ज़्यादा क़द्र करती हो। तुम्हारा यह पत्र मेरे और उनके पिता के हज़ारों उपदेशों से अधिक प्रभावशाली होगा। मुझे विश्वास है, तुम्हारा पत्र पाते ही उनकी चेष्टाएँ बदल जायँगी, और वह कर्तव्यमार्ग पर सुदृढ़ हो जायँगे। मैं इस कृपा के लिये जीवन-पर्यंत तुम्हारी आभारी रहूँगी।"

सोफ़ी ने कातर स्वर में कहा—"आपकी आज्ञा पालन करूँगी।"

रानी—"नहीं, केवल मेरी आज्ञा पालन करना काफ़ी नहीं है। अगर उससे यह भासित हुआ कि किसी की प्रेरणा से लिखा गया है, तो उसका असर जाता रहेगा।"

सोफ़िया—"आपको पत्र लिखकर दिखा दूँ ?"

रानी—"नहीं, तुम्हीं भेज देना।"

सोफ़िया जब वहाँ से आकर पत्र लिखने बैठी, तो उसे सूझता ही न था कि क्या लिखूँ। सोचने लगी—"वह मुझे निर्मम समझेंगे; अगर लिख दूँ, मैंने तुम्हारा पत्र पढ़ा ही नहीं, तो उन्हें कितना दुःख होगा! कैसे कहूँ कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करती ?"

वह मेज़ पर से उठ खड़ी हुई, और निश्चय किया, कल लिखूँगी। एक किताब पढ़ने लगी। भोजन का समय हो गया। नौ बज गए। अभी वह मुँह-हाथ धोकर बैठी ही थी कि उसने रानी को द्वार से अंदर की ओर झाँकते देखा। समझी, किसी काम से जा रही होंगी, फिर किताब देखने लगी। पंद्रह मिनट भी न गुज़रे थे कि रानी फिर दूसरी तरफ़ से लौटीं, और कमरे में झाँका।

सोफ़ी को उनका यों मँडलाना बहुत नागवार मालूम हुआ। उसने समझा—यह मुझे बिलकुल काठ की पुतली बनाना चाहती हैं। बस, इनके इशारों पर नाचा करूँ। इतना तो नहीं हो सका कि जब मैंने बंद लिफ़ाफ़ा उनके हाथ में रख दिया, तो मुझे ख़त पढ़कर सुना देतीं। आख़िर मैं लिखूँ क्या? नहीं मालूम, उन्होंने अपने ख़त में क्या लिखा है? सहसा उसे ध्यान आया कि कहीं मेरा पत्र उपदेश के रूप में न हो जाय। वह इसे पढ़कर शायद मुझसे चिढ़ जायँ। अपने प्रेमियों से हम उपदेश और शिक्षा की बातें नहीं, प्रेम और परितोष की बातें सुनना चाहते हैं। बड़ी कुशल हुई, नहीं तो वह मेरा उपदेश-पत्र पढ़कर न-जाने दिल में क्या समझते। उन्हें ख़याल होता, गिरजा में उपदेश सुनते-सुनते इसकी प्रेम-भावनाएँ निर्जीव हो गई हैं। अगर वह मुझे ऐसा पत्र लिखते, तो मुझे कितना बुरा मालूम होता! आह! मैंने बड़ा धोखा खाया। पहले मैंने समझा था, उनसे केवल आध्यात्मिक प्रेम करूँगी। अब

विदित हो रहा है कि आध्यात्मिक प्रेम या भक्ति केवल धर्म-जगत् ही की वस्तु है। स्त्री और पुरुष में पवित्र प्रेम होना असंभव है। प्रेम पहले उँगली पकड़कर तुरंत ही पहुँचा पकड़ता है। यह भी जानती हूँ कि यह प्रेम मुझे ज्ञान के ऊँचे आदर्श से गिरा रहा है। हमें जीवन इसलिये प्रदान किया गया है कि सद्विचारों और सत्कार्यों से उसे उन्नत करें, और एक दिन अनंत ज्योति में विलीन हो जायँ। यह भी जानती हूँ कि जीव नश्वर है, अनित्य है, और संसार के सुख भी अनित्य और नश्वर हैं। यह सब जानते हुए भी पतंग की भाँति दीपक पर गिर रही हूँ। इसीलिये तो कि प्रेम में वह विस्मृति है, जो संयम, ज्ञान और धारणा पर परदा डाल देती है। भक्तजन भी, जो आध्यात्मिक आनंद भोगते रहते हैं, वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकते। जिसे कोई बलात् खींचे लिए जाता हो, उससे कहना कि तू मत जा, कितना बड़ा अन्याय है!

पीड़ित प्राणियों के लिये रात एक कठिन तपस्या है। ज्यों-ज्यों रात गुज़रती थी, सोफ़ी की उद्विग्नता बढ़ती जाती थी। आधी रात तक मनोभावों से निरंतर संग्राम करने के बाद अंत को उसने विवश होकर हृदय के द्वार प्रेम-क्रीड़ाओं के लिये उन्मुक्त कर दिए, जैसे किसी रंगशाला का व्यवस्थापक दर्शकों की रेल-पेल से तंग आकर शाला का पट सर्वसाधारण के लिये खोल देता है। बाहर का शोर भीतर के मधुर स्वर-प्रवाह में बाधक होता है। सोफ़ी ने अपने को प्रेम-कल्पनाओं की गोद में डाल दिया। अबाध रूप से उनका आनंद उठाने लगी—

"क्यों विनय, तुम मेरे लिये क्या-क्या मुसीबतें झेलोगे? अपमान, अनादर, द्वेष, माता-पिता का विरोध, तुम मेरे लिये यह सब विपत्ति सह लोगे? लेकिन धर्म? वह देखो, तुम्हारा मुख उदास हो गया। तुम सब कुछ करोगे; पर धर्म नहीं छोड़ सकते। मेरी भी यही दशा है। मैं तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ; तिरस्कार, अपमान, निंदा, सब

कुछ भोग सकती हूँ; पर धर्म को कैसे त्याग दूँ ? ईसा का दामन कैसे छोड़ दूँ ? ईसाईयत की मुझे परवा नहीं, यह केवल स्वार्थों का संघटन है; लेकिन उस पवित्र आत्मा से क्योंकर मुँह मोड़ूँ, जो क्षमा और दया का अवतार थी ? क्या यह संभव नहीं कि मैं ईसा के दामन से लिपटी रहकर भी अपनी प्रेमाकांक्षाओं को तृप्त करूँ ? हिंदू-धर्म की उदार छाया में किसके लिये शरण नहीं ? आस्तिक भी हिंदू है, नास्तिक भी हिंदू है, ३३ करोड़ देवतों को माननेवाला भी हिंदू है। जहाँ महावीर के भक्तों के लिये स्थान है, बुद्धदेव के भक्तों के लिये स्थान है; वहाँ क्या ईसू के भक्त के लिये स्थान नहीं है ? तुमने मुझे अपने प्रेम का निमंत्रण दिया है, मैं उसे अस्वीकार क्यों करूँ ? मैं भी तुम्हारे साथ सेवा-कार्य में रत हो जाऊँगी, तुम्हारे साथ वनों में विचरूँगी, झोपड़ों में रहूँगी।

"आह, मुझसे बड़ी भूल हुई। मैंने नाहक़ वह पत्र रानीजी को दे दिया। मेरा पत्र था, मुझे उसके पढ़ने का पूरा अधिकार था। मेरे और उनके बीच प्रेम का नाता है, जो संसार के और सभी संबंधों से पवित्र और श्रेष्ठ है। मैं इस विषय में अपने अधिकार को त्यागकर विनय के साथ अन्याय कर रही हूँ। नहीं, मैं उनसे दग़ा कर रही हूँ। मैं प्रेम को कलंकित कर रही हूँ। उनके मनोभावों का उपहास कर रही हूँ। यदि वह मेरा पत्र बिना पढ़े ही फाड़कर फेंक देते, तो मुझे इतना दुःख होता कि उन्हें कभी क्षमा न करती। क्या करूँ ? जाकर रानीजी से वह पत्र माँग लूँ ? उसे देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मन में चाहे कितना ही बुरा मानें; पर मेरी अमानत मुझे अवश्य दे देंगी। वह मेरी मामा की भाँति अनुदार नहीं हैं। मगर मैं उनसे माँगूँ क्यों ? वह मेरी चीज़ है, किसी अन्य प्राणी का उस पर कोई दावा नहीं। अपनी चीज़ ले लेने के लिये मैं किसी दूसरे का एहसान क्यों उठाऊँ ?"

ग्यारह बज रहे थे। भवन में चारो तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। नौकर-चाकर सब सो गए थे। सोफ़िया ने खिड़की से बाहर बाग़ की ओर देखा। ऐसा मालूम होता था कि आकाश से दूध की वर्षा हो रही है। चाँदनी ख़ूब छिटकी हुई थी। संगमरमर की दोनो परियाँ, जो हौज़ के किनारे खड़ी थीं, उसे निस्स्वर संगीत की प्रकाशमयी प्रतिमाओं-सी प्रतीत होती थीं, जिससे सारी प्रकृति उल्लसित हो रही थी।

सोफ़िया के हृदय में प्रबल उत्कंठा हुई कि इसी क्षण चलकर अपना पत्र लाऊँ। वह दृढ़ संकल्प करके अपने कमरे से निकली, और निर्भय होकर रानीजी के दीवानख़ाने की ओर चली। वह अपने हृदय को बार-बार समझा रही थी—"मुझे भय किसका है, अपनी चीज़ लेने जा रही हूँ; कोई पूछे, तो उससे साफ़-साफ़ कह सकती हूँ। विनयसिंह का नाम लेना कोई पाप नहीं है।"

किंतु निरंतर यह आश्वासन मिलने पर भी उसके क़दम इतनी सावधानी से उठते थे कि बरामदे के पक्के फ़र्श पर भी कोई आहट न होती थी। उसकी मुखाकृति से वह अशांति झलक रही थी; जो आंतरिक दुश्चिंता का चिह्न है। वह सहमी हुई आँखों से दाहने-बाएँ आगे-पीछे ताकती जाती थी। ज़रा-सा भी कोई खटका होता, तो उसके पाँव स्वतः रुक जाते थे, और वह बरामदे के खंभों की आड़ में छिप जाती थी। रास्ते में कई कमरे थे। यद्यपि उनमें अँधेरा था, रोशनी गुल हो चुकी थी, तो भी वह दरवाज़े पर एक क्षण के लिये रुक जाती थी कि कोई उनमें बैठा न हो। सहसा एक टेरियर कुत्ता, जिसे रानीजी बहुत प्यार करती थीं, सामने से आता हुआ दिखाई दिया। सोफ़ी के रोएँ खड़े हो गए। इसने ज़रा भी मुँह खोला, और सारे घर में हलचल हुई। कुत्ते ने उसकी ओर संशंक नेत्रों से देखा, और अपने निर्णय की सूचना देना ही चाहता था कि सोफ़िया ने धीरे से उसका

नाम लिया, और उसे गोद में उठाकर उसकी पीठ सुहलाने लगी। कुत्ता दुम हिलाने लगा, लेकिन अपनी राह जाने के बदले वह सोफ़िया के साथ हो लिया। कदाचित् उसकी पशु-चेतना ताड़ रही थी कि कुछ दाल में काला ज़रूर है। इस प्रकार पाँच कमरों के बाद रानीजी का दीवानख़ाना मिला। उसके द्वार खुले हुए थे, लेकिन अंदर अँधेरा था। कमरे में बिजली के बटन लगे हुए थे। उँगलियों की एक अति सूक्ष्म गति से कमरे में प्रकाश हो सकता था। लेकिन इस समय बटन का दबाना उसे बारूद के ढेर में दियासलाई लगाने से कम भयकारक न था। प्रकाश से वह कभी इतनी भय-भीत न हुई थी। मुश्किल तो यह थी कि प्रकाश के बग़ैर वह सफल-मनोरथ भी न हो सकती थी। यही अमृत भी था, और विष भी। उसे क्रोध आ रहा था कि किवाड़ों में शीशे क्यों लगे हुए हैं? परदे हैं, वे भी इतने बारीक कि आदमी का मुँह दिखाई देता है। घर न हुआ, कोई सजी हुई दूकान हुई। बिलकुल अँगरेज़ी नक़ल है। और, रोशनी ठंडी करने की ज़रूरत ही क्या थी? इससे तो कोई बहुत बड़ी किफ़ायत नहीं हो जाती।

हम जब किसी तंग सड़क पर चलते हैं, तो हमें सवारियों का आना-जाना बहुत ही कष्टदायक जान पड़ता है। जी चाहता है कि इन रास्तों पर सवारियों के आने की रोक होनी चाहिए। हमारा अख़्तियार होता, तो इन सड़कों पर कोई सवारी न आने देते, विशेषतः मोटरों को। लेकिन उन्हीं सड़कों पर जब हम किसी सवारी पर बैठकर निकलते हैं, तो पग-पग पर पथिकों को हटाने के लिये रुकने पर झुँझलाते हैं कि ये सब पटरी पर क्यों नहीं चलते, ख़्वाम-ख़्वाह बीच में घँसे पड़ते हैं। कठिनाइयों में पड़कर परिस्थिति पर क्रुद्ध होना मानव-स्वभाव है।

सोफ़िया कई मिनट तक बिजली के बटन के पास खड़ी रही।

बटन दबाने की हिम्मत न पड़ती थी। सारे आँगन में प्रकाश फैल जायगा, लोग चौंक पड़ेंगे। अँधेरे में सोता हुआ मनुष्य भी उजाला फैलते ही जाग पड़ता है। विवश होकर उसने मेज़ को टटोलना शुरू किया। दावात लुढ़क गई, स्याही मेज़ पर फैल गई, और उसके कपड़ों पर दाग़ पड़ गए। उसे विश्वास था कि रानी ने पत्र अपने हैंडबैग में रक्खा होगा। ज़रूरी चिट्ठियाँ उसी में रखती थीं। बड़ी मुश्किल से उसे बैग मिला। वह उसमें से एक-एक पत्र निकाल-कर अँधेरे में देखने लगी। लिफ़ाफ़े अधिकांश एक ही आकार के थे, निगाहें कुछ काम न कर सकीं। आख़िर इस तरह मनोरथ पूरा न होते देखकर उसने हैंडबैग उठा लिया, और कमरे से बाहर निकली। सोचा, मेरे कमरे में अभी तक रोशनी है, वहाँ वह पत्र सहज ही में मिल जायगा। इसे लाकर फिर यहीं रख दूँगी। लेकिन लौटती बार वह इतनी सावधानी से पाँव न उठा सकी। आती बार वह पग-पग पर इधर-उधर देखती हुई आई थी। अब बड़े वेग से चली जा रही थी, इधर-उधर देखने की फ़ुरसत न थी। ख़ाली हाथ उज्र की गुंजाइश थी। रँगे हुए हाथों के लिये कोई उज्र, कोई बहाना नहीं है।

अपने कमरे में पहुँचते ही सोफ़िया ने द्वार बंद कर लिया, और परदे डाल दिए। गरमी के मारे सारी देह पसीने से तर थी, हाथ इस तरह काँप रहे थे, मानो लक़वा गिर गया हो। वह चिट्ठियों को निकाल-निकालकर देखने लगी। और, पत्रों को केवल देखना ही न था, उन्हें अपनी जगह सावधानी से रखना भी था। पत्रों का एक दफ़्तर सामने था, बरसों की चिट्ठियाँ वहाँ निर्वाण-सुख भोग रही थीं। सोफ़िया को उनकी तलाशी लेते घंटों गुज़र गए, दफ़्तर समाप्त होने को आ गया; पर वह चीज़ न मिली। उसे अब कुछ-कुछ निराशा होने लगी; यहाँ तक कि अंतिम पत्र भी उलट-पलटकर रख दिया गया। तब सोफ़िया ने एक लंबी साँस ली। उसकी दशा उस

मनुष्य की-सी थी, जो किसी मेले में अपने खोए हुए बंधु को ढूँढ़ता हो; वह चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता है, उसका नाम लेकर ज़ोर-ज़ोर से पुकारता है, उसे भ्रम होता है, वह खड़ा है, लपककर उसके पास जाता है, और लज्जित होकर लौट आता है। अंत को वह निराश होकर ज़मीन पर बैठ जाता है और रोने लगता है।

सोफ़िया भी रोने लगी। वह पत्र कहाँ गया? रानी ने तो उसे मेरे सामने ही इसी बैग में रख दिया था। उनके और सभी पत्र यहाँ मौजूद हैं। क्या उसे कहीं और रख दिया? मगर आशा उस घास की भाँति है, जो ग्रीष्म के ताप से जल जाती है, भूमि पर उसका निशान तक नहीं रहता, धरती ऐसी उज्ज्वल हो जाती है, जैसे टकसाल का नया रुपया; लेकिन पावस की बूँद पड़ते ही फिर जली हुई जड़ें पनपने लगती हैं, और उसी शुष्क स्थल पर हरियाली लहराने लगती है।

सोफ़िया की आशा फिर हरी हुई। कहीं मैं कोई पत्र छोड़ तो नहीं गई? उसने दुबारा पत्रों को पढ़ना शुरू किया, और ज़्यादा ध्यान देकर। एक-एक लिफ़ाफ़े को खोलकर देखने लगी कि कहीं रानी ने उसे किसी दूसरे लिफ़ाफ़े में रख दिया हो। जब देखा कि इस तरह तो सारी रात गुज़र जायगी, तो उन्हीं लिफ़ाफ़ों को खोलने लगी, जो भारी मालूम होते थे। अंत को यह शंका भी मिट गई। उस लिफ़ाफ़े का कहीं पता न था। अब आशा की जड़ें भी सूख गईं, पावस की बूँद न मिली।

सोफ़िया चारपाई पर लेट गई, मानो थक गई हो। सफलता में अनंत सजीवता होती है, विफलता में असह्य अशक्ति। आशा मद है, निराशा मद का उतार। नशे में हम मैदान की तरफ़ दौड़ते हैं, सचेत होकर हम घर में विश्राम करते हैं। आशा जड़ की ओर ले जाती है, निराशा चैतन्य की ओर। आशा आँखें बंद कर देती

है, निराशा आँखें खोल देती है। आशा सुलानेवाली थपकी है, निराशा जगानेवाला चाबुक।

सोफ़िया को इस वक्त अपनी नैतिक दुर्बलता पर क्रोध आ रहा था—"मैंने व्यर्थ ही अपनी आत्मा के सिर पर यह अपराध मढ़ा। क्या मैं रानी से अपना पत्र न माँग सकती थी? उन्हें उसके देने में ज़रा भी विलंब न होता। फिर मैंने वह पत्र उन्हें दिया ही क्यों? रानीजी को कहीं मेरा यह कपट व्यवहार मालूम हो गया, और अवश्य ही मालूम हो जायगा, तो वह मुझे अपने मन में क्या समझेंगी! कदाचित् मुझसे नीच और निकृष्ट कोई प्राणी न होगा।"

सहसा सोफ़िया के कानों में झाड़ू लगने की आवाज़ आई। वह चौंकी, क्या सवेरा हो गया? परदा उठाकर द्वार खोला, तो दिन निकल आया था। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया। उसने बड़ी कातर दृष्टि से हैंडबैग की ओर देखा, और मूर्ति के समान खड़ी रह गई। बुद्धि शिथिल हो गई। अपनी दशा और अपने कृत्य पर उसे ऐसा क्रोध आ रहा था कि गरदन पर छुरी फेर लूँ। कौन-सा मुँह दिखाऊँगी? रानी बहुत तड़के उठती हैं, मुझे अवश्य ही देख लेंगी। किंतु अब और हो ही क्या सकता है? भगवान्! तुम दीनों के आधार-स्तंभ हो, अब लाज तुम्हारे हाथ है। ईश्वर करे, अभी रानी न उठी हों, इसकी इस प्रार्थना में कितनी दीनता, कितनी विवशता, कितनी व्यथा, कितनी श्रद्धा और कितनी लज्जा थी! कदाचित् इतने शुद्ध हृदय से उसने कभी प्रार्थना न की होगी!

अब एक क्षण भी विलंब करने का अवसर न था। उसने बैग उठा लिया, और बाहर निकली। आत्मगौरव कभी इतना पद-दलित न हुआ होगा! उसके मुँह में कालिख लगी होती, तो भी शायद वह इस भाँति आँखें चुराती हुई न जाती! कोई भद्र पुरुष अपराधी के रूप में बेड़ियाँ पहने जाता हुआ भी इतना लज्जित न होगा!

जब वह दीवानख़ाने के द्वार पर पहुँची, तो उसका हृदय यों धड़कने लगा, मानो कोई हथौड़ा चला रहा हो। वह ज़रा देर ठिठकी, कमरे में झाँककर देखा, रानी बैठी हुई थीं। सोफ़िया की इस समय जो दशा हुई, उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। वह गड़ गई, कट गई, सिर पर बिजली गिर पड़ती, नीचे की भूमि फट जाती, तो भी कदाचित् वह इस महान् संकट के सामने उसे पुष्प-वर्षा या जल-विहार के समान सुखद प्रतीत होती। उसने ज़मीन की ओर ताकते हुए हैंडबैग चुपके से ले जाकर मेज़ पर रख दिया। रानी ने उसकी ओर उस दृष्टि से देखा, जो अंतस्तल पर शर के समान लगती है। उसमें अपमान भरा हुआ था; क्रोध न था, दया न थी, ज्वाला न थी, तिरस्कार था—विशुद्ध, सजीव और सशब्द।

सोफ़िया लौटना ही चाहती थी कि रानी ने पूछा—"क्या विनय का पत्र ढूँढ़ रही थीं?"

सोफ़िया अवाक् रह गई। मालूम हुआ, किसी ने कलेजे में बर्छी मार दी।

रानी ने फिर कहा—"उसे मैंने अलग रख दिया है, मँगवा दूँ?"

सोफ़िया ने उत्तर न दिया। उसके सिर में चक्कर-सा आने लगा। मालूम हुआ, कमरा घूम रहा है।

रानी ने तीसरा बाण चलाया—"क्या यही सत्य की मीमांसा है?"

सोफ़िया मूर्च्छित होकर फ़र्श पर गिर पड़ी।

[१४]

सोफ़िया को होश आया, तो वह अपने कमरे में चारपाई पर पड़ी हुई थी। उसके कानों में रानी के अंतिम शब्द गूँज रहे थे—"क्या यही सत्य की मीमांसा है?" वह अपने को इस समय इतनी नीच समझ रही थी कि घर का मेहतर भी उसे गालियाँ देता, तो शायद सिर न उठाती। वह वासना के हाथों इतनी परास्त हो चुकी थी कि अब उसे अपने सँभलने की कोई आशा न दिखाई देती थी। उसे भय होता था कि मेरा मन मुझसे वह सब कुछ करा सकता है, जिसकी कल्पना-मात्र से मनुष्य का सिर लज्जा से झुक जाता है। मैं दूसरों पर कितना हँसती थी, अपनी धार्मिक प्रवृत्ति पर कितना अभिमान करती थी, मैं पुनर्जन्म और मुक्ति—पुरुष और प्रकृति-जैसे गहन विषयों पर विचार करती थी, और दूसरों को इच्छा तथा स्वार्थ का दास समझकर उनका अनादर करती थी। मैं समझती थी, परमात्मा के समीप पहुँच गई हूँ, संसार की उपेक्षा करके अपने को जीवन्मुक्त समझ रही थी; पर आज मेरी सद्भक्ति का परदा फ़ाश हो गया। आह! विनय को ये बातें मालूम होंगी, तो वह अपने मन में क्या समझेंगे? कदाचित् मैं उनकी निगाहों में इतनी गिर जाऊँगी कि वह मुझसे बोलना भी पसंद न करें। मैं अभागिनी हूँ, मैंने उन्हें बदनाम किया, अपने कुल को कलंकित किया, अपनी आत्मा की हत्या की, अपने आश्रयदाताओं की उदारता को कलुषित किया। मेरे कारण धर्म भी बदनाम हो गया, नहीं तो क्या आज मुझसे यह पूछा जाता—"क्या यही सत्य की मीमांसा है?"

उसने सिरहाने की ओर देखा। अलमारियों पर धर्म-ग्रंथ सजे

हुए रक्खे थे। उन ग्रंथों की ओर ताकने की उसकी हिम्मत न पड़ी। यही मेरे स्वाध्याय का फल है! मैं सत्य की मीमांसा करने चली थी, और इस बुरी तरह गिरी कि अब उठना कठिन है।

सामने दीवार पर बुद्ध भगवान् का चित्र लटक रहा था। उनके मुख पर कितना तेज था! सोफ़िया की आँखें झुक गईं। उनकी ओर ताकते हुए उसे लज्जा आती थी। बुद्ध के अमरत्व का उसे कभी इतना पूर्ण विश्वास न हुआ था। अंधकार में लकड़ी का कुंदा भी सजीव हो जाता है। सोफ़ी के हृदय पर ऐसा ही अंधकार छाया हुआ था।

अभी नौ बजे का समय था, पर सोफ़िया को भ्रम हो रहा था कि संध्या हो रही है। वह सोचती थी— क्या मैं सारे दिन सोती रह गई, किसी ने मुझे जगाया भी नहीं! कोई क्यों जगाने लगा! यहाँ अब मेरी परवा किसे है, और क्यों हो। मैं कुलक्षणा हूँ, मेरी ज़ात से किसी का उपकार न होगा, जहाँ रहूँगी, वहीं आग लगाऊँगी। मैंने बुरी साइत में इस घर में पाँव रक्खे थे। मेरे हाथों यह घर वीरान हो जायगा, मैं विनय को अपने साथ डुबो दूँगी, माता का शाप अवश्य पड़ेगा। भगवन्, आज मेरे मन में ऐसे विचार क्यों आ रहे हैं?"

सहसा मिसेज़ सेवक कमरे में दाख़िल हुईं। उन्हें देखते ही सोफ़िया को अपने हृदय में एक जलोद्‌गार-सा उठता हुआ जान पड़ा। वह दौड़कर माता के गले से लिपट गई। यही अब उसका अंतिम आश्रय था। यहीं अब उसे वह सहानुभूति मिल सकती थी, जिसके बिना उसका जीना दूभर था; यहीं अब उसे वह विश्राम, वह शांति, वह छाया मिल सकती थी, जिसके लिये उसकी संतप्त आत्मा तड़प रही थी। माता की गोद के सिवा यह सुख-स्वर्ग और कहाँ है? माता के सिवा कौन उसे छाती से लगा सकता है, कौन उसके दिल पर मरहम रख सकता है? मा के कटु शब्द

और उसका निष्ठुर व्यवहार, सब कुछ इस सुख-लालसा के आवेग में विलुप्त हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा, ईश्वर ने मेरी दीनता पर तरस खाकर मामी को यहाँ भेजा है। माता की गोद में अपना व्यथित मस्तक रखकर एक बार फिर उसे उस बल और धैर्य का अनुभव हुआ, जिसकी याद अभी तक दिल से न मिटी थी। वह फूट-फूट रोने लगी। लेकिन माता की आँखों में आँसू न थे। वह तो मिस्टर क्लार्क के निमंत्रण का सुख-संवाद सुनाने के लिये अधीर हो रही थीं। ज्यों ही सोफ़िया के आँसू थमे, मिसेज़ सेवक ने कहा—"आज तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। मिस्टर क्लार्क ने तुम्हें अपने यहाँ निमंत्रित किया है।"

सोफ़िया ने कुछ उत्तर न दिया। उसे माता की यह बात भद्दी मालूम हुई।

मिसेज़ सेवक ने फिर कहा—"जब से तुम यहाँ आई हो, वह कई बार तुम्हारा कुशल-समाचार पूछ चुके हैं। जब मिलते हैं, तुम्हारी चर्चा ज़रूर करते हैं। ऐसा सज्जन सिविलियन मैंने नहीं देखा। उनका विवाह किसी अँगरेज़ के ख़ानदान में हो सकता है, और यह तुम्हारा सौभाग्य है कि वह अभी तक तुम्हें याद करते हैं।"

सोफ़िया ने घृणा से मुँह फेर लिया। माता की सम्मान-लोलुपता असह्य थी। न मुहब्बत की बातें हैं, न आश्वासन के शब्द, न ममता के उद्गार। कदाचित् प्रभु मसीह ने भी निमंत्रित किया होता, तो यह इतनी प्रसन्न न होतीं।

मिसेज़ सेवक बोलीं—"अब तुम्हें इनकार न करना चाहिए। विलंब से प्रेम ठंडा हो जाता है, और फिर उस पर कोई चोट नहीं पड़ सकती। ऐसा स्वर्ण-सुयोग फिर न हाथ आएगा। एक विद्वान् ने कहा है—'प्रत्येक प्राणी को जीवन में केवल एक बार अपने भाग्य की परीक्षा का अवसर मिलता है, और वही भविष्य का

निर्णय कर देता है।' तुम्हारे जीवन में यह वही अवसर है। इसे छोड़ दिया, तो फिर हमेशा पछताओगी।"

सोफ़िया ने व्यथित होकर कहा—"अगर मिस्टर क्लार्क ने मुझे निमंत्रित न किया होता, तो शायद आप मुझे याद भी न करतीं!"

मिसेज़ सेवक ने अवरुद्ध कंठ से कहा—"मेरे मन में जो कुछ है, वह तो ईश्वर ही जानता है; पर ऐसा कोई दिन नहीं जाता कि मैं तुम्हारे और प्रभु के लिये ईश्वर से प्रार्थना न करती होऊँ। यह उन्हीं प्रार्थनाओं का शुभ फल है कि तुम्हें यह अवसर मिला है।"

यह कहकर मिसेज़ सेवक जाह्नवी से मिलने गईं। रानी ने उनका विशेष आदर न किया। अपनी जगह पर बैठे-बैठे बोलीं—"आपके दर्शन तो बहुत दिनों के बाद हुए।"

मिसेज़ सेवक ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"अभी मेरी वापसी की मुलाक़ात आपके ज़िम्मे बाक़ी है।"

रानी—"आप मुझसे मिलने आईं ही कब? पहले भी सोफ़िया से मिलने आई थीं, और आज भी। मैं तो आज आपको एक ख़त लिखनेवाली थी, अगर बुरा न मानिए, तो एक बात पूछूँ।"

मिसेज़ सेवक—"पूछिए, बुरा क्यों मानूँगी।"

रानी—"मिस सोफ़िया की उम्र तो ज़्यादा हो गई, आपने उसकी शादी की कोई फ़िक्र की या नहीं? अब तो उसका जितनी जल्दी विवाह हो जाय; उतना ही अच्छा। आप लोगों में लड़कियाँ बहुत सयानी होने पर ब्याही जाती हैं।"

मिसेज़ सेवक—"इसकी शादी कब की हो गई होती, कई अँगरेज़ बेतरह पीछे पड़े; लेकिन यह राज़ी ही नहीं होती। इसे धर्म-ग्रंथों से इतनी रुचि है कि विवाह को जंजाल समझती है। आजकल जिलाधीश मिस्टर क्लार्क के पैग़ाम आ रहे हैं। देखूँ, अब भी राज़ी होती है या नहीं। आज मैं उसे ले जाने ही के इरादे से आई हूँ।

मैं हिंदोस्तानी ईसाइयों से नाते नहीं जोड़ना चाहती। उनका रहन-सहन मुझे पसंद नहीं है, और सोफ़ी-जैसी सुशिक्षिता लड़की के लिये कोई अँगरेज़ पति मिलने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।"

जाह्नवी—"मेरे विचार में विवाह सदैव अपने स्वजातियों में करना चाहिए। योरपियन लोग हिंदुस्थानी ईसाइयों का बहुत आदर नहीं करते, और अनमेल विवाहों का परिणाम अच्छा नहीं होता।"

मिसेज़ सेवक—(गर्व के साथ) "ऐसा कोई योरपियन नहीं है, जो मेरे ख़ानदान में विवाह करना मर्यादा के विरुद्ध समझे। हम और वे एक हैं। हम और वे एक ही ख़ुदा को मानते हैं, एक ही गिरजा में प्रार्थना करते हैं, और एक ही नबी के अनुचर हैं। हमारा और उनका रहन-सहन, खान-पान, रीति-व्यवहार एक है। यहाँ अँगरेज़ों के समाज में, क्लब में, दावतों में हम रा एक-सा सम्मान होता है। अभी तीन-चार दिन हुए, लड़कियों को इनाम देने का जलसा था। मिस्टर क्लार्क ने ख़ुद मुझे उस जलसे का प्रधान बनाया, और मैंने ही इनाम बाँटे। किसी हिंदू या मुसलमान लेडी को यह सम्मान न प्राप्त हो सकता था।"

रानी—"हिंदू या मुसलमान, जिन्हें कुछ भी अपने जातीय गौरव का ख़याल है, अँगरेज़ों के साथ मिलना जुलना अपने लिये सम्मान की बात नहीं समझते। यहाँ तक कि हिंदुओं में जो लोग अँगरेज़ों से खान-पान रखते हैं, उन्हें लोग अपमान की दृष्टि से देखते हैं, शादी-विवाह का तो कहना ही क्या। राजनीतिक प्रभुत्व की बात और है। डाकुओं का एक दल विद्वानों की एक सभा को बहुत आसानी से परास्त कर सकता है। लेकिन इससे विद्वानों का महत्त्व कुछ कम नहीं होता। प्रत्येक हिंदू जानता है कि मसीह बौद्ध-काल में यहाँ आए थे, यहीं उनकी शिक्षा हुई थी, और जो ज्ञान

उन्होंने यहाँ प्राप्त किया, उसी का पच्छिम में प्रचार किया। फिर कैसे हो सकता है कि हिंदू अँगरेज़ों को श्रेष्ठ समझें।"

दोनो महिलाओं में इसी तरह नोक-झोंक होती रही। दोनो एक दूसरे को नीचा दिखाना चाहती थीं; दोनो एक दूसरे के मनोभावों को समझती थीं। कृतज्ञता या धन्यवाद के शब्द किसी के मुँह से न निकले। यहाँ तक कि जब मिसेज़ सेवक बिदा होने लगीं, तो रानी उनको पहुँचाने के लिये कमरे के द्वार तक भी न आईं। अपनी जगह पर बैठे-बैठे हाथ बढ़ा दिया, और अभी मिसेज़ सेवक कमरे ही में थीं कि अपना समाचार-पत्र पढ़ने लगीं।

मिसेज़ सेवक सोफ़िया के पास आईं, तो वह तैयार थी। किताबों के गट्ठर बँधे हुए थे। कई दासियाँ इधर-उधर इनाम के लालच में खड़ी थीं। मन में प्रसन्न थीं, किसी तरह यह बला टली। सोफ़िया बहुत उदास थी। इस घर को छोड़ते हुए उसे दुःख हो रहा था। उसे अपने उद्दिष्ट स्थान का पता न था। उसे कुछ न मालूम था कि तक़दीर कहाँ ले जायगी, क्या-क्या विपत्तियाँ झेलनी पड़ेंगी, जीवन-नौका किस घाट लगेगी। उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि विनय-सिंह से फिर न मुलाक़ात होगी, उनसे सदा के लिये बिछुड़ रही हूँ। रानी की अपमान-भरी बातें, उनकी भर्त्सना और अपनी भ्रांति, सब कुछ भूल गई। हृदय के एक-एक तार से यही ध्वनि निकल रही थी—"अब विनय से फिर भेंट न होगी।"

मिसेज़ सेवक बोलीं—"कुँअर साहब से भी मिल लूँ।"

सोफ़िया डर रही थी कि कहीं मामी को रात की घटना की ख़बर न मिल जाय, कुँअर साहब कहीं दिल्लगी-ही-दिल्लगी में कह न डालें। बोली—"उनसे मिलने में देर होगी, फिर मिल लीजिएगा।"

मिसेज़ सेवक—"फिर किसे इतनी फ़ुर्सत है!"

दोनो कुँअर साहब के दीवानख़ाने में पहुँचीं। यहाँ इस वक्त

स्वयंसेवकों की भीड़ लगी हुई थी। गढ़वाल-प्रांत में दुर्भिक्ष का प्रकोप था। न अन्न था, न जल। जानवर मरे जाते थे, पर मनुष्यों को मौत भी न आती थी; एड़ियाँ रगड़ते थे, सिसकते थे। यहाँ से पचास स्वयंसेवकों का एक दल पीड़ितों का कष्ट निवारण करने के लिये जानेवाला था। कुँअर साहब इस वक्त उन लोगों को छाँट रहे थे, उन्हें ज़रूरी बातें समझा रहे थे। डॉक्टर गंगुली ने इस वृद्धावस्था में भी इस दल का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। दोनो आदमी इतने व्यस्त थे कि मिसेज़ सेवक की ओर किसी ने ध्यान न दिया। आख़िर वह बोलीं—"डॉक्टर साहब, आपका कब जाने का विचार है?"

कुँअर साहब ने मिसेज़ सेवक की तरफ़ देखा, और बड़े तपाक से आगे बढ़कर हाथ मिलाया, कुशल-समाचार पूछा, और ले जाकर एक कुर्सी पर बैठा दिया। सोफ़िया मा के पीछे जाकर खड़ी हो गई।

कुँअर साहब—"ये लोग गढ़वाल जा रहे हैं। आपने पत्रों में देखा होगा, वहाँ लोगों पर कितना घोर संकट पड़ा हुआ है!"

मिसेज़ सेवक—"ख़ुदा इन लोगों का उद्योग सफल करे।। इनके त्याग की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। मैं देखती हूँ, यहाँ इनकी ख़ासी तादाद है।"

कुँअर साहब—"मुझे इतनी आशा न थी, विनय की बातों पर विश्वास न होता था। सोचता था, इतने वालंटियर कहाँ मिलेंगे। सभी को नवयुवकों के निरुत्साह का रोना रोते हुए देखता था। इनमें जोश नहीं है, त्याग नहीं है, जान नहीं है, सब अपने स्वार्थ-चिंतन में मतवाले हो रहे हैं। कितनी ही सेवा-समितियाँ स्थापित हुईं; पर एक भी पनप न सकी। लेकिन अब मुझे अनुभव हो रहा है कि लोगों को हमारे नवयुवकों के विषय में कितना भ्रम हुआ था। अब तक तीन सौ नाम दर्ज हो चुके हैं। कुछ लोगों ने आजीवन सेवा-

धर्म पालन करने का व्रत लिया है। इनमें कई आदमी तो हज़ारों रुपए माहवार की आय पर लात मारकर आए हैं। इन लोगों का सत्साहस देखकर मैं बहुत आशावादी हो गया हूँ।"

मिसेज़ सेवक—"मिस्टर क्लार्क कल आपकी बहुत प्रशंसा कर रहे थे। ईश्वर ने चाहा, तो आप शीघ्र ही सी० आई० ई० होंगे, और मुझे आपको बधाई देने का अवसर मिलेगा।"

कुँअर साहब—(लजाते हुए) "मैं इस सम्मान के योग्य नहीं हूँ। मिस्टर क्लार्क मुझे इस योग्य समझते हैं, तो वह उनकी कृपा-दृष्टि है। मिस सेवक, तैयार रहना, कल ३ बजे के मेल से ये लोग सिधारेंगे। प्रभु ने भी आने का वादा किया है।"

मिसेज़ सेवक—"सोफ़ी तो आज घर आ रही है। (मुस्किराकर) शायद आपको जल्द ही इसका कन्यादान देना पड़े। (धीरे से) मिस्टर क्लार्क जाल फैला रहे हैं।"

सोफ़िया शर्म से गड़ गई। उसे अपनी माता के ओछेपन पर क्रोध आ रहा था—"इस बात का ढिंढोरा पीटने की क्या ज़रूरत है? क्या यह समझती हैं कि मि० क्लार्क का नाम लेने से कुँअर साहब रोब में आ जायँगे?"

कुँअर साहब—"बड़ी ख़ुशी की बात है। सोफ़ी, देखो, हम लोगों की ओर विशेषतः अपने ग़रीब भाइयों को भूल न जाना। तुम्हें परमात्मा ने जितनी सहृदयता प्रदान की है, वैसा ही अच्छा अवसर भी मिल रहा है। हमारी शुभेच्छाएँ सदैव तुम्हारे साथ रहेंगी। तुम्हारे एहसान से हमारी गरदन सदा दबी रहेगी। कभी-कभी हम लोगों को याद करती रहना। मुझे पहले न मालूम था; नहीं तो आज इंदु को अवश्य बुला भेजता। ख़ैर, देश की दशा तुम्हें मालूम है। मिस्टर क्लार्क बहुत ही होनहार आदमी हैं। एक दिन ज़रूर यह इस देश के किसी प्रांत के विधाता होंगे। मैं विश्वास के साथ यह

भविष्यवाणी कर सकता हूँ। उस वक़्त तुम अपने प्रभाव, योग्यता और अधिकार से देश को बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकोगी। तुमने अपने स्वदेशवासियों की दशा देखी है, उनकी दरिद्रता का तुम्हें पूर्ण अनुभव है। इस अनुभव का, उनकी सेवा और सुधार में, सद्व्यय करना।"

सोफ़िया मारे शर्म के कुछ बोल न सकी। उसकी मा ने कहा—"आप रानीजी को ज़रूर साथ लाइएगा। मैं कार्ड भेजूँगी।"

कुँअर साहब—"नहीं मिसेज़ सेवक, मुझे क्षमा कीजिएगा। मुझे खेद है कि मैं उस उत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा। मैंने व्रत कर लिया है कि राज्याधिकारियों से कोई संपर्क न रक्खूँगा। हाकिमों की कृपा-दृष्टि, ज्ञात या अज्ञात रूप से, हम लोगों को आत्मसेवी और निरंकुश बना देती है। मैं अपने को इस परीक्षा में नहीं डालना चाहता; क्योंकि मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है। मैं अपनी जाति में राजा और प्रजा तथा छोटे और बड़े का विभेद नहीं करना चाहता। हम सब प्रजा हैं, राजा है वह भी प्रजा है, रंक है वह भी प्रजा है। झूठे अधिकार के गर्व से अपने सिर को नहीं फिराना चाहता।"

मिसेज़ सेवक—"ख़ुदा ने आपको राजा बनाया है। राजों ही के साथ तो राजा का मेल हो सकता है। अँगरेज़ लोग बाबुओं को मुँह नहीं लगाते; क्योंकि इससे यहाँ के राजों का अपमान होता है।"

डॉ० गंगुली—"मिसेज़ सेवक, यह बहुत दिनों तक राजा रह चुका है, अब इसका जी भर गया है। मैं इसका बचपन का साथी हूँ। हम दोनों साथ-साथ पढ़ते थे। देखने में यह मुझसे छोटा मालूम होता है, पर कई साल बड़ा है।"

मिसेज़ सेवक—(हँसकर) "डॉक्टर के लिये यह तो कोई गर्व की बात नहीं है।"

डॉ० गंगुली—"हम दूसरों का दवा करना जानता है, अपना दवा करना नहीं जानता। कुँअर साहब उसी वक़्त से Pessimist है। उसी Pessimism ने इसकी शिक्षा में बाधा डाली। अब भी इसका वही हाल है। हाँ, अब थोड़ा फेरफार हो गया है। पहले कर्म से भी निराशावादी था, और वचन से भी। अब इसके वचन और कर्म में सादृश्य नहीं है। वचन से तो अब भी Pessimist है; पर काम वह करता है; जिसे कोई पक्का Optimist ही कर सकता है।"

कुँअर साहब—"गंगुली, तुम मेरे साथ अन्याय कर रहे हो। मुझमें आशावादिता के गुण ही नहीं हैं। आशावादी परमात्मा का भक्त होता है, पक्का ज्ञानी, पूर्ण ऋषि। उसे चारो ओर परमात्मा ही की ज्योति दिखाई देती है। इसी से उसे भविष्य पर अविश्वास नहीं होता। मैं आदि से भोग-विलास का दास रहा हूँ; वह दिव्य ज्ञान न प्राप्त कर सका, जो आशावादिता की कुंजी है। मेरे लिये pessimism के सिवा और कोई मार्ग नहीं है। मिसेज़ सेवक, डॉक्टर महोदय के जीवन का सार है—'आत्मोत्सर्ग।' इन पर जितनी विपत्तियाँ पड़ीं, वे किसी ऋषि को भी नास्तिक बना देतीं। जिस प्राणी के सात बेटे जवान हो-होकर दाग़ दे जायँ, पर वह अपने कर्तव्य-मार्ग से ज़रा भी विचलित न हो, ऐसा उदाहरण विरला ही कहीं मिलेगा। इनकी हिम्मत तो टूटना जानती ही नहीं, आपदाओं की चोटें इन्हें और भी ठोस बना देती हैं। मैं साहस-हीन, पौरुष-हीन प्राणी हूँ। मुझे यक़ीन नहीं आता कि कोई शासक जाति शासितों के साथ न्याय और साम्य का व्यवहार कर सकती है। मानव-चरित्र को मैं किसी देश में, किसी काल में, इतना निष्काम नहीं पाता। जिस राष्ट्र ने एक बार अपनी स्वाधीनता खो दी, वह फिर उस पद को नहीं पा सकता। दासता ही उसकी तक़दीर हो जाती

है। किंतु हमारे डॉक्टर बाबू मानव-चरित्र को इतना स्वार्थी नहीं समझते। इनका मत है कि हिंसक पशुओं के हृदय में भी अनंत ज्योति की किरणें विद्यमान रहती हैं, केवल परदे को हटाने की ज़रूरत है। मैं अँगरेज़ों की तरफ़ से निराश हो गया हूँ, इन्हें विश्वास है कि भारत का उद्धार अँगरेज़-जाति ही के द्वारा होगा।"

मिसेज़ सेवक—(रुखाई से) "तो क्या आप यह नहीं मानते कि अँगरेज़ों ने भारत के लिये जो कुछ किया है, वह शायद ही किसी जाति ने किसी जाति या देश के साथ किया हो ?"

कुँअर साहब—"नहीं, मैं यह नहीं मानता।"

मिसेज़ सेवक—(आश्चर्य से) "शिक्षा का इतना प्रचार और भी किसी काल में हुआ था ?"

कुँअर साहब—"मैं उसे शिक्षा ही नहीं कहता, जो मनुष्य को स्वार्थ का पुतला बना दे।"

मिसेज़ सेवक— रेल, तार, जहाज़, डाक, ये सब विभूतियाँ अँगरेज़ों ही के साथ आईं।"

कुँअर साहब—"अँगरेज़ों के बग़ैर भी आ सकती थीं, और अगर आई भी हैं, तो अधिकतर अँगरेज़ों ही के लाभ के लिये।"

मिसेज़ सेवक—"ऐसा न्याय-विधान पहले कभी न था।"

कुँअर साहब—"ठीक है, ऐसा न्याय-विधान कहाँ था, जो अन्याय को न्याय और असत्य को सत्य सिद्ध कर दे। यह न्याय नहीं, न्याय का गोरख-धंधा है।"

सहसा रानी जाह्नवी कमरे में आईं। सोफ़िया का चेहरा उन्हें देखते ही सूख गया। वह कमरे के बाहर निकल आई, रानी के सामने खड़ी न रह सकी। मिसेज़ सेवक को भी शंका हुई कि कहीं चलते-चलते रानी से फिर न विवाद हो जाय। वह भी बाहर चली आईं। कुँअर साहब ने दोनो को फ़िटन पर सवार कराया। सोफ़िया

ने सजल नेत्रों से कर जोड़कर कुँअरजी को प्रणाम किया। फ़िटन चली। आकाश पर काली घटा छाई हुई थी, फ़िटन सड़क पर तेज़ी से दौड़ी चली जाती थी, और सोफ़िया बैठी रो रही थी।

उसकी दशा उस बालक की-सी थी, जो रोटी खाता हुआ मिठाई-वाले की आवाज़ सुनकर उसके पीछे दौड़े, ठोकर खाकर गिर पड़े, पैसा हाथ से निकल जाय, और वह रोता हुआ घर लौट आवे।

[१५]

राजा महेंद्रकुमारसिंह यद्यपि सिद्धांत के विषय में अधिकारियों से जौ-भर भी न दबते थे; पर गौण विषयों में वह अनायास उनसे विरोध करना व्यर्थ ही नहीं, जाति के लिये अनुपयुक्त भी समझते थे। उन्हें शांत नीति पर जितना विश्वास था, उतना उग्र नीति पर न था, विशेषतः इसलिये कि वह वर्तमान परिस्थिति में जो कुछ सेवा कर सकते थे, वह शासकों के विश्वास-पात्र होकर ही कर सकते थे। अतएव कभी-कभी उन्हें विवश होकर ऐसी नीति का अवलंबन करना पड़ता था, जिससे उग्र नीति के अनुयायियों को उन पर उँगली उठाने का अवसर मिलता था। उनमें यदि कोई कमज़ोरी थी, तो यह कि वह सम्मान-लोलुप मनुष्य थे; और ऐसे अन्य मनुष्यों की भाँति वह बहुधा औचित्य की दृष्टि से नहीं, ख्याति-लाभ की दृष्टि से अपने आचरण का निश्चय करते थे। पहले उन्होंने न्याय-पक्ष लेकर जॉन सेवक को सूरदास की ज़मीन दिलाने से इनकार कर दिया था; पर अब उन्हें इसके विरुद्ध आचरण करने के लिये बाध्य होना पड़ रहा था। अपने सहवर्गियों को समझाने के लिये तो पाँड़ेपुरवालों का ताहिरअली के घर में घुसने पर उद्यत होना ही काफ़ी था; पर यथार्थ में जॉन सेवक और मिस्टर क्लार्क की पारस्परिक मैत्री ने ही उन्हें अपना फ़ैसला पलट देने को प्रेरित किया था। पर अभी तक उन्होंने बोर्ड में इस प्रस्ताव को उपस्थित न किया था। यह शंका होती थी कि कहीं लोग मुझे एक धनी व्यापारी के साथ पक्षपात करने का दोषी न ठहराने लगें। उनकी आदत थी कि बोर्ड में कोई प्रस्ताव रखने के पहले वह हिंदु

से, और इंदु न होती, तो अपने किसी इष्ट-मित्र से परामर्श कर लिया करते थे ; उनके सामने अपना पक्ष समर्थन करके, उनकी शंकाओं का समाधान करने का प्रयास करके, अपना इतमीनान कर लेते थे। यद्यपि उनके निश्चय में इस तर्क-युद्ध से कोई अंतर न पड़ता, वह अपने पक्ष पर स्थिर रहते ; पर घंटे-दो-घंटे के विचार-विनिमय से उनको बड़ा आश्वासन मिलता था।

तीसरे पहर का समय था। समिति के सेवक गढ़वाल जाने के लिये स्टेशन पर जमा हो रहे थे। इंदु ने गाड़ी तैयार करने का हुक्म दिया। यद्यपि बादल घिरा हुआ था, और प्रतिक्षण गगन श्याम-वर्ण हुआ जाता था, किंतु सेवकों को बिदा करने के लिये स्टेशन पर जाना ज़रूरी था। जाह्नवी ने उसे बहुत आग्रह करके बुलाया था। वह जाने को तैयार ही थी कि राजा साहब अंदर आए, और इंदु को कहीं जाने को तैयार देखकर बोले—"कहाँ जाती हो, बादल घिरा हुआ है।"

इंदु—"समिति के लोग गढ़वाल जा रहे हैं। उन्हें बिदा करने स्टेशन जा रही हूँ। अम्माजी ने बुलाया भी है।"

राजा—"पानी अवश्य बरसेगा।"

इंदु—"परदा डाल दूँगी, और भीग भी गई, तो क्या। आख़िर वे भी तो आदमी ही हैं, जो लोक-सेवा के लिये इतनी दूर जा रहे हैं।"

राजा—"न जाओ, तो कोई हरज है ? स्टेशन पर भीड़ बहुत होगी।"

इंदु—"हरज क्या होगा, मैं जाऊँ, या न जाऊँ, वे लोग तो जायँगे ही, पर दिल नहीं मानता। वे लोग घर-बार छोड़कर जा रहे हैं, न-जाने क्या-क्या कष्ट उठाएँगे, न-जाने कब लौटेंगे, मुझसे इतना भी न हो कि उन्हें बिदा कर आऊँ ? आप भी क्यों नहीं चलते ?"

राजा—(विस्मित होकर) "मैं ?"

इंदु—"हाँ-हाँ, आपके जाने में कोई हरज है ?"

राजा—"मैं ऐसी संस्थाओं में सम्मिलित नहीं होता !"

इंदु—कैसी संस्थाओं में ?"

राजा—ऐसी ही संस्थाओं में !"

इंदु—"क्या सेवा-समितियों से सहानुभूति रखना भी आपत्ति-जनक है ? मैं तो समझती हूँ, ऐसे शुभ कार्यों में भाग लेना किसी के लिये भी लज्जा या आपत्ति की बात नहीं हो सकती।"

राजा—"तुम्हारी समझ में और मेरी समझ में बड़ा अंतर है। याद मैं बोर्ड का प्रधान न होता, यदि मैं शासन का एक अंग न होता, अगर मैं एक रियासत का स्वामी न होता, तो स्वच्छंदता से प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में भाग लेता। वर्तमान स्थिति में मेरा किसी संस्था में भाग लेना इस बात का प्रमाण समझा जायगा कि राज्याधिकारियों को उससे सहानुभूति है। मैं यह भ्रांति नहीं फैलाना चाहता। सेवा-समिति युवकों का दल है, और यद्यपि इस समय उसने सेवा का आदर्श अपने सामने रक्खा है, और वह सेवा-पथ पर ही चलने की इच्छा रखती है, पर अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि सेवा और उपकार बहुधा ऐसे रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें कोई शासन स्वीकार नहीं कर सकता, और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसे उसका मूलोच्छेद करने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। मैं इतना बड़ा उत्तरदायित्व अपने सिर नहीं लेना चाहता।"

इंदु—"तो आप इस पद को त्याग क्यों नहीं देते ? अपनी स्वाधीनता का क्यों बलिदान करते हैं ?"

राजा—"केवल इसलिये कि मुझे विश्वास है कि नगर का प्रबंध जितनी सुंदरता से मैं कर सकता हूँ, और कोई नहीं कर सकता। नगर-सेवा का ऐसा अच्छा और दुर्लभ अवसर पाकर मैं अपनी

स्वच्छंदता की ज़रा भी परवा नहीं करता। मैं एक राज्य का अधीश हूँ, और स्वभावतः मेरी सहानुभूति सरकार के साथ है। जनवाद और साम्यवाद को संपत्ति से वैर है। मैं उस समय तक साम्य-वादियों का साथ न दूँगा, जब तक मन में यह निश्चय न कर लूँ कि अपनी संपत्ति त्याग दूँगा। मैं वचन से साम्यवाद का अनुयायी बनकर कर्म से उसका विरोधी नहीं बनना चाहता। कर्म और वचन में इतना घोर विरोध मेरे लिये असह्य है। मैं उन लोगों को धूर्त और पाखंडी समझता हूँ, जो अपनी संपत्ति को भोगते हुए साम्य की दुहाई देते फिरते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि साम्यदेव के पुजारी बनकर वह किस मुँह से विशाल प्रासादों में रहते हैं, मोटर-बोटों में जल-क्रीड़ा करते हैं, और संसार के सुखों का दिल खोलकर उपभोग करते हैं। अपने कमरे से फ़र्श हटा देना और सादे वस्त्र पहन लेना ही साम्यवाद नहीं है। यह निर्लज्ज धूर्तता है, खुला हुआ पाखंड है। अपनी भोजनशाला के बचे-खुचे टुकड़ों को ग़रीबों के सामने फेंक देना साम्यवाद को मुँह चिढ़ाना, उसे बदनाम करना है।"

यह कटाक्ष कुँअर साहब पर था। इंदु समझ गई। त्योरियाँ बदल गईं; किंतु उसने ज़ब्त किया, और इस अप्रिय प्रसंग को समाप्त करने के लिये बोली—"मुझे देर हो रही है, तीन बजनेवाले हैं, साढ़े तीन पर गाड़ी छूटती है, अम्माजी से मुलाक़ात हो जायगी, विनय का कुशल-समाचार भी मिल जायगा। एक पंथ दो काज होगा।"

राजा साहब—"जिन कारणों से मेरा जाना अनुचित है, उन्हीं कारणों से तुम्हारा जाना भी अनुचित है। तुम जाओ या मैं जाऊँ एक ही बात है।"

इंदु उसी पाँव अपने कमरे में लौट आई, और सोचने लगी—"यह अन्याय नहीं, तो और क्या है? घोर अत्याचार! कहने को

रानी हूँ, लेकिन इतना अख़्तियार भी नहीं कि घर से बाहर जा सकूँ। मुझसे तो लौंडियाँ ही अच्छी हैं।" चित्त बहुत खिन्न हुआ, आँखें सजल हो गईं। घंटी बजाई, और लौंडी से कहा—"गाड़ी खुलवा दे, मैं स्टेशन न जाऊँगी।"

महेंद्रकुमार भी उसके पीछे-पीछे कमरे में आकर बोले—"कहीं सैर क्यों नहीं कर आती?"

इंदु—"नहीं, बादल घिरा हुआ है, भीग जाऊँगी।"

राजा साहब—"क्या नाराज़ हो गईं?"

इंदु—"नाराज़ क्यों हूँ। आपके हुक्म की लौंडी हूँ। आपने कहा, मत जाओ, न जाऊँगी।"

राजा साहब—"मैं तुम्हें विवश नहीं करना चाहता। यदि मेरी शंकाओं को जान लेने के बाद भी तुम्हें वहाँ जाने में कोई आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती, तो शौक़ से जाओ। मेरा उद्देश्य केवल तुम्हारी सद्बुद्धि को प्रेरित करना था। मैं न्याय के बल से रोकना चाहता हूँ, आज्ञा के बल से नहीं। बोलो, अगर तुम्हारे जाने से मेरी बदनामी हो, तो तुम जाना चाहोगी?"

यह चिड़िया के पर काटकर उसे उड़ाना था। इंदु ने उड़ने की चेष्टा ही न की। इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता था—"कदापि नहीं, यह मेरे धर्म के प्रतिकूल है।" किंतु इंदु को अपनी परवशता इतनी अखर रही थी कि उसने इस प्रश्न को सुना ही नहीं, या सुना भी, तो उस पर ध्यान न दिया। उसे ऐसा जान पड़ा, यह मेरे जले पर नमक छिड़क रहे हैं। अम्मा अपने मन में क्या कहेंगी? मैंने बुलाया, और नहीं आई! क्या दौलत की हवा लगी? कैसे क्षमा-याचना करूँ? यदि लिखूँ, अस्वस्थ हूँ, तो वह एक क्षण में यहाँ आ पहुँचेंगी, और मुझे लज्जित होना पड़ेगा। आह! अब तक तो वहाँ पहुँच गई होती। प्रभु सेवक ने बड़ी प्रभावशाली

कविता लिखी होगी। दादाजी का उपदेश भी मार्के का होगा। एक-एक शब्द अनुराग और प्रेम में डूबा होगा। सेवक-दल वर्दी पहने कितना सुंदर लगता होगा!

इन कल्पनाओं ने इंदु को इतना उत्सुक किया कि वह दुराग्रह करने को उद्यत हो गई। मैं तो जाऊँगी। बदनामी नहीं, पत्थर होगी। ये सब मुझे रोक रखने के बहाने हैं। तुम डरते हो, डरो; अपने कर्मों के फल भोगो; मैं क्यों डरूँ? मन में यह निश्चय करके उसने निश्चयात्मक रूप से कहा—"आपने मुझे जाने की आज्ञा दे दी है, मैं जाती हूँ।"

राजा ने भग्न-हृदय होकर कहा—"तुम्हारी इच्छा, जाना चाहती हो, शौक़ से जाओ।"

इंदु चली गई, तो राजा साहब सोचने लगे—"स्त्रियाँ कितनी निठुर, कितनी स्वच्छंदताप्रिय, कितनी मानशील होती हैं! चली जा रही है, मानो मैं कुछ हूँ ही नहीं, इसकी ज़रा भी चिंता नहीं कि हुक्काम के कानों तक यह बात पहुँचेगी, तो वह मुझे क्या कहेंगे। समाचार-पत्रों के संवाददाता यह वृत्तांत अवश्य ही लिखेंगे, और उपस्थित महिलाओं में चतारी की रानी का नाम मोटे अक्षरों में लिखा हुआ नज़र आएगा। मैं जानता कि इतना हठ करेगी, तो मना ही क्यों करता, ख़ुद भी साथ जाता। एक तरफ़ बदनाम होता, तो दूसरी ओर तो बखान होता। अब तो दोनो ओर से गया। इधर भी बुरा बना, उधर भी बुरा बना। आज मालूम हुआ कि स्त्रियों के सामने कोरी साफ़गोई नहीं चलती, वे लल्लो-चप्पो ही से राज़ी रहती हैं।"

इंदु स्टेशन की तरफ़ चली; पर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती थी, उसका दिल एक बोझ से दबा जाता था। मैदान में जिसे हम विजय कहते हैं, घर में उसी का नाम अविनयशीलता, निष्ठुरता और अभद्रता है। इंदु को इस विजय पर गर्व न था, अपने हठ का खेद

था। सोचती जाती थी—"वह मुझे अपने मन में कितनी अभिमानिनी समझ रहे होंगे। समझते होंगे, जब यह ज़रा-ज़रा-सी बातों में यों आँखें फेर लेती है, ज़रा-ज़रा-से मतभेद में यों लड़ने पर उतारू हो जाती है, तो किसी कठिन अवसर पर इससे सहानुभूति की क्या आशा की जा सकती है। अम्माजी यह हाल सुनेंगी, तो मुझी को बुरा कहेंगी। निस्संदेह मुझसे भूल हुई। लौट चलूँ, और उनसे अपना अपराध क्षमा कराऊँ। मेरे सिर पर न-जाने क्यों भूत सवार हो जाता है। अनायास ही उलझ पड़ी। भगवन्, मुझे कब इतनी बुद्धि होगी कि उनकी इच्छा के सामने सिर झुकाना सीखूँगी?"

इंदु ने बाहर की तरफ़ सिर निकालकर देखा, स्टेशन का सिगनल नज़र आ रहा था। नर-नारियों के समूह स्टेशन की ओर दौड़े चले जा रहे थे। सवारियों का ताँता लगा हुआ था। उसने कोचवान से कहा—"गाड़ी फेर दो, मैं स्टेशन न जाऊँगी, घर की तरफ़ चलो।"

कोचवान ने कहा—"सरकार, अब तो आ गए; वह देखिए, कई आदमी मुझे इशारा कर रहे हैं कि घोड़ों को बढ़ाओ, गाड़ी पहचानते हैं।"

इंदु—"कुछ परवा नहीं, फ़ौरन् घोड़े फेर दो।"

कोचवान—"क्या सरकार की तबियत कुछ ख़राब हो गई क्या?"

इंदु—"बक-बक मत करो, गाड़ी लौटा ले चलो।"

कोचवान ने गाड़ी फेर दी। इंदु ने एक लंबी साँस ली, और सोचने लगी—सब लोग मेरा इंतज़ार कर रहे होंगे, गाड़ी देखते ही पहचान गए थे। अम्मा कितनी ख़ुश हुई होंगी; पर गाड़ी को लौटते देखकर उन्हें और अन्य सब आदमियों को कितना विस्मय हुआ होगा! कोचवान से कहा—"ज़रा पीछे फिरकर देखो, कोई आ तो नहीं रहा है?"

कोचवान—"हुज़ूर, कोई गाड़ी आ तो रही है।"

इंदु—"घोड़ों को तेज़ कर दो, लगाम छोड़ दो।"

कोचवान—"हुज़ूर, गाड़ी नहीं, मोटर है, साफ़ मोटर है।"

इंदु—"घोड़ों को चाबुक लगाओ।"

कोचवान—"हुज़ूर, यह तो अपनी ही मोटर मालूम होती है, हींगनसिंह चला रहे हैं। ख़ूब पहचान गया, अपनी ही मोटर।"

इंदु—"पागल हो, अपनी मोटर यहाँ क्यों आने लगी?"

कोचवान—"हुज़ूर, अपनी मोटर न हो, तो जो चोर की सज़ा, वह मेरी। साफ़ नज़र आ रहा है, वही रंग है। ऐसी मोटर इस शहर में दूसरी है ही नहीं।"

इंदु—"ज़रा ग़ौर से देखो।"

कोचवान—"क्या देखूँ हुज़ूर, वह आ पहुँची, सरकार बैठे हैं।"

इंदु—"ख़्वाब तो नहीं देख रहा है?"

कोचवान—"लीजिए हुज़ूर, यह बराबर आ गई।"

इंदु ने घबराकर बाहर देखा, तो सचमुच अपनी ही मोटर थी। गाड़ी के बराबर आकर वह रुक गई, और राजा साहब उतर पड़े। कोचवान ने गाड़ी रोक दी। इंदु चकित होकर बोली—"आप कब आ गए?"

राजा—"तुम्हारे आने के पाँच मिनट बाद मैं भी चल पड़ा।"

इंदु—"रास्ते में तो कहीं नहीं दिखाई दिए।"

राजा—"लाइन की तरफ़ से आया हूँ। इधर की सड़क ख़राब है। मैंने समझा, ज़रा चक्कर तो पड़ेगा, मगर जल्द पहुँचूँगा। तुम स्टेशन के सामने से कैसे लौट आईं? क्या बात है? तबियत तो अच्छी है? मैं तो घबरा गया। आओ, मोटर पर बैठ जाओ। स्टेशन पर गाड़ी आ गई है, दस मिनट में छूट जायगी। लोग उत्सुक हो रहे हैं।"

इंदु—"अब मैं न जाऊँगी। आप तो पहुँच ही गए थे।"

राजा—"तुम्हें चलना पड़ेगा।"

इंदु—"मुझे मजबूर न कीजिए, मैं न जाऊँगी।"

राजा—"पहले तो तुम यहाँ आने के लिये इतनी उत्सुक थीं, अब क्यों इनकार कर रही हो?"

इंदु—"आपकी इच्छा के विरुद्ध आई थी। आपने मेरे कारण अपने नियम का उल्लंघन किया है, तो मैं किस मुँह से वहाँ जा सकती हूँ? आपने मुझे सदा के लिये शालीनता का सबक़ दे दिया।"

राजा—"मैं उन लोगों से तुम्हें लाने का वादा कर आया हूँ। तुम न चलोगी, तो मुझे कितना लज्जित होना पड़ेगा।"

इंदु—"आप व्यर्थ इतना आग्रह कर रहे हैं। आपको मुझसे नाराज़ होने का यह अंतिम अवसर था। अब फिर इतना दुस्साहस न करूँगी।"

राजा—"एंजिन सीटी दे रहा है।"

इंदु—"ईश्वर के लिये मुझे जाने दीजिए।"

राजा ने निराश होकर कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा, मालूम होता है, हमारे और तुम्हारे ग्रहों में कोई मौलिक विरोध है, जो पग-पग पर अपना फल दिखाता रहता है।"

यह कहकर वह मोटर पर सवार हो गए, और बड़े वेग से स्टेशन की तरफ़ चले। बग्घी भी आगे बढ़ी। कोचवान ने पूछा—"हुज़ूर गईं क्यों नहीं? सरकार बुरा मान गए।"

इंदु ने इसका कुछ जवाब न दिया। वह सोच रही थी—"क्या मुझसे फिर भूल हुई? क्या मेरा जाना उचित था? क्या वह शुद्ध हृदय से मेरे जाने के लिये आग्रह कर रहे थे? या एक थप्पड़ लगाकर दूसरा थप्पड़ लगाना चाहते थे? ईश्वर ही जानें। वही अंतर्यामी हैं, मैं किसी के दिल की बात क्या जानूँ!"

गाड़ी धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती थी। आकाश पर छाए हुए बादल फटते जाते थे; पर इंदु के हृदय पर छाई हुई घटा प्रतिक्षण और भी घनी होती जाती थी—"आह! क्या वस्तुत: हमारे ग्रहों में कोई मौलिक विभाव है, जो पग-पग पर मेरी आकांक्षाओं को दलित करता रहता है? मैं कितना चाहती हूँ कि उनकी इच्छा के विरुद्ध एक क़दम भी न चलूँ; किंतु यह प्रकृति-विरोध मुझे हमेशा नीचा दिखाता है। अगर वह शुद्ध मन से अनुरोध कर रहे थे, तो मेरा इनकार सर्वथा असंगत था। आह! उन्हें मेरे हाथों फिर कष्ट पहुँचा। उन्होंने अपनी स्वाभाविक सज्जनता से मेरा अपराध क्षमा किया, और मेरा मान रखने के लिये अपने सिद्धांत की परवा न की। समझे होंगे, अकेली जायगी, तो लोग ख़याल करेंगे, पति की इच्छा के विरुद्ध आई है, नहीं तो क्या वह भी न आते? मुझे इस अपमान से बचाने के लिये उन्होंने अपने ऊपर इतना अत्याचार किया। मेरी जड़ता से वह कितने हताश हुए हैं, नहीं तो उनके मुँह से यह वाक्य कदापि न निकलता। मैं सचमुच अभागिनी हूँ।"

इन्हीं विषादमय विचारों में डूबी हुई वह चंद्रभवन पहुँची, और गाड़ी से उतरकर सीधे राजा साहब के दीवानख़ाने में जा बैठी। आँखें चुरा रही थी कि किसी नौकर-चाकर से सामना न हो जाय। उसे ऐसा जान पड़ता था कि मेरे मुख पर कोई दाग़ लगा हुआ है। जी चाहता था, राजा साहब आते-ही-आते मुझे पर बिगड़ने लगें, मुझे ख़ूब आड़े हाथों लें, हृदय को तानों से चलनी कर दें, यही उनकी शुद्ध-हृदयता का प्रमाण होगा। यदि वह आकर मुझसे मीठी-मीठी बातें करने लगें, तो समझ जाऊँगी, मेरी तरफ़ से उनका दिल साफ़ नहीं है, यह सब केवल शिष्टाचार है। वह इस समय पति की कठोरता की इच्छुक थी। गरमियों में किसान वर्षा का नहीं, ताप का भूखा होता है।

इंदु को बहुत देर तक न बैठना पड़ा। पाँच बजते-बजते राजा साहब आ पहुँचे। इंदु का हृदय धक-धक करने लगा। वह उठकर द्वार पर खड़ी हो गई। राजा साहब उसे देखते ही बड़े मधुर स्वर से बोले—"तुमने आज जातीय उद्गारों का एक अपूर्व दृश्य देखने का अवसर खो दिया। बड़ा ही मनोहर दृश्य था। कई हज़ार मनुष्यों ने जब यात्रियों पर पुष्प-वर्षा की, तो सारी भूमि फूलों से ढक गई। सेवकों का राष्ट्रीय गान इतना भावमय, इतना प्रभावोत्पादक था कि दर्शक-वृंद मुग्ध हो गए। मेरा हृदय जातीय गौरव से उछला पड़ता था। बार-बार यही खेद होता था कि तुम न हुई! यही समझ लो कि मैं उस आनंद को प्रकट नहीं कर सकता। मेरे मन में सेवा-समिति के विषय में जितनी शंकाएँ थीं, वे सब शांत हो गईं। यही जी चाहता था कि मैं भी सब कुछ छोड़-छाड़कर इस दल के साथ चला जाता। डॉक्टर गंगुली को अब तक मैं निरा बकवादी समझता था। आज मैं उनका उत्साह और साहस देखकर दंग रह गया। तुमसे बड़ी भूल हुई। तुम्हारी माताजी बार-बार पछताती थीं।"

इंदु को जिस बात की शंका थी, वह पूरी हो गई। सोचा—यह सब कपट-लीला है। इनका दिल साफ़ नहीं है। यह मुझे बेवक़ूफ़ समझते हैं, और बेवक़ूफ़ बनाना चाहते हैं। इन मीठी बातों की आड़ में कितनी कटुता छिपी हुई है! चिढ़कर बोली—"मैं जाती, तो आपको ज़रूर बुरा मालूम होता।"

राजा०—(हँसकर) "केवल इसलिये कि मैंने तुम्हें जाने से रोका था? अगर मुझे बुरा मालूम होता, तो मैं ख़ुद क्यों जाता?"

इंदु—"मालूम नहीं, आप क्या समझकर गए। शायद मुझे लज्जित करना चाहते होंगे।"

राजा०—"इंदु, इतना अविश्वास मत करो। सच कहता हूँ, मुझे तुम्हारे जाने का ज़रा भी मलाल न होता। मैं यह स्वीकार करता

हूँ कि पहले मुझे तुम्हारी ज़िद बुरी लगी; किंतु जब मैंने विचार किया, तो मुझे अपना आचरण सर्वथा अन्याय-पूर्ण प्रतीत हुआ। मुझे ज्ञात हुआ कि तुम्हारी स्वेच्छा को इतना दबा देना सर्वथा अनुचित है। अपने इसी अन्याय का प्रायश्चित्त करने के लिये मैं स्टेशन गया। तुम्हारी वह बात मेरे मन में बैठ गई कि हुक्काम का विश्वास-पात्र बने रहने के लिये अपनी स्वाधीनता का बलिदान क्यों करते हो, नेकनाम रहना अच्छी बात है, किंतु नेकनामी के लिये सच्ची बातों में दबना अपनी आत्मा की हत्या करना है। अब तो तुम्हें मेरी बातों का विश्वास आया?"

इंदु—"आपकी दलीलों का जवाब मैं नहीं दे सकती; लेकिन मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि जब मुझसे कोई भूल हो जाय, तो आप मुझे दंड दिया करें, मुझे ख़ूब धिक्कारा करें। अपराध और दंड में कारण और कार्य का संबंध है, और यही मेरी समझ में आता है। अपराधी के सिर तेल चुपड़ते मैंने किसी को नहीं देखा। मुझे यह अस्वाभाविक जान पड़ता है। इससे मेरे मन में भाँति-भाँति की शंकाएँ उठने लगती हैं।"

राजा०—"देवी रूठती हैं, तो लोग उन्हें मनाते हैं। इसमें अस्वाभाविकता क्या है?"

दोनो में देर तक सवाल-जवाब होता रहा। महेंद्र बहेलिए की भाँति दाना दिखाकर चिड़िया फँसाना चाहते थे, और चिड़िया सशंक होकर उड़ जाती थी। कपट से कपट ही पैदा होता है। वह इंदु को आश्वासित न कर सके। तब वह उसके व्यथा को शांत करने का भार समय पर छोड़कर एक पत्र पढ़ने लगे, और इंदु दिल पर बोझ रक्खे हुए अंदर चली गई।

दूसरे दिन राजा साहब ने दैनिक पत्र खोला, तो उसमें सेवकों की यात्रा का वृत्तांत बड़े विस्तार से प्रकाशित हुआ था। इसी

प्रसंग में लेखक ने राजा साहब की उपस्थिति पर भी टीका की थी—

"इसी अवसर पर म्युनिसिपैलिटी के प्रधान राजा महेंद्रकुमारसिंह का मौजूद होना बड़े महत्त्व की बात है। आश्चर्य है कि राजा साहब जैसे विवेकशील पुरुष ने वहाँ जाना क्यों आवश्यक समझा। राजा साहब अपने व्यक्तित्व को अपने पद से पृथक् नहीं कर सकते, और उनकी उपस्थिति सरकार को उलझन में डालने का कारण हो सकती है। अनुभव ने यह बात सिद्ध कर दी है कि सेवा-समितियाँ चाहे कितनी शुभेच्छाओं से भी गर्भित हों, पर कालांतर में वे विद्रोह और अशांति का केंद्र बन जाती हैं। क्या राजा साहब इसका ज़िम्मा ले सकते हैं कि यह समिति भी आगे चलकर अपनी पूर्ववर्ती संस्थाओं का अनुसरण न करेगी?"

राजा साहब ने पत्र बंद करके रख दिया, और विचार में मग्न हो गए। उनके मुँह से बेअख़्तियार निकल गया—"वही हुआ, जिसका मुझे डर था। आज क्लब में जाते-ही-जाते मुझ पर चारो ओर से संदेहात्मक दृष्टि पड़ने लगेगी। कल ही कमिश्नर साहब से मिलने जाना है, उन्होंने कुछ पूछा, तो क्या कहूँगा। इस दुष्ट संपादक ने मुझे बुरा चरका दिया। पुलिसवालों की भाँति इस समुदाय में भी मुरौवत नहीं होती, ज़रा भी रिआयत नहीं करते। मैं इसका मुँह बंद रखने के लिये, इसे प्रसन्न रखने के लिये, कितने यत्न किया करता हूँ; आवश्यक और अनावश्यक विज्ञापन छपवाकर इसकी मुट्ठियाँ गरम करता रहता हूँ; जब कोई दावत या उत्सव होता है, तो सबसे पहले इसे निमंत्रण भेजता हूँ; यहाँ तक कि गत वर्ष म्युनिसिपैलिटी से इसे पुरस्कार भी दिला दिया था। इन सब ख़ातिरदारियों का यह उपहार है! कुत्ते की दुम को सौ वर्षों तक गाड़ रक्खो, तो भी टेढ़ी-की-टेढ़ी। अब अपनी मान-रक्षा क्योंकर

करूँ ? इसके पास जाना तो उचित नहीं, क्या कोई बहाना सोचूँ ?"

राजा साहब बड़ी देर तक इसी पसोपेश में पड़े रहे । कोई ऐसी बात सोच निकालना चाहते थे, जिससे हुक्काम की निगाहों में आबरू बनी रहे, साथ ही जनता के सामने भी आँखें नीची न करनी पड़ें ; पर बुद्धि कुछ काम न करती थी । कई बार इच्छा हुई कि चलकर इंदु से इस समस्या को हल करने में मदद लूँ ; पर यह समझकर कि कहीं वह कह दे कि 'हुक्काम नाराज़ होते हैं, तो होने दो, तुम्हें उनसे क्या सरोकार ; अगर वे तुम्हें दबाएँ, तो तुरंत त्याग-पत्र भेज दो', तो फिर मेरे लिये निकलने का कोई रास्ता न रहेगा, उससे कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी ।

वह सारी रात इसी चिंता में डूबे रहे । इंदु भी कुछ गुमसुम थी । प्रातःकाल दो-चार मित्र आ गए, और उसी लेख की चर्चा की । एक साहब बोले—"मैं कमिश्नर से मिलने गया था, तो वह इसी लेख को पढ़ रहा था, और रह-रहकर ज़मीन पर पैर पटकता था ।"

राजा साहब के होश और भी उड़ गए । झट उन्हें एक उपाय सूझ गया । मोटर तैयार कराई, और कमिश्नर के बँगले पर जा पहुँचे । यों तो यह महाशय राजा साहब का कार्ड पाते ही बुला लिया करते थे, आज अरदली ने कहा—"साहब एक ज़रूरी काम कर रहे हैं, मेम साहब बैठी हैं, आप एक घंटा ठहरें ।"

राजा साहब समझ गए कि लक्षण अच्छे नहीं हैं । बैठकर एक अँगरेज़ी पत्रिका के चित्र देखने लगे—वाह, कितने साफ़ और सुंदर चित्र हैं ! हमारी पत्रिकाओं में कितने भद्दे चित्र होते हैं, व्यर्थ ही काग़ज़ लीप-पोतकर ख़राब किया जाता है । किसी ने बहुत किया, तो बिहारीलाल के भावों को लेकर एक सुंदरी का चित्र बनवा दिया, और उसके नीचे उसी भाव का दोहा लिख दिया; किसी ने पद्माकर

के कवित्त को चित्रित किया। बस, इसके आगे किसी की अक़्ल नहीं दौड़ती।

किसी तरह एक घंटा गुज़रा, और साहब ने बुलाया। राजा साहब अंदर गए, तो साहब की त्योरियाँ चढ़ी हुई देखीं। एक घंटे के इंतज़ार से झुँझला गए थे, खड़े-खड़े बोले—"आपको अवकाश हो, तो मैं कुछ कहूँ, नहीं तो फिर कभी आऊँगा।"

कमिश्नर साहब ने रुखाई से पूछा—"मैं पहले आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि इस पत्र ने आपके विषय में जो आलोचना की है, वह आपकी नज़र से गुज़री है?"

राजा साहब—"जी हाँ, देख चुका हूँ।"

कमिश्नर—"आप इसका कोई जवाब देना चाहते हैं?"

राजा साहब—"मैं इसकी कोई ज़रूरत नहीं समझता; अगर इतनी-सी बात पर मुझ पर अविश्वास किया जा सकता है, और मेरी बरसों की वफ़ादारी का कुछ विचार नहीं किया जाता, तो मुझे विवश होकर अपना पद-त्याग करना पड़ेगा। अगर आप वहाँ जाते, तो क्या इस पत्र को इतना साहस होता कि आपके विषय में यही आलोचना करता? हरगिज़ नहीं। यह मेरे भारतवासी होने का दंड है। जब तक मुझ पर ऐसी द्वेष-पूर्ण टीका-टिप्पणी होती रहेगी, मैं नहीं समझ सकता कि अपने कर्तव्य का कैसे पालन कर सकूँगा।"

कमिश्नर ने कुछ नरम होकर कहा—"गवर्नमेंट के हरएक कर्मचारी का धर्म है कि किसी को अपने ऊपर ऐसे इलज़ाम लगाने का अवसर न दे।"

राजा साहब—"मैं जानता हूँ, आप लोगों को यह किसी तरह नहीं भूल सकता कि मैं भारतवासी हूँ, इसी प्रकार मेरे बोर्ड के सहयोगियों के लिये यह भूल जाना असंभव है कि मैं शासन का एक अंग हूँ। आप जानते हैं कि मैं बोर्ड में मिस्टर जॉन सेवक को पाँड़े-

पुर की ज़मीन दिलाने का प्रस्ताव करनेवाला हूँ; लेकिन जब तक मैं अपने आचरण से यह सिद्ध न कर दूँगा कि मैंने स्वतः बग़ैर किसी दबाव के, केवल प्रजा के हित के लिये, यह प्रस्ताव उपस्थित किया है, उसकी स्वीकृति की कोई आशा नहीं है। यही कारण है, जो मुझे कल स्टेशन पर ले गया था।"

कमिश्नर की बाछें खिल गईं। हँस-हँसकर बातें बनाने लगा।

राजा साहब—"ऐसी दशा में क्या आप समझते हैं, मेरा जवाब देना ज़रूरी है?"

कमिश्नर—"नहीं-नहीं, कभी नहीं।"

राजा साहब—"मुझे आपसे पूरी सहायता मिलनी चाहिए।"

कमिश्नर—"मैं यथाशक्ति आपकी सहायता करूँगा।"

राजा साहब—"बोर्ड ने मंज़ूर भी कर लिया, तो मोहल्लेवालों की तरफ़ से फ़साद की आशंका है।"

कमिश्नर—"कुछ परवा नहीं, मैं सुपरिटेंडेंट पुलिस को ताकीद कर दूँगा कि वह आपकी मदद करते रहें।"

राजा साहब यहाँ से चले, तो ऐसा मालूम होता था, मानो आकाश पर चल रहे हैं। यहाँ से वह मि० क्लार्क के पास गए, और वहाँ भी इसी नीति से काम लिया। दोपहर को घर आए। उनके हृदय में यह ख़याल खटक रहा था कि इस बहाने से मेरा काम तो निकल गया; लेकिन मैं सूरदास के साथ कहीं ऐसी ज़्यादती तो नहीं कर रहा हूँ कि अंत में मुझे नगरवासियों के सामने लज्जित होना पड़े। इसी विषय में बातचीत करने के लिये वह इंदु के पास आए, और बोले—"तुम कोई ज़रूरी काम तो नहीं कर रही हो, मुझे एक बात में तुमसे कुछ सलाह करनी है।"

इंदु डरी कि कहीं सलाह करते-करते वाद-विवाद न होने लगे। बोली—"काम तो कुछ नहीं कर रही हूँ; लेकिन मैं आपको कोई

सलाह देने के योग्य नहीं हूँ। परमात्मा ने मुझे इतनी बुद्धि ही नहीं दी। मुझे तो उन्होंने केवल खाने, सोने और आपको दिक़ करने के लिये बनाया है।"

राजा साहब—"तुम्हारे दिक़ करने ही में तो मज़ा आता है। बतलाओ, सूरदास की ज़मीन के बारे में तुम्हारी क्या राय है? तुम मेरी जगह होतीं, तो क्या करतीं?"

इंदु—"आख़िर आपने क्या निश्चय किया?"

राजा साहब—"पहले तुम बताओ, तो फिर मैं बताऊँगा।"

इंदु—"मेरी राय में तो सूरदास से उसके बाप-दादों की जायदाद छीन लेना अन्याय होगा।"

राजा साहब—"तुम्हें मालूम है कि सूरदास को इस जायदाद से कोई लाभ नहीं होता, केवल इधर-उधर के ढोर चरा करते हैं?"

इंदु—"उसे यह इतमीनान तो है कि ज़मीन मेरी है। मोहल्लेवाले उसका एहसान तो मानते ही होंगे। उसकी धर्म-प्रवृत्ति इस पुण्य कार्य से संतुष्ट होती होगी।"

राजा साहब—"लेकिन मैं नगर के मुख्य व्यवस्थापक की हैसियत से एक व्यक्ति के यथार्थ या कल्पित हित के लिये नगर का हज़ारों रुपए का नुक़सान तो नहीं करा सकता। कारख़ाना खुलने से हज़ारों मज़दूरों की जीविका चलेगी, नगर की आय में वृद्धि होगी, सबसे बड़ी बात यह कि उस अमित धन का एक भाग देश में रह जायगा, जो सिगरेट के लिये अन्य देशों को देना पड़ता है।"

इंदु ने राजा के मुँह की ओर तीव्र दृष्टि से देखा। सोचा—इनका अभिप्राय क्या है? पूँजीपतियों से तो इन्हें विशेष प्रेम नहीं है। यह तो सलाह नहीं, बहस है। क्या अधिकारियों के दबाव से इन्होंने ज़मीन को मिस्टर सेवक के अधिकार में देने का फ़ैसला कर लिया है, और मुझसे अपने निश्चय का अनुमोदन कराना चाहते हैं? इनके भाव

से तो कुछ ऐसा ही प्रकट हो रहा है। बोली—"इस दृष्टि-कोण से तो यही न्याय-संगत है कि सूरदास से वह ज़मीन छीन ली जाय।"

राजा साहब—"भई, इतनी जल्द पहलू बदलने की सनद नहीं। अपनी उसी युक्ति पर स्थिर रहो। मैं केवल सलाह नहीं चाहता, मैं यह देखना चाहता हूँ कि तुम इस विषय में क्या-क्या शंकाएँ कर सकती हो, और मैं उनका संतोष-जनक उत्तर दे सकता हूँ या नहीं? मुझे जो कुछ करना था, कर चुका; अब तुमसे तर्क करके अपना इतमीनान करना चाहता हूँ।"

इंदु—"अगर मेरे मुँह से कोई अप्रिय शब्द निकल जाय, तो आप नाराज़ तो न होंगे?"

राजा साहब—"इसकी परवा न करो। जातीय सेवा का दूसरा नाम बेहयाई है। अगर ज़रा-ज़रा-सी बात पर नाराज़ होने लगें, तो हमें पागलख़ाने जाना पड़े।"

इंदु—"यदि एक व्यक्ति के हित के लिये आप नगर का अहित नहीं करना चाहते, तो क्या सूरदास ही ऐसा व्यक्ति है, जिसके पास दस बीघे ज़मीन हो। ऐसे लोग भी तो नगर में हैं, जिनके पास इससे कहीं ज़्यादा ज़मीन है। कितने ही ऐसे बँगले हैं, जिनका घेरा दस बीघे से अधिक है। हमारे बँगले का क्षेत्र पंद्रह बीघे से कम न होगा। मि० सेवक के बँगले का भी पाँच बीघे से कम घेर नहीं है, और दादाजी का भवन तो पूरा एक गाँव है। आप इनमें से कोई ज़मीन इस कारख़ाने के लिये ले सकते हैं। सूरदास की ज़मीन में तो मोहल्ले के ढोर चरते हैं। अधिक नहीं, तो एक मोहल्ले का फ़ायदा तो होता ही है। इन हातों से तो एक व्यक्ति के सिवा और किसी का कुछ फ़ायदा नहीं होता, यहाँ तक कि कोई उनमें सैर भी नहीं कर सकता, एक फूल या पत्ती भी नहीं तोड़ सकता। अगर कोई जानवर अंदर चला जाय, तो उसे तुरंत गोली मार दी जाय।"

राजा साहब—(मुस्किराकर) "बड़े मार्के की युक्ति है। क़ायल हो गया। मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं। लेकिन तुम्हें शायद मालूम नहीं कि उस अंधे को तुम जितना दीन और असहाय समझती हो, उतना नहीं है। सारा मोहल्ला उसकी हिमायत करने पर तैयार है; यहाँ तक कि लोग मि० सेवक के गुमाश्ते के घर में घुस गए, उनके भाइयों को मारा, आग लगा दी, स्त्रियों तक की बेइज़्ज़ती की।"

इंदु—"मेरे विचार में तो यह इस बात का एक और प्रमाण है कि उस ज़मीन को छोड़ दिया जाय। उस पर क़ब्ज़ा करने से ऐसी घटनाएँ कम न होंगी, बढ़ेंगी। मुझे तो भय है, कहीं ख़ून-ख़राबा न हो जाय।"

राजा साहब—"जो लोग स्त्रियों की बेइज़्ज़ती कर सकते हैं, वे दया के योग्य नहीं।"

इंदु—"जिन लोगों की ज़मीन आप छीन लेंगे, वे आपके पाँव न सुहलाएँगे।"

राजा साहब—"आश्चर्य है, तुम स्त्रियों के अपमान को मामूली बात समझ रही हो।"

इंदु—"फ़ौज के गोरे, रेल के कर्मचारी, नित्य हमारी बहनों का अपमान करते रहते हैं, उनसे तो कोई नहीं बोलता। इसीलिये कि आप उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। अगर लोगों ने उपद्रव किया है, तो अपराधियों पर मुक़दमा दायर कीजिए, उन्हें दंड दिलाइए। उनकी जायदाद क्यों ज़ब्त करते हैं?"

राजा साहब—"तुम जानती हो, मि० सेवक का यहाँ के अधिकारियों से कितनी राह-रस्म है। मिस्टर क्लार्क तो उनके द्वार के दरबान बने हुए हैं। अगर मैं उनकी इतनी सेवा न कर सका, तो हुक्काम का विश्वास मुझ पर से उठ जायगा।"

इंदु ने चिंतित स्वर में कहा—"मैं नहीं जानती थी कि प्रधान की दशा इतनी शोचनीय होती है !"

राजा साहब—"अब तो मालूम हो गया। बतलाओ, अब मुझे क्या करना चाहिए ?"

इंदु—"पद-त्याग।"

राजा साहब—"मेरे पद-त्याग से ज़मीन बच सकेगी।"

इंदु—"आप दोष-पाप से तो मुक्त हो जायँगे।"

राजा साहब—"ऐसी गौण बातोंके लिये पद-त्याग हास्य-जनक है।"

इंदु को अपने पति के प्रधान होने का बड़ा गर्व था। इस पद को वह बहुत श्रेष्ठ और आदरणीय समझती थी। उसका ख़याल था कि यहाँ राजा साहब पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं, बोर्ड उनके अधीन है, जो चाहते हैं, करते हैं ; पर अब विदित हुआ कि उसे कितना भ्रम था। उसका गर्व चूर-चूर हो गया। उसे आज ज्ञात हुआ कि प्रधान केवल राज्याधिकारियों के हाथों का खिलौना है। उनकी इच्छा से जो चाहे करे, उनकी इच्छा के प्रतिकूल कुछ नहीं कर सकता। वह संख्या का बिंदु है, जिसका मूल्य केवल दूसरी संख्याओं के सहयोग पर निर्भर है। राजा साहब की पद-लोलुपता उसे कुठाराघात के समान लगी। बोली—"उपहास इतना निंद्य नहीं है, जितना अन्याय। मेरी समझ में नहीं आता कि आपने इस पद की कठिनाइयों को जानते हुए भी क्यों इसे स्वीकार किया। अगर आप न्याय-विचार से सूरदास की ज़मीन का अपहरण करते, तो मुझे आपसे कोई शिकायत न होती, लेकिन केवल अधिकारियों के भय से या बदनामी से बचने के लिये न्याय-पथ से मुँह फेरना अत्यंत अपमान-जनक है। आपको नगरवासियों और विशेषतः दीनजनों के स्वत्व की रक्षा करनी चाहिए। अगर हुक्काम किसी पर अत्याचार करें, तो आपको उचित है कि दुखियों की हिमायत

करें। निजी हानि-लाभ की चिंता न करके हुक्काम का विरोध करें, सारे नगर में—सारे देश में—तहलका मचा दें, चाहे इसके लिये पद-त्याग ही नहीं, किसी बड़ी-से-बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़े। मैं राजनीति के सिद्धांतों से परिचित नहीं हूँ। पर आपका जो मानवी धर्म है, वह आपसे कह रही हूँ। मैं आपको सचेत किए देती हूँ कि आपने अगर हुक्काम के दबाव से सूरदास की ज़मीन ली, तो मैं चुपचाप बैठी न रह सकूँगी। स्त्री हूँ, तो क्या; पर दिखा दूँगी कि सबल-से-सबल प्राणी भी किसी दीन को आसानी से पैरों-तले नहीं कुचल सकता।"

यह कहते-कहते इंदु रुक गई। उसे ध्यान आ गया कि मैं आवेश में आकर औचित्य की सीमा से बाहर होती जाती हूँ! राजा साहब इतने लज्जित हुए कि बोलने को शब्द न मिलते थे। अंत में शरमाते हुए बोले—तुम्हें मालूम नहीं कि राष्ट्र के सेवकों को कैसी-कैसी मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं। अगर वे अपने कर्तव्य का निर्भय होकर पालन करने लगें, तो जितनी सेवा वे अब कर सकते हैं, उतनी भी न कर सकें। मि० क्लार्क और मि० सेवक में विशेष घनिष्ठता हो जाने के कारण परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। मिस सेवक जब से तुम्हारे घर से गई हैं, मि० क्लार्क नित्य ही उन्हीं के पास बैठे रहते हैं, इजलास पर नहीं जाते, कोई सरकारी काम नहीं करते, किसी से मिलते तक नहीं, मिस सेवक ने उन पर मोहनी-मंत्र-सा डाल दिया है। दोनो साथ-साथ सैर करने जाते हैं, साथ-साथ थिएटर देखने जाते हैं। मेरा अनुमान है कि मि० सेवक ने वचन दे दिया है।"

इंदु—"इतनी जल्द! अभी उसे हमारे यहाँ से गए एक सप्ताह से ज़्यादा न हुआ होगा।"

राजा साहब—मिसेज़ सेवक ने पहले ही से सब कुछ पक्का कर

रक्खा था। मिस सेवक के वहाँ जाते ही प्रेम-क्रीड़ा शुरू हो गई।"

इंदु ने अब तक सोफ़िया को एक साधारण ईसाई की लड़की समझ रक्खा था। यद्यपि वह उससे बहन का-सा बर्ताव करती थी, उसकी योग्यता का आदर करती थी, उससे प्रेम करती थी; किंतु दिल में उसे अपने से नीचा समझती थी। पर मि० क्लार्क से उसके विवाह की बात ने उनके हृद्गत भावों को आंदोलित कर दिया। सोचने लगी—मि० क्लार्क से विवाह हो जाने के बाद जब सोफ़िया मिसेज़ क्लार्क बनकर मुझसे मिलेगी, तो अपने मन में मुझे तुच्छ समझेगी; उसके व्यवहार में, बातों में, शिष्टाचार में बनावटी नम्रता की झलक होगी; वह मेरे सामने जितना ही झुकेगी, उतना ही मेरा सिर नीचा करेगी। यह अपमान मेरे सहे न सहा जायगा। मैं उससे नीची बनकर नहीं रह सकती। इस अभागे क्लार्क को क्या कोई योरपियन लेडी न मिलती थी कि सोफ़िया पर गिर पड़ा। कुल का नीचा होगा, कोई अँगरेज़ उससे अपनी लड़की का विवाह करने पर राज़ी न होता होगा। विनय इसी छिछोरी स्त्री पर जान देता है। ईश्वर ही जानें, अब उस बेचारे की क्या दशा होगी। कुलटा है, और क्या। जाति और कुल का प्रभाव कहाँ जायगा? सुंदरी है, सुशिक्षिता है, चतुर है, विचारशील है, सब कुछ सही; पर है तो ईसाइन। बाप ने लोगों को ठग-ठगाकर कुछ धन और सम्मान प्राप्त कर लिया है। इससे क्या होता है। मैं तो अब भी उससे वही पहले का-सा बर्ताव करूँगी। जब तक वह स्वयं आगे न बढ़ेगी, हाथ न बढ़ाऊँगी। लेकिन मैं चाहे जो कुछ करूँ, उस पर चाहे कितना ही बड़प्पन जताऊँ, उसके मन में यह अभिमान तो अवश्य ही होगा कि मेरी एक कड़ी निगाह इसके पति के सम्मान और अधिकार को ख़ाक में मिला सकती है। संभव है, वह अब और

भी विनीत भाव से पेश आए। अपने सामर्थ्य का ज्ञान हमें शील-वान् बना देता है। मेरा उससे मान करना, उसको हँसी मालूम होगी। उसकी नम्रता से तो उसका ओछापन ही अच्छा। ईश्वर करे, वह मुझसे सीधे मुँह बात न करे, तब देखनेवाले उसे मन में धिक्कारेंगे, इसी में अब मेरी लाज रह सकती है; पर वह इतनी अविचारशील कहाँ है!

अंत में इंदु ने निश्चय किया—मैं सोफ़िया से मिलूँगी ही नहीं। मैं अपने रानी होने का अभिमान तो उससे कर ही नहीं सकती। हाँ, एक जाति-सेवक की पत्नी बनकर, अपने कुल-गौरव का गर्व दिखाकर उसकी उपेक्षा कर सकती हूँ।

ये सब बातें एक क्षण में इंदु के मन में आ गईं। बोली—"मैं आपको कभी दबने की सलाह न दूँगी।"

राजा साहब—"और यदि दबना पड़े?"

इंदु—"तो अपने को अभागिनी समझूँगी।"

राजा साहब—"यहाँ तक तो कोई हानि नहीं; पर कोई आंदोलन तो न उठाओगी? यह इसलिये पूछता हूँ कि तुमने अभी मुझे यह धमकी दी है।"

इंदु—"मैं चुपचाप न बैठूँगी। आप दबें, मैं क्यों दबूँ?"

राजा साहब—"चाहे मेरी कितनी ही बदनामी हो जाय?"

इंदु—"मैं इसे बदनामी नहीं समझती।"

राजा साहब—"फिर सोच लो। यह मानी हुई बात है कि वह ज़मीन मि० सेवक को अवश्य मिलेगी, मैं रोकना भी चाहूँ, तो नहीं रोक सकता, और यह भी मानी हुई बात है कि इस विषय में तुम्हें मौनव्रत का पालन करना पड़ेगा।"

राजा साहब अपने सार्वजनिक जीवन में अपनी सहिष्णुता और मृदु व्यवहार के लिये प्रसिद्ध थे; पर निजी व्यवहारों में वह इतने

क्षमाशील न थे। इंदु का चेहरा तमतमा उठा, तेज़ होकर बोली—"अगर आपको अपना सम्मान प्यारा है, तो मुझे भी अपना धर्म प्यारा है।"

राजा साहब ग़ुस्से के मारे वहाँ से उठकर चले गए, और इंदु अकेली रह गई।

सात-आठ दिनों तक दोनो के मुँह में दही जमा रहा। राजा साहब कभी घर में आ जाते, तो दो-चार बातें करके यों भागते, जैसे पानी में भीग रहे हों। न वह बैठते, न इंदु उन्हें बैठने को कहती। उन्हें यह दुःख था कि इसे मेरी ज़रा भी परवा नहीं है। पग-पग पर मेरा रास्ता रोकती है। मैं अपना पद त्याग दूँ, तब इसे तसकीन होगी। इसकी यही इच्छा है कि सदा के लिये दुनिया से मुँह मोड़ लूँ, संसार से नाता तोड़ लूँ, घर में बैठे-बैठा राम-नाम भजा करूँ, हुक्काम से मिलना-जुलना छोड़ दूँ, उनकी आँखों में गिर जाऊँ, पतित हो जाऊँ। मेरे जीवन की सारी अभिलाषाएँ और कामनाएँ इसके सामने तुच्छ हैं, दिल में मेरी सम्मान-भक्ति पर हँसती है। शायद मुझे नीच, स्वार्थी और आत्मसेवी समझती है। इतने दिनों तक मेरे साथ रहकर भी इसे मुझसे प्रेम नहीं हुआ, मुझसे मन नहीं मिला। पत्नी पति की हितचिंतक होती है, यह नहीं कि उसके कामों का मज़ाक़ उड़ाए, उसकी निंदा करे। इसने साफ़ कह दिया है कि मैं चुपचाप न बैठूँगी, न-जाने क्या करने का इरादा है। अगर समाचार-पत्रों में एक छोटा-सा पत्र भी लिख देगी, तो मेरा काम तमाम हो जायगा, कहीं का न रहूँगा, डूब मरने का समय होगा। देखूँ, यह नाव कैसे पार लगती है।

इधर इंदु को दुःख था कि ईश्वर ने इन्हें सब कुछ दिया है, यह हाकिमों से क्यों इतना दबते हैं, क्यों इतनी ठकुर-सुहाती करते हैं,

अपने सिद्धांतों पर स्थिर क्यों नहीं रहते, उन्हें क्यों स्वार्थ के नीचे रखते हैं, जाति-सेवा का स्वाँग क्यों भरते हैं? यह भी कोई आदमी है, जिसने मानापमान के पीछे धर्म और न्याय का बलिदान कर दिया हो? एक वे योद्धा थे, जो बादशाहों के सामने सिर न झुकाते थे, अपने वचन पर, अपनी मर्यादा पर मर मिटते थे। आख़िर लोग इन्हें क्या कहते होंगे। संसार को धोखा देना आसान नहीं। इन्हें चाहे भ्रम हो कि लोग मुझे जाति का सच्चा भक्त समझते हैं; पर यथार्थ में सभी इन्हें पहचानते हैं। सब मन में कहते होंगे, कितना बना हुआ आदमी है।

शनैः-शनैः उसके विचारों में परिवर्तन होने लगा—यह उनका क़सूर नहीं है, मेरा क़सूर है। मैं क्यों उन्हें अपने आदर्श के अनुसार बनाना चाहती हूँ? आजकल प्रायः इसी स्वभाव के पुरुष होते हैं। उन्हें संसार चाहे कुछ कहे, चाहे कुछ समझे, पर उनके घरों में तो कोई मीन-मेख नहीं निकालता। स्त्री का कर्तव्य है कि अपने पुरुष की सहगामिनी बने। पर प्रश्न यह है, क्या स्त्री का अपने पुरुष से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है? इसे तो बुद्धि स्वीकार नहीं करती। दोनो अपने कर्मानुसार पाप-पुण्य के अधिकारी होते हैं। वास्तव में यह हमारे भाग्य का दोष है, अन्यथा हमारे विचारों में क्यों इतना भेद होता? कितना चाहती हूँ कि आपस में कोई अंतर न होने पाए, कितना बचाती हूँ; पर आए दिन कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित हो ही जाता है। अभी एक घाव नहीं भरने पाया था कि दूसरा चरका लगा। क्या मेरा सारा जीवन यों ही बीतेगा? हम जीवन में शांति की इच्छा रखते हैं, प्रेम और मैत्री के लिये जान देते हैं। जिसके सिर पर नित्य नंगी तलवार लटकती हो, उसे शांति कहाँ? अंधेर तो यह है कि मुझे चुप भी नहीं रहने दिया जाता। कितना कहती थी कि मुझे इस बहस में न घसीटिए, इन काँटों में न दौड़ाइए, पर न

माना। अब जो मेरे पैरों में काँ
कानों पर उँगली रखते हैं
'जबर मारे और रोने न
पूछो कि मरती हो
कोई सराय हो।
गया, आराम
दशा है, तो
दोनो के दि
न देखना
शा
सोचा
आ
ल
ह

मुझ पर दया करो, मुझ पर

'पुझसे आप क्या करने

' इस अत्याचार

ड़ी-सो संखिया

े भय-विकृत

' करुणार्द्र

यह वह

दय में

है !

ही

ह

-

नज़रों में गिर गया। बदनामी से इतना डरता था; पर घर ही में मुँह दिखाने-लायक़ न रहा।

राजा साहब के जाते ही इंदु ने एक लंबी साँस ली, और फ़र्श पर लेट गई। उसके मुँह से सहसा ये शब्द निकले—"इनका हृदय से कैसे सम्मान करूँ? इन्हें अपना उपास्य देव कैसे समझूँ? नहीं जानती, इस अभक्ति के लिये क्या दंड मिलेगा। मैं अपने पति की पूजा करनी चाहती हूँ; पर दिल पर मेरा क़ाबू नहीं। भगवन्! तुम मुझे स कठिन परीक्षा में क्यों डाल रहे हो?"

[१६]

अरावली की पहाड़ियों में एक वट-वृक्ष के नीचे विनयसिंह बैठे हुए हैं। पावस ने उस जन-शून्य, कठोर, निष्प्रभ, पाषाणमय स्थान को प्रेम, प्रमोद और शोभा से मंडित कर दिया है, मानो कोई उजड़ा हुआ घर आबाद हो गया हो। किंतु विनय की दृष्टि इस प्राकृतिक सौंदर्य की ओर नहीं; वह चिंता की उस दशा में है, जब आँखें खुली रहती हैं और कुछ नहीं सूझता, कान खुले रहते हैं और कुछ सुनाई नहीं देता; बाह्य चेतना शून्य हो गई है। उनका मुख निस्तेज हो गया है, शरीर इतना दुर्बल कि पसलियों की एक-एक हड्डी गिनी जा सकती है।

हमारी अभिलाषाएँ ही जीवन का स्रोत हैं; उन्हीं पर तुषार-पात हो जाय, तो जीवन का प्रवाह क्यों न शिथिल हो जाय।

उनके अंतस्तल में निरंतर भीषण संग्राम होता रहता है। सेवा-मार्ग उनका ध्येय था। प्रेम के काँटे उसमें बाधक हो रहे थे। उन्हें अपने मार्ग से हटाने के लिये वह सदैव यत्न करते रहते हैं। कभी-कभी वह आत्मग्लानि से विकल होकर सोचते हैं, सोफ़ी ने मुझे उस अग्नि-कुंड से निकाला ही क्यों। बाहर की आग केवल देह का नाश करती है, जो स्वयं नश्वर है, भीतर की आग अनंत आत्मा का सर्वनाश कर देती है।

विनय को यहाँ आए कई महीने हो गए; पर उनके चित्त की अशांति समय के साथ बढ़ती ही जाती है। वह आने को तो यहाँ लज्जा-वश आ गए थे; पर एक-एक घड़ी एक-एक युग के समान बीत रही है। पहले उन्होंने यहाँ के कष्टों को ख़ूब बढ़ा-बढ़ाकर अपनी माता

को पत्र लिखे। उन्हें विश्वास था कि अम्माजी मुझे बुला लेंगी। पर वह मनोरथ पूरा न हुआ। इतने ही में सोफ़िया का पत्र मिल गया, जिसने उनके धैर्य के टिमटिमाते हुए दीपक को बुझा दिया। अब उनके चारो ओर अँधेरा था। वह इस अँधेरे में चारो ओर टटोलते फिरते थे, और कहीं राह न पाते थे। अब उनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है। कोई निश्चित मार्ग नहीं है, बेमाँझी की नाव है, जिसे एकमात्र तरंगों की दया का ही भरोसा है।

किंतु इस चिंता और ग्लानि की दशा में भी वह यथासाध्य अपने कर्तव्य का पालन करते जाते हैं। जसवंतनगर के प्रांत में एक बच्चा भी नहीं है, जो उन्हें न पहचानता हो। देहात के लोग उनके इतने भक्त हो गए हैं कि ज्यों ही वह किसी गाँव में जा पहुँचते हैं, सारा गाँव उनके दर्शनों के लिये एकत्र हो जाता है। उन्होंने उन्हें अपनी मदद आप करना सिखाया है। इस प्रांत के लोग अब वन्य जंतुओं को भगाने के लिये पुलिस के यहाँ नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित होकर उन्हें भगाते हैं; ज़रा-ज़रा-सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता कर लेते हैं; जहाँ कभी कुएँ न थे, वहाँ अब पक्के कुएँ तैयार हो गए हैं; सफ़ाई की ओर भी लोग ध्यान देने लगे हैं, दरवाज़ों पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किए जाते। सारांश यह कि प्रत्येक व्यक्ति अब केवल अपने ही लिये नहीं, दूसरों के लिये भी है; वह अब अपने को प्रतिद्वंद्वियों से घिरा हुआ नहीं, मित्रों और सहयोगियों से घिरा हुआ समझता है। सामूहिक जीवन का पुनरुद्धार होने लगा है।

विनय को चिकित्सा का भी अच्छा ज्ञान है। उनके हाथों सैकड़ों रोगी आरोग्य-लाभ कर चुके हैं। कितने ही घर, जो परस्पर के कलह से बिगड़ गए थे, फिर आबाद हो गए हैं। ऐसी अवस्था में उनका

जितना सेवा-सत्कार करने के लिये लोग तत्पर रहते हैं, उसका अनुमान करना कठिन नहीं ; पर सेवकों के भाग्य में सुख कहाँ ? विनय को रूखी रोटियों और वृक्ष की छाया के अतिरिक्त और किसी वस्तु से प्रयोजन नहीं। इस त्याग और विरक्ति ने उन्हें उस प्रांत में सर्वमान्य और सर्वप्रिय बना दिया है।

किंतु ज्यों-ज्यों उनमें प्रजा की भक्ति होती जा रही है, प्रजा पर उनका प्रभाव बढ़ता जाता है, राज्य के अधिकारिवर्ग उनसे बदगुमान होते जाते हैं। उनके विचार में प्रजा दिन-दिन सरकश होती जाती है। दारोग़ाजी की मुट्ठियाँ अब गर्म नहीं होतीं, कामदार और अन्य कर्मचारियों के यहाँ मुक़दमे नहीं आते, कुछ हत्थे नहीं चढ़ता; यह प्रजा में विद्रोहात्मक भावों के लक्षण नहीं, तो क्या हैं? ये ही विद्रोह के अंकुर हैं, इन्हें उखाड़ देने ही में कुशल है।

जसवंतनगर से दरबार को नित्य नई-नई सूचनाएँ—कुछ यथार्थ कुछ कल्पित—भेजी जाती हैं, और विनयसिंह को ज़ाब्ते के शिकंजे में खींचने का आयोजन किया जाता है। दरबार ने इन सूचनाओं से आशंकित होकर कई गुप्तचरों को विनय के आचार-विचार की टोह लगाने के लिये तैनात कर दिया है; पर उनकी निस्पृह सेवा किसी को उन पर आघात करने का अवसर नहीं देती।

विनय के पाँव में बेवाय फटी हुई थी; चलने में कष्ट होता था। बरगद के नीचे ठंडी-ठंडी हवा जो लगी, तो बैठे-बैठे सो गए। आँख खुली, तो दोपहर ढल चुका था। झपटकर उठ बैठे, लकड़ी सँभाली और आगे बढ़े। आज उन्होंने जसवंतनगर में विश्राम करने का विचार किया था। दिन भागा चला जाता था। तीसरे पहर के बाद सूर्य की गति तीव्र हो जाती है। संध्या होती जाती थी, और अभी जसवंतनगर का कहीं पता न था। इधर बेवाय के कारण एक-एक क़दम उठाना दुस्सह था। हैरान थे कि क्या करूँ। किसी

किसान का झोपड़ा भी नज़र न आता था कि वहीं रात काटें। पहाड़ों में सूर्यास्त ही से हिंसक पशुओं की आवाज़ें सुनाई देने लगती हैं। इसी हैसबैस में पड़े हुए थे कि सहसा उन्हें दूर से एक आदमी आता हुआ दिखाई दिया। उसे देखकर वह इतने प्रसन्न हुए कि अपनी राह छोड़कर कई क़दम उसकी तरफ़ चले। समीप आया, तो मालूम हुआ कि डाकिया है। वह विनय को पहचानता था। सलाम करके बोला—"इस चाल से तो आप आधी रात तक भी जसवंतनगर न पहुँचेंगे।"

विनय—"पैर में बेवाय फट गई है, चलते नहीं बनता। तुम ख़ूब मिले। मैं बहुत घबरा रहा था कि अकेले कैसे जाऊँगा। अब एक से दो हो गए, कोई चिंता नहीं है। मेरा भी कोई पत्र है?"

डाकिए ने विनयसिंह के हाथ में एक पत्र रख दिया। रानीजी का पत्र था। यद्यपि अँधेरा हो रहा था, पर विनय इतने उत्सुक हुए कि तुरंत लिफ़ाफ़ा खोलकर पत्र पढ़ने लगे। एक क्षण में उन्होंने पत्र समाप्त कर दिया, और तब एक ठंडी साँस भरकर लिफ़ाफ़े में रख दिया। उनके सिर में ऐसा चक्कर आया कि गिरने का भय हुआ। ज़मीन पर बैठ गए। डाकिए ने घबराकर पूछा—"क्या कोई बुरा समाचार है? आपका चेहरा पीला पड़ गया है।"

विनय—"नहीं, कोई ऐसी ख़बर नहीं। पैरों में दर्द हो रहा है, शायद मैं आगे न जा सकूँगा।"

डाकिया—"यहाँ इस बीहड़ में अकेले कैसे पड़े रहिएगा?"

विनय—"डर क्या है!"

डाकिया—"इधर जानवर बहुत हैं, अभी कल एक गाय उठा ले गए।"

विनय—"मुझे जानवर भी न पूछेंगे, तुम जाओ, मुझे यहीं छोड़ दो।"

डाकिया—"यह नहीं हो सकता, मैं भी यहीं पड़ रहूँगा।"

विनय—"तुम मेरे लिये क्यों अपनी जान संकट में डालते हो? चले जाओ, घड़ी रात गए तक पहुँच जाओगे।"

डाकिया—"मैं तो तभी जाऊँगा, जब आप भी चलेंगे। मेरी जान की कौन हस्ती है। अपना पेट पालने के सिवा और क्या करता हूँ। आपके दम से तो हज़ारों का भला होता है। जब आपको अपनी चिंता नहीं है, तो मुझे अपनी क्या चिंता है।"

विनय—"भाई, मैं तो मजबूर हूँ। चला ही नहीं जाता।"

डाकिया—"मैं आपको कंधे पर बैठाकर ले चलूँगा; पर यहाँ न छोड़ूँगा।"

विनय—"भाई, तुम बहुत दिक़ कर रहे हो। चलो, लेकिन मैं धीरे-धीरे चलूँगा। तुम न होते, तो आज मैं यहीं पड़ रहता।"

डाकिया—"आप न होते, तो मेरी जान की कुशल न थी। यह न समझिए कि मैं केवल आपकी ख़ातिर इतनी ज़िद कर रहा हूँ, मैं इतना पुण्यात्मा नहीं हूँ। अपनी रक्षा के लिये आपको साथ लिए चलता हूँ। (धीरे से) मेरे पास इस वक़्त ढाई सौ रुपए हैं। दोपहर को एक जगह सो गया, बस देर हो गई। आप मेरे भाग्य से मिल गए, नहीं तो डाकुओं से जान न बचती।"

विनय—"यह तो बड़े जोखिम की बात है। तुम्हारे पास कोई हथियार है?"

डाकिया—"मेरे हथियार आप हैं। आपके साथ मुझे कोई खटका नहीं है। आपको देखकर किसी डाकू की मजाल नहीं कि मुझ पर हाथ उठा सके। आपने डकैतों को भी बस में कर लिया है।"

सहसा घोड़ों की टाप की आवाज़ कान में आई। डाकिए ने

घबराकर पीछे देखा। पाँच सवार, भाले उठाए, घोड़े बढ़ाए चले आते थे। उसके होश उड़ गए, काटो, तो बदन में लहू नहीं। बोला—"लीजिए, सब आ ही पहुँचे। इन सबों के मारे इधर रास्ता चलना कठिन हो गया है। बड़े हत्यारे हैं। सरकारी नौकरों को तो छोड़ना ही नहीं जानते। अब आप ही बचाएँ, तो मेरी जान बच सकती है।"

इतने में पाँचो सवार सिर पर आ पहुँचे। उनमें से एक ने पुकारा—"अबे, ओ डाकिए, इधर आ, तेरे थैले में क्या है?"

विनयसिंह ज़मीन पर बैठे हुए थे। लकड़ी टेककर उठे कि इतने में एक सवार ने डाकिए पर भाले का वार किया। डाकिया सेना में रह चुका था। वार को थैले पर रोका। भाला थैले के वार-पार हो गया। वह दूसरा वार करनेवाला ही था कि विनय सामने आकर बोले—"भाइयो, यह क्या अंधेर करते हो! क्या थोड़े-से रुपयों के लिये एक ग़रीब की जान ले लोगे?"

सवार—"जान इतनी प्यारी है, तो रुपए क्यों नहीं देता?"

विनय—"जान भी प्यारी है, और रुपए भी प्यारे हैं। दो में से एक भी नहीं दे सकता।"

सवार—"तो दोनो ही देने पड़ेंगे।"

विनय—"तो पहले मेरा काम तमाम कर दो। जब तक मैं हूँ, तुम्हारा मनोरथ न पूरा होगा।"

सवार—"हम साधु-संतों पर हाथ नहीं उठाते। सामने से हट जाओ।"

विनय—"जब तक मेरी हड्डियाँ तुम्हारे घोड़ों के पैरों-तले न रौंदी जायँगी, मैं सामने से न हटूँगा।"

सवार—"हम कहते हैं, सामने से हट जाओ। क्यों हमारे सिर हत्या का पाप लगाते हो?"

विनय—"मेरा जो धर्म है, वह मैं करता हूँ ; तुम्हारा जो धर्म हो, वह तुम करो। गरदन झुकाए हुए हूँ।"

दूसरा सवार—"तुम कौन हो ?"

तीसरा सवार—"बेधा हुआ है, मार दो एक हाथ, गिर पड़े, प्रायश्चित्त कर लेंगे।"

पहला सवार—"आख़िर तुम हो कौन ?"

विनय—"मैं कोई हूँ, तुम्हें इससे मतलब ?"

दूसरा सवार—"तुम तो इधर के रहनेवाले नहीं जान पड़ते। क्यों बे डाकिए, यह कौन हैं ?"

डाकिया—"यह तो नहीं जानता, पर इनका नाम है विनयसिंह। धर्मात्मा और परोपकारी आदमी हैं। कई महीनों से इस इलाक़े में ठहरे हुए हैं।"

विनय का नाम सुनते ही पाँचो सवार घोड़ों से कूद पड़े, और विनय के सामने हाथ बाँधकर खड़े हो गए। सरदार ने कहा—"महाराज, हमारा अपराध क्षमा कीजिए। हमने आपका नाम सुना है। आज आपके दर्शन पाकर हमारा जीवन सफल हो गया। इस इलाक़े में आपका यश घर-घर गाया जा रहा है। मेरा लड़का घोड़े से गिर पड़ा था। पसली की हड्डी टूट गई थी। जीने की कोई आशा न थी। आप ही के साथ के एक महाराज हैं इंद्रदत्त। उन्होंने आकर लड़के को देखा, तो तुरंत मरहम-पट्टी की, और एक महीने तक रोज़ आकर उसकी दवा-दारू करते रहे। लड़का चंगा हो गया। मैं तो प्राण भी दे दूँ, तो आपसे उऋण नहीं हो सकता। अब हम पापियों का उद्धार कीजिए। हमें आज्ञा दीजिए कि आपके चरणों की रज माथे पर लगाएँ। हम तो इस योग्य भी नहीं हैं।"

विनय ने मुस्किराकर कहा—"अब तो डाकिए की जान न लोगे ? तुमसे हमें डर लगता है।"

सरदार—"महाराज, हमें अब लज्जित न कीजिए। हमारा अपराध क्षमा कीजिए। डाकिया महाशय, तुम आज किसी भले आदमी का मुँह देखकर उठे थे, नहीं तो अब तक तुम्हारा प्राण-पखेरू आकाश में उड़ता होता। मेरा नाम सुना है न? वीरपालसिंह मैं ही हूँ, जिसने राज्य के नौकरों को नेस्तनाबूद करने का प्रण कर लिया है।"

विनय—"राज्य के नौकरों पर इतना अत्याचार क्यों करते हो?"

वीरपाल—"महाराज, आप तो कई महीनों से इस इलाक़े में हैं, क्या आपको इन लोगों की करतूतें मालूम नहीं हैं? ये लोग प्रजा को दोनो हाथों से लूट रहे हैं। इनमें न दया है, न धर्म। हैं हमारे ही भाई-बंद, पर हमारी ही गरदन पर छुरी चलाते हैं। किसी ने ज़रा साफ़ कपड़े पहने, और ये लोग उसके सिर हुए। जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, ग़रीबों का गला काटिए, कोई आपसे न बोलेगा। बस, कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गर्म करते रहिए। दिन-दहाड़े ख़ून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग़ छूट जायँगे, आपके बदले कोई बेक़सूर फाँसी पर लटका दिया जायगा। कोई फ़रियाद नहीं सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। यही समझ लीजिए कि हिंसक जंतुओं का एक ग़ोल है, सब-के-सब मिलकर शिकार करते हैं, और मिल-जुलकर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू। उसे विलायत में जाकर विद्वानों के सामने बड़े-बड़े व्याख्यान देने की धुन है। मैंने यह किया, और वह किया, बस डींगें मारना उसका काम है। या तो विलायत की सैर करेगा, या यहाँ अँगरेज़ों के साथ शिकार खेलेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा। इसके सिवा उसे कोई काम नहीं, प्रजा जिए या मरे, उसकी बला से। बस, कुशल इसी में है कि

कर्मचारी जिस कल बैठाएँ, उसी कल बैठिए, शिकायत न कीजिए, ज़बान न हिलाइए, रोइए, तो मुँह बंद करके। हमने लाचार होकर इस हत्या-मार्ग पर पग रक्खा है। किसी तरह तो इन दुष्टों की आँखें खुलें। इन्हें मालूम हो कि हमें भी दंड देनेवाला कोई है। ये पशु से मनुष्य हो जायँ।"

विनय—"मुझे यहाँ की स्थिति का कुछ ज्ञान तो था; पर यह न मालूम था कि दशा इतनी शोचनीय है। मैं अब स्वयं राजा साहब से मिलूँगा, और यह सारा वृत्तांत उनसे कहूँगा।"

वीरपाल—"महाराज, कहीं ऐसी भूल भी न कीजिएगा, नहीं तो लेने के देने पड़ जायँगे, यह अंधेर-नगरी है। राजा में इतना ही विवेक होता, तो राज्य की यह दशा ही क्यों होती? वह उलटे आप ही के सिर हो जायगा।"

विनय—"इसकी चिंता नहीं। संतोष तो हो जायगा कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया। मुझे तुमसे भी कुछ कहना है। तुम्हारा यह विचार कि इन हत्याकांडों से अधिकारिवर्ग प्रजापरायण हो जायगा, मेरी समझ में निर्मूल और भ्रम-पूर्ण है। रोग का अंत करने के लिये रोगी का अंत कर देना न बुद्धि-संगत है, न न्याय-संगत। आग आग से शांत नहीं होती, पानी से शांत होती है।"

वीरपाल—"महाराज, हम आपसे तर्क तो नहीं कर सकते; पर इतना जानते हैं कि विष विष ही से शांत होता है। जब मनुष्य दुष्टता की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, उसमें दया और धर्म लुप्त हो जाता है, जब उसके मनुष्यत्व का सर्वनाश हो जाता है, जब वह पशुओं के-से आचरण करने लगता है, जब उसमें आत्मा की ज्योति मलिन हो जाती है, तब उसके लिये केवल एक ही उपाय शेष रह जाता है, और वह है प्राण-दंड। व्याघ्र-जैसे हिंसक

पशु सेवा से वशीभूत हो सकते हैं। पर स्वार्थ को कोई दैविक शक्ति परास्त नहीं कर सकती।"

विनय—"ऐसी शक्ति है तो। हाँ, केवल उसका उचित उपयोग करना चाहिए।"

विनय ने अभी बात भी न पूरी की थी कि अकस्मात् किसी तरफ़ से बंदूक़ की आवाज़ कानों में आई। सवारों ने चौंककर एक दूसरे की तरफ़ देखा और एक तरफ़ घोड़े छोड़ दिए। दम-के-दम में घोड़े पहाड़ों में जाकर ग़ायब हो गए। विनय की समझ में कुछ न आया कि बंदूक़ की आवाज़ कहाँ से आई, और पाँचो सवार क्यों भागे। डाकिए से पूछा—"ये सब किधर जा रहे हैं?"

डाकिया—"बंदूक़ की आवाज़ ने किसी शिकार की ख़बर दी होगी, उसी तरफ़ गए हैं। आज किसी सरकारी नौकर की जान पर ज़रूर बनेगी।"

विनय—"अगर यहाँ के कर्मचारियों का यही हाल है, जैसा इन्होंने बयान किया, तो मुझे बहुत जल्द महाराज की सेवा में जाना पड़ेगा।"

डाकिया—"महाराज, अब आपसे क्या परदा है; सचमुच यही हाल है। हम लोग तो टके के मुलाज़िम ठहरे, चार पैसे ऊपर से न कमाएँ, तो बाल-बच्चों को कैसे पालें; तलब है, वह साल-साल-भर तक नहीं मिलती, लेकिन यहाँ तो जो जितने ही ऊँचे ओहदे पर है, उसका पेट भी उतना ही बड़ा है।"

दस बजते-बजते दोनो आदमी जसवंतनगर पहुँच गए। विनय बस्ती के बाहर ही एक वृक्ष के नीचे बैठ गए, और डाकिए से जाने को कहा। डाकिए ने उनसे अपने घर चलने का बहुत आग्रह किया, जब वह किसी तरह न राज़ी हुए, तो अपने घर से उनके वास्ते भोजन बनवा लाया। भोजन के उपरांत दोनो आदमी उसी जगह

लेटे। डाकिया उन्हें अकेला छोड़कर घर न आया। वह तो थका था, लेटते ही सो गया, पर विनय को नींद कहाँ। रानीजी के पत्र का एक-एक शब्द उनके हृदय में काँटे के समान चुभ रहा था। रानी ने लिखा था—"तुमने मेरे साथ, और अपने बंधुओं के साथ, दग़ा की है। मैं तुम्हें कभी क्षमा न करूँगी। तुमने मेरी अभिलाषाओं को मिट्टी में मिला दिया। तुम इतनी आसानी से इंद्रियों के दास हो जाओगे, इसकी मुझे लेश-मात्र भी आशंका न थी। तुम्हारा वहाँ रहना व्यर्थ है, घर लौट आओ, और विवाह करके आनंद से भोग-विलास करो। जाति-सेवा के लिये जिस आचरण की आवश्यकता है, जिस मनोबल की आवश्यकता है, वह तुमने नहीं पाया, और न पा सकोगे। युवावस्था में हम लोग अपनी योग्यताओं की बृहत् कल्पनाएँ कर लेते हैं। तुम भी उसी भ्रांति में पड़ गए। मैं तुम्हें बुरा नहीं कहती। तुम शौक़ से लौट आओ, संसार में सभी अपने-अपने स्वार्थ में रत हैं, तुम भी स्वार्थ-चिंतन में मग्न हो जाओ। हाँ, अब मुझे तुम्हारे ऊपर वह घमंड न होगा, जिस पर मैं फूली हुई थी। तुम्हारे पिताजी को अभी यह वृत्तांत मालूम नहीं है। वह सुनेंगे, तो न-जाने उनकी क्या दशा होगी। किंतु यह बात अगर तुम्हें अभी नहीं मालूम है, तो मैं बताए देती हूँ कि अब तुम्हें अपनी प्रेम-क्रीड़ा के लिये कोई दूसरा क्षेत्र ढूँढ़ना पड़ेगा; क्योंकि मिस सोफ़िया की मँगनी मि० क्लार्क से हो गई है, और दो-चार दिन में विवाह भी होनेवाला है। यह इसलिये लिखती हूँ कि तुम्हें सोफ़िया के विषय में कोई भ्रम न रहे, और विदित हो जाय कि जिसके लिये तुमने अपने जीवन की और अपने माता-पिता की अभिलाषाओं का ख़ून किया, उसकी दृष्टि में तुम क्या हो!"

विनय के मन में ऐसा उद्वेग हुआ कि इस वक़्त सोफ़िया सामने आ जाती, तो उसे धिक्कारता—"यही मेरे अनंत हृदयानुराग का

उपहार है ? तुम्हारे ऊपर मुझे कितना विश्वास था; पर अब ज्ञात हुआ कि वह तुम्हारी प्रेम-क्रीड़ा-मात्र थी । तुम मेरे लिये आकाश की देवी थीं । मैंने तुम्हें एक स्वर्गीय आलोक, दिव्य ज्योति समझ रक्खा था। आह ! मैं अपना धर्म तक तुम्हारे चरणों पर निछावर करने को तैयार था । क्या इसीलिये तुमने मुझे ज्वालाओं के मुख से निकाला था ? ख़ैर, जो हुआ, अच्छा हुआ । ईश्वर ने मेरे धर्म की रक्षा की, यह व्यथा भी शांत ही हो जायगी । मैं तुम्हें व्यर्थ ही कोस रहा हूँ । तुमने वही किया, जो इस परिस्थिति में अन्य स्त्रियाँ करतीं । मुझे दुःख इसलिये हो रहा है कि मैं तुमसे कुछ और ही आशाएँ रखता था । यह मेरी भूल थी । मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हारे योग्य नहीं था । मुझमें वे गुण कहाँ हैं, जिनका तुम आदर कर सकतीं; पर यह भी जानता हूँ कि मेरी जितनी भक्ति तुममें थी, और अब भी है, उतनी शायद ही किसी को किसी में हो सकती है । क्लार्क विद्वान्, चतुर, योग्य, गुणों का आगार ही क्यों न हो, लेकिन अगर मैंने तुम्हें पहचानने में धोखा नहीं खाया है, तो तुम उसके साथ प्रसन्न न रह सकोगी ।

"किंतु इस समय उन्हें इस नैराश्य से कहीं अधिक वेदना इस विचार से हो रही थी कि मैं माताजी की नज़रों में गिर गया—उन्हें कैसे मालूम हुआ ? क्या सोफ़ी ने उन्हें मेरा पत्र तो नहीं दिखा दिया ? अगर उसने ऐसा किया है, तो वह मुझ पर इससे अधिक कठोर आघात न कर सकती थी । क्या प्रेम निष्ठुर होकर द्वेषात्मक भी हो जाता है ? नहीं, सोफ़ी पर यह संदेह करके मैं उस पर अत्याचार न करूँगा । समझ गया, इंदु की सरलता ने यह आग लगाई है । उसने हँसी-हँसी में अम्माजी से कह दिया होगा । न-जाने उसे कभी बुद्धि होगी या नहीं । उसकी तो दिल्लगी हुई, और यहाँ मुझ पर जो बीत रही है, मैं ही जानता हूँ ।"

यह सोचते-सोचते विनय के मन में प्रत्याघात का विचार उत्पन्न हुआ। नैराश्य में प्रेम भी द्वेष का रूप धारण कर लेता है। उनकी प्रबल इच्छा हुई कि सोफ़िया को एक लंबा पत्र लिखूँ, और उसे जी भरकर धिक्कारूँ। वह इस पत्र की कल्पना करने लगे—"त्रियाचरित्र की कथाएँ पुस्तकों में बहुत पढ़ी थीं, पर कभी उन पर विश्वास न आता था। मुझे यह गुमान ही न होता था कि स्त्री, जिसे परमात्मा ने पवित्र, कोमल तथा देवोपम भावों का आगार बनाया है, इतनी निर्दय और इतनी मलिन-हृदय हो सकती है; पर यह तुम्हारा दोष नहीं, यह तुम्हारे धर्म का दोष है, जहाँ प्रेम-व्रत का कोई आदर्श नहीं है। अगर तुमने हिंदू-धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया है, तो तुमको एक नहीं, अनेक ऐसी देवियों के दर्शन हुए होंगे, जिन्होंने एक बार प्रेम-व्रत धारण कर लेने के बाद जीवन-पर्यंत पर-पुरुष की कल्पना भी नहीं की। हाँ, तुम्हें ऐसी देवियाँ भी मिली होंगी, जिन्होंने प्रेम-व्रत लेकर आजीवन अक्षय वैधव्य का पालन किया। मि० क्लार्क की सहयोगिनी बनकर तुम एक ही छलाँग में विजित से विजेताओं की श्रेणी में पहुँच जाओगी, और बहुत संभव है, इसी गौरव-कामना ने तुम्हें यह वज्राघात करने पर आरूढ़ किया हो। पर तुम्हारी आँखें बहुत जल्द खुलेंगी, और तुम्हें ज्ञात होगा कि तुमने अपना सम्मान बढ़ाया नहीं, खो दिया है।"

इस भाँति विनय ने दुष्कल्पनाओं की धुन में दिल का खूब गुबार निकाला। अगर इन विषाक्त भावों का एक छींटा भी सोफ़िया पर छिड़क सकता, तो उस विरहिणी की न-जाने क्या दशा होती। कदाचित् उसकी जान ही पर बन जाती। पर विनयसिंह को स्वयं अपनी क्षुद्रता पर घृणा हुई—"मेरे मन में ऐसे कुविचार क्यों आ रहे हैं? उसका परम कोमल हृदय ऐसे निर्दय आघातों को सहन नहीं कर सकता। उसे मुझसे प्रेम था। मेरा मन कहता है कि अब भी उस

मेरे प्रति सहानुभूति है। मगर मेरे ही समान वह भी धर्म, कर्तव्य, समाज और प्रथा की बेड़ियों में बँधी हुई है। हो सकता है कि उसके माता-पिता ने उसे मजबूर किया हो, और उसने अपने को उनकी इच्छा पर बलिदान कर दिया हो। यह भी हो सकता है कि माताजी ने उसे मेरे प्रेम-मार्ग से हटाने के लिये यह उपाय निकाला हो। वह जितनी ही सहृदय हैं, उतनी ही क्रोधशील भी। मैं बिना जाने-बूझे सोफ़िया पर यह मिथ्या दोषारोपण करके अपनी उच्छृंखलता का परिचय दे रहा हूँ।"

इसी उद्विग्न दशा में करवटें बदलते-बदलते विनय की आँखें झपक गईं। पहाड़ी देशों में रातें बड़ी सुहावनी होती हैं। एक ही झपकी में तड़का हो गया। मालूम नहीं, वह कब तक पड़े सोया करते; लेकिन पानी के झींसे मुँह पर पड़े, तो घबराकर उठ बैठे। बादल घिरे हुए थे, और हलकी-हलकी फुहार पड़ रही थी। जसवंत-नगर चलने का विचार करके उठे थे कि कई आदमियों को घोड़े भगाए अपनी तरफ़ आते देखा। समझे, शायद वीरपालसिंह और उनके साथी होंगे; पर समीप आए तो मालूम हुआ कि रियासत की पुलिस के आदमी हैं। डाकिया उनके पास ही सोया हुआ था, पर उसका कहीं पता न था, वह पहले ही उठकर चला गया था।

अफ़सर ने पूछा—"तुम्हारा ही नाम विनयसिंह है ?"

"जी हाँ।"

"कल रात को तुम्हारे साथ कई आदमियों ने यहाँ पड़ाव डाला था ?"

"जी नहीं, मेरे साथ केवल यहाँ के डाकघर का एक डाकिया था।"

"तुम वीरपालसिंह को जानते हो ?"

"इतना ही जानता हूँ कि वह मुझे रास्ते में मिल गया, वहाँ से कहाँ गया, यह मैं नहीं जानता।"

"तुम्हें यह मालूम था कि वह डाकू है ?"

"उसने यहाँ के राजकर्मचारियों के विषय में इसी शब्द का प्रयोग किया था।"

"इसका आशय मैं यह समझता हूँ कि तुम्हें यह बात मालूम थी।"

"आप इसका जो आशय चाहें, समझें।"

"उसने यहाँ से तीन मील पर सरकारी ख़ज़ाने की गाड़ी लूट ली है, और एक सिपाही की हत्या कर डाली है। पुलिस को संदेह है कि यह संगीन वारदात तुम्हारे इशारे से हुई है। इसलिये हम तुम्हें गिरफ़्तार करते हैं।"

"यह मेरे ऊपर घोर अन्याय है। मुझे उस डाके और हत्या की ज़रा भी ख़बर नहीं है।"

"इसका फ़ैसला अदालत से होगा।"

"कम-से-कम मुझे इतना पूछने का अधिकार तो है कि पुलिस को मुझ पर यह संदेह करने का क्या कारण है ?"

"उसी डाकिए का बयान है, जो रात को तुम्हारे साथ यहाँ सोया था।"

विनय ने विस्मित होकर कहा—"यह उसी डाकिए का बयान है !"

"हाँ, उसने घड़ी रात रहे इसकी सूचना दी। अब आपको विदित हो गया होगा कि रियासत की पुलिस आप-जैसे महाशयों से कितनी सतर्क रहती है।"

मानव-चरित्र कितना दुर्बोध और जटिल है, इसका विनय को जीवन में पहली ही बार अनुभव हुआ। इतनी श्रद्धा और भक्ति की आड़ में इतनी कुटिलता और पैशाचिकता !

दो सिपाहियों ने विनय के हाथों में हथकड़ी डाल दी, उन्हें एक घोड़े पर सवार कराया, और जसवंतनगर की ओर चले।

[१७]

विनयसिंह छ महीनों से कारागार में पड़े हुए हैं। न डाकुओं का कुछ पता मिलता है, और न उन पर अभियोग चलाया जाता है। अधिकारियों को अब भी भ्रम है कि इन्हीं के इशारे से डाका पड़ा था। इसीलिये वे उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किया करते हैं। जब इस नीति से काम नहीं चलता दिखाई देता, तो प्रलोभन से काम लेते हैं, और फिर वही पुरानी नीति ग्रहण करने लगते हैं। विनयसिंह पहले अन्य क़ैदियों के साथ रक्खे गए थे, लेकिन जब उन्होंने अपराधियों को उनकी ओर बहुत आकृष्ट होते देखा, तो इस भय से कि कहीं जेल में उपद्रव न हो जाय, उन्हें सबसे अलग एक काल-कोठरी में बंद कर दिया। कोठरी बहुत तंग थी, एक भी खिड़की न थी, दोपहर को अँधेरा छाया रहता था, दुर्गंध इतनी कि नाक फटती थी। चौबीस घंटों में केवल एक बार द्वार खुलता, रक्षक भोजन रखकर फिर द्वार बंद कर देता। विनय को कष्ट सहने की बान पड़ गई थी, भूख-प्यास सह सकता था, ओढ़न-बिछावन की उसे ज़रूरत न थी, इससे उसे कोई विशेष कष्ट न होता था; पर अंधकार और दुर्गंध उसके लिये बिलकुल नई सज़ा थी। भीतर उसका दम घुटने लगता था। निर्मल, स्वच्छ वायु में साँस लेने के लिये वह तड़प-तड़पकर रह जाता था। ताज़ी हवा कितनी बहुमूल्य होती है, इसका अब उसे प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा था। किंतु दुर्व्यवहारों को सहते हुए भी वह दुखी या भग्न-हृदय न होता था। इन कठिन परीक्षाओं ही में उसे जाति का उद्धार दिखाई देता था। वह अपने मन में कहता था—"यह कठिन व्रत निष्फल नहीं जा सकता। जब

तक हम कठिनाइयाँ झेलना न सीखेंगे, जब तक हम भोग-विलास का परित्याग न करेंगे, हमसे देश का कुछ उपकार नहीं हो सकता।" यही विचार उसे धैर्य देता रहता था।

किंतु जब सोफ़िया की कलुषता की याद आ जाती, तो उसका सारा धैर्य, उत्साह और आत्मोत्सर्ग नैराश्य में विलीन हो जाता था। वह अपने को कितना ही समझाता कि सोफ़िया ने जो कुछ किया, विवश होकर किया होगा; पर इस युक्ति से उसे संतोष न होता था—"क्या सोफ़िया स्पष्ट नहीं कह सकती थी कि मैं विवाह नहीं करना चाहती। विवाह के विषय में माता-पिता की इच्छा हमारे यहाँ निश्चयात्मक है; लेकिन ईसाइयों में स्त्री की इच्छा ही प्रधान समझी जाती है। अगर सोफ़िया को क्लार्क से प्रेम न था, तो क्या वह उन्हें कोरा जवाब न दे सकती थी? यथार्थ में कोमल जाति का प्रेम-सूत्र भी कोमल होता है, जो ज़रा-से झटके से टूट जाता है। जब सोफ़िया-जैसी विचारशीला, आन पर जान देनेवाली, सिद्धांत-प्रिय, उन्नत-हृदय युवती यों विचलित हो सकती है, तो दूसरी स्त्रियों से क्या आशा की जा सकती है। इस जाति पर विश्वास करना ही व्यर्थ है। सोफ़ी ने मुझे सदा के लिये सचेत कर दिया, ऐसा पाठ हृदयंगम करा दिया, जो कभी न भूलेगा। जब सोफ़िया दग़ा कर सकती है, तो ऐसी कौन स्त्री है, जिस पर विश्वास किया जा सके। आह! क्या जानता था कि इतना त्याग, इतनी सरलता, इतनी सदाकांक्षा भी अंत में स्वार्थ के सामने सिर झुका देगी। अब जीवन-पर्यंत स्त्री की ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा। उससे यों दूर रहूँगा, जैसे काली नागिन से। उससे यों बचकर चलूँगा, जैसे काँटे से। किसी से घृणा करना सज्जनता और औचित्य के विरुद्ध है; मगर अब इस जाति से घृणा करूँगा।"

इस नैराश्य, शोक और चिंता में पड़े-पड़े कभी-कभी वह इतना

व्यग्र हो जाता कि जी में आता—"चलकर उस वज्र-हृदया के सामने दीवार से सिर टकराकर प्राण दे दूँ, जिसमें उसे भी ग्लानि हो। मैं यहाँ अग्नि-कुंड में जल रहा हूँ, हृदय में फफोले पड़े हुए हैं, वहाँ किसी को ख़बर भी नहीं, आमोद-प्रमोद का आनंद उठाया जा रहा है। उसकी आँखों के सम्मुख एड़ियाँ रगड़-रगड़कर प्राण देता, तो उसे भी अपनी कुटिलता और निर्दयता पर लज्जा आती। भगवन्, मुझे इन दुश्चिंताओं के लिये क्षमा करना। मैं दुखी हूँ, वह भी मेरे सदृश नैराश्य की आग में जलती! बलाके उसके साथ उसी भाँति दग़ा करता, जैसे उसने मेरे साथ की है! अगर मेरी अहित-कामना में सत्य का कुछ भी अंश है और प्रेम-मार्ग से विमुख होने का कुछ भी दंड है, तो एक दिन अवश्य उसे भी शोक और व्यथा के आँसू बहाते देखूँगा। यह असंभव है कि "ख़ूने-नाहक़, रंग न लाए।"

लेकिन यह नैराश्य सर्वथा व्यथाकारक ही न था, उसमें आत्म-परिष्कार के अंकुर भी छिपे हुए थे। विनय के हृदय में फिर वह सद्भाव जाग्रत् हो गया, जिसे प्रेम की कल्पनाओं ने निर्जीव बना डाला था। नैराश्य ने स्वार्थ का संहार कर दिया।

एक दिन विनयसिंह रात के समय लेटे सोच रहे थे कि न-जाने मेरे साथियों पर क्या गुज़री, मेरी ही तरह वे भी तो विपत्ति में नहीं फँस गए, किसी को कुछ ख़बर ही नहीं कि सहसा उन्हें अपने सिरहाने की ओर एक धमाके की आवाज़ सुनाई दी। वह चौंक पड़े, और कान लगाकर सुनने लगे। मालूम हुआ कि कुछ लोग दीवार खोद रहे हैं। दीवार पत्थर की थी; मगर बहुत पुरानी थी। पत्थरों की जोड़ों में लोनी लग गई थी। पत्थर की सिलें आसानी से अपनी जगह छोड़ती जाती थीं! विनय को आश्चर्य हुआ—"ये कौन लोग हैं? अगर चोर हैं, तो जेल की दीवार तोड़ने से इन्हें क्या

मिलेगा ? शायद समझते हैं, जेल के दारोग़ा का यही मकान है।" वह इसी हैसबैस में थे कि अंदर प्रकाश की एक झलक आई। मालूम हो गया कि चोरों ने अपना काम पूरा कर लिया। सेंद के सामने जाकर बोले—"तुम कौन हो ? यह दीवार क्यों खोद रहे हो ?"

बाहर से आवाज़ आई—"हम आपके पुराने सेवक हैं। हमारा नाम वीरपालसिंह है।"

विनय ने तिरस्कार के भाव से कहा—"क्या तुम्हारे लिये किसी ख़ज़ाने की दीवारें नहीं हैं, जो जेल की दीवार खोद रहे हो ? यहाँ से चले जाओ, नहीं तो मैं शोर मचा दूँगा।"

वीरपाल—"महाराज, हमसे उस दिन बड़ा अपराध हुआ, क्षमा कीजिए। हमें न मालूम था कि केवल एक क्षण हमारे साथ रहने के कारण आपको यह कष्ट भोगना पड़ेगा, नहीं तो हम सरकारी ख़ज़ाना न लूटते। हमको रात-दिन यही चिंता लगी हुई थी कि किसी भाँति आपके दर्शन करें, और आपको इस संकट से निकालें। आइए, आपके लिये घोड़ा हाज़िर है।"

विनय—"मैं अधर्मियों के हाथों अपनी रक्षा नहीं कराना चाहता। अगर तुम समझते कि मैं इतना बड़ा अपराध सिर पर रक्खे हुए जेल से भागकर अपनी जान बचाऊँगा, तो तुम धोखे में हो। मुझे अपनी जान इतनी प्यारी नहीं है।"

वीरपाल—"अपराधी तो हम हैं, आप तो सर्वथा निरपराध हैं, आपके ऊपर तो अधिकारियों ने यह घोर अन्याय किया है। ऐसी दशा में आपको यहाँ से निकल जाने में कुछ पसोपेश न करना चाहिए।"

विनय—"जब तक न्यायालय मुझे मुक्त न करे, मैं यहाँ से किसी तरह नहीं जा सकता।"

वीरपाल—'यहाँ के न्यायालयों से न्याय की आशा रखना

चिड़िया से दूध निकालना है। हम सब-के-सब इन्हीं अदालतों के मारे हुए हैं। मैंने कोई अपराध नहीं किया था, मैं अपने गाँव का मुखिया था; किंतु मेरी सारी जायदाद केवल इसलिये ज़ब्त कर ली गई कि मैंने एक असहाय युवती को इलाक़ेदार के हाथों से बचाया था। उसके घर में वृद्धा माता के सिवा और कोई न था। हाल में विधवा हो गई थी। इलाक़ेदार की कुदृष्टि उस पर पड़ गई, और वह युवती को उसके घर से निकाल ले जाने का प्रयास करने लगा। मुझे टोह मिल गई। रात को ज्यों ही इलाक़ेदार के आदमियों ने वृद्धा के घर में घुसना चाहा, मैं अपने कई मित्रों को साथ लेकर वहाँ जा पहुँचा, और उन दुष्टों को मारकर घर से निकाल दिया। बस, इलाक़ेदार उसी दिन से मेरा जानी दुश्मन हो गया। मुझ पर चोरी का अभियोग लगाकर क़ैद करा दिया। अदालत अंधी थी, जैसा इलाक़ेदार ने कहा, वैसा न्यायाधीश ने किया। ऐसी अदालतों से आप व्यर्थ न्याय की आशा रखते हैं।"

विनय—"तुम लोग उस दिन मुझसे बातें करते-करते बंदूक़ की आवाज़ सुनकर ऐसे भागे कि मुझे तुम पर अब विश्वास ही नहीं आता।"

वीरपाल—"महाराज, कुछ न पूछिए, बंदूक़ की आवाज़ सुनते ही हमें उन्माद-सा हो गया। हमें जब रियासत से बदला लेने का कोई अवसर मिलता है, तो हम अपने को भूल जाते हैं। हमारे ऊपर कोई भूत सवार हो जाता है। रियासत ने हमारा सर्वनाश कर दिया है। हमारे पुरखों ने अपने रक्त से इस राज्य की बुनियाद डाली थी, आज यह राज्य हमारे रक्त का प्यासा हो रहा है। हम आपके पास से भागे, तो थोड़ी ही दूर पर अपने ग़ोल के कई आदमियों को रियासत के सिपाहियों से लड़ते पाया। हम पहुँचते ही सरकारी आदमियों पर टूट पड़े, उनकी बंदूक़ें छीन लीं, एक आदमी को मार

गिराया, और रुपयों की थैलियाँ घोड़ों पर लादकर भाग निकले। जब से सुना है कि आप हमारी सहायता करने के संदेह में गिरफ़्तार किए गए हैं, तब से इसी दौड़-धूप में हैं कि आपको यहाँ से निकाल ले जायँ। यह जगह आप-जैसे धर्मपरायण, निर्भीक और स्वाधीन पुरुषों के लिये उपयुक्त नहीं है। यहाँ उसी का निबाह है, जो पल्ले दर्जे का घाघ, कपटी, पाखंडी और दुरात्मा हो, अपना काम निकालने के लिये बुरे-से-बुरा काम करने से भी न हिचके।"

विनयसिंह ने बड़े गर्व से उत्तर दिया—"अगर तुम्हारी बातें अक्षरशः सत्य हों, तो भी मैं कोई ऐसा काम न करूँगा, जिससे रियासत की बदनामी हो। मुझे अपने भाइयों के साथ से विष का प्याला पीना मंजूर है; पर रोकर उनको संकट में डालना मंजूर नहीं। इस राज्य को हम लोगों ने सदैव गौरव की दृष्टि से देखा है, महाराजा साहब को आज भी हम उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वह उन्हीं साँगा और प्रताप के वंशज हैं, जिन्होंने हिंदू-जाति की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। हम महाराजा को अपना रक्षक, अपना हितैषी, क्षत्रिय-कुल-तिलक समझते हैं। उनके कर्मचारी सब हमारे भाई-बंद हैं। फिर यहाँ की अदालत पर क्यों न विश्वास करें? वे हमारे साथ अन्याय भी करें, तो भी हम ज़बान न खोलेंगे। राज्य पर दोषारोपण करके हम अपने को उस महान् वस्तु के अयोग्य सिद्ध करते हैं, जो हमारे जीवन का लक्ष्य और इष्ट है।"

"धोखा खाइएगा।"

"इसकी कोई चिंता नहीं।"

"मेरे सिर से कलंक कैसे उतरेगा?"

"अपने सत्कार्यों से।"

वीरपाल समझ गया कि यह अपने सिद्धांत से विचलित न

होंगे। पाँचो आदमी घोड़ों पर सवार हो गए, और एक क्षण में हेमंत के घने कुहिर ने उन्हें अपने परदे में छिपा लिया। घोड़ों की टाप कुछ देर तक कानों में आती रही, फिर वह भी ग़ायब हो गई।

अब विनय सोचने लगे—प्रातःकाल जब लोग यह सेंद देखेंगे, तो दिल में क्या ख़याल करेंगे। उन्हें निश्चय हो जायगा कि मैं डाकुओं से मिला हुआ हूँ, और गुप्त रीति से भागने की चेष्टा कर रहा हूँ। लेकिन नहीं, जब देखेंगे कि मैं भागने का अवसर पाकर भी न भागा, तो उनका दिल मेरी तरफ़ से साफ़ हो जायगा। यह सोचते हुए उन्होंने पत्थर के टुकड़े चुन-चुनकर सेंद को बंद करना शुरू किया। उनके पास केवल एक हलका-सा कंबल था, और हेमंत की तुषार-सिक्त वायु इस सूराख़ की राह से सन-सन आ रही थी। खुले मैदान में शायद उन्हें कभी इतनी ठंड न लगी थी। हवा सुई की भाँति रोम-रोम में चुभ रही थी। सेंद बंद करने के बाद वह लेट गए।

प्रातःकाल जेलख़ाने में हलचल मच गई। नाज़िम, इलाक़ेदार, सभी घटना-स्थल पर पहुँच गए। तहक़ीक़ात होने लगी। विनयसिंह ने संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाया। अधिकारियों को बड़ी चिंता हुई कि कहीं वे ही डाकू इन्हें निकाल न ले जायँ। उनके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गईं। निश्चय हो गया कि इन पर आज ही अभियोग चलाया जाय। सशस्त्र पुलिस उन्हें अदालत की ओर ले चली। हज़ारों आदमियों की भीड़ साथ हो गई। सब लोग यही कह रहे थे—"हुक्काम ऐसे सज्जन; सहृदय और परोपकारी पुरुष पर अभियोग चलाते हैं, बुरा करते हैं। बेचारे ने न-जाने किस बुरी साइत में यहाँ क़दम रक्खे थे। हम तो अभागे हैं ही, अपने पिछले कर्मों का फल भोग रहे हैं; हमें अपने हाल पर छोड़ देते, व्यर्थ इस आग में कूदे।" कितने ही लोग रो

रहे थे। सबको निश्चय था कि न्यायाधीश इन्हें कड़ी सज़ा देगा। प्रतिक्षण दर्शकों की संख्या बढ़ती जाती थी, और पुलिस को भय हो रहा था कि कहीं ये लोग बिगड़ न जायँ। सहसा एक मोटर आई, और शोफ़र ने उतरकर पुलिस के अफ़सर को एक पत्र दिया। सब लोग ध्यान से देख रहे थे कि देखें, अब क्या होता है। इतने में विनयसिंह मोटर पर सवार कराए गए, और मोटर हवा हो गई। सब लोग ताकते रह गए।

जब मोटर कुछ दूर चली गई, तो विनय ने शोफ़र से पूछा—"मुझे कहाँ लिए जाते हो?"

शोफ़र ने कहा—"आपको दीवान साहब ने बुलाया है।"

विनय ने और कुछ न पूछा। उन्हें इस समय भय के बदले हर्ष हुआ कि दीवान से मिलने का यह अच्छा अवसर मिला। अब उनसे यहाँ की स्थिति पर बातें होंगी। सुना है, विद्वान् आदमी हैं। देखूँ, इस नीति का क्योंकर समर्थन करते हैं।

एकाएक शोफ़र बोला—"यह दीवान एक ही पाजी है। दया करना तो जानता ही नहीं। एक दिन बचा को इसी मोटर से ऐसा गिराऊँगा कि हड्डी-पसली का पता न लगेगा।"

विनय—"ज़रूर गिराओ, ऐसे अत्याचारियों की यही सज़ा है।"

शोफ़र ने कुतूहल-पूर्ण नेत्रों से विनय को देखा। उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ। विनय के मुँह से ऐसी बात सुनने की उसे आशा न थी। उसने सुना था कि वह देवोपम गुणों के आगार हैं, उनका हृदय पवित्र है। बोला—"आपकी भी यही इच्छा है?"

विनय—"क्या किया जाय, ऐसे आदमियों पर और किसी बात का तो असर ही नहीं होता।"

शोफ़र—"अब तक मुझे यही शंका होती थी कि लोग मुझे हत्यारा कहेंगे; लेकिन जब आप-जैसे देव-पुरुष की यह इच्छा है,

तो मुझे क्या डर। बच्चा बहुत रात को घूमने निकला करते हैं। एक ठोकर में तो काम तमाम हो जायगा।"

विनय यह सुनकर ऐसा चौंके, मानो कोई भयंकर स्वप्न देखा हो। उन्हें ज्ञात हुआ कि मैंने एक द्वेषात्मक भाव का समर्थन करके कितना बड़ा अनर्थ किया। अब उनकी समझ में आया कि विशिष्ट पुरुषों को कितनी सावधानी से मुँह खोलना चाहिए; क्योंकि उनका एक-एक शब्द प्रेरणा-शक्ति से परिपूर्ण रहता है। वह मन में पछता रहे थे कि मेरे मुँह से ऐसी बात निकली ही क्यों, और किसी भाँति कमान से निकले हुए तीर को फेर लाने का उपाय सोच रहे थे कि इतने में दीवान साहब का भवन आ गया। विशाल फाटक पर दो सशस्त्र सिपाही खड़े थे, और फाटक से थोड़ी दूर पर पीतल की दो तोपें रक्खी हुई थीं। फाटक पर मोटर रुक गई, और दोनों सिपाही विनयसिंह को अंदर ले चले। दीवान साहब दीवानख़ास में विराजमान थे। ख़बर पाते ही विनय को बुला लिया।

दीवान साहब का डील ऊँचा, शरीर सुगठित और वर्ण गौर था। अधेड़ हो जाने पर भी उनकी मुख-श्री किसी खिले हुए फूल के समान थी। तनी हुई मूछें थीं, सिर पर रंग-बिरंगी उदयपुरी पगिया, देह पर एक चुस्त शिकारी कोट, नीचे उदयपुरी पाजामा, ऊपर एक भारी ओवर-कोट। छाती पर कई तमग़े और सम्मान-सूचक चिह्न शोभा दे रहे थे। उदयपुरी रिसाले के साथ योरपीय महासमर में सम्मिलित हुए थे, और वहाँ कई कठिन अवसरों पर अपने असाधारण पुरुषार्थ से सेना-नायकों को चकित कर दिया था। यह उसी सुकीर्ति का फल था कि वह इस पद पर नियुक्त हुए थे। सरदार नीलकंठसिंह नाम था। ऐसा तेजस्वी पुरुष विनय की निगाहों से कभी न गुज़रा था।

दीवान साहब ने विनय को देखते ही मुस्किराकर उन्हें एक

कुर्सी पर बैठने का संकेत किया, और बोले—"ये आभूषण तो आपकी देह पर बहुत शोभा नहीं देते; किंतु जनता की दृष्टि में इनका जितना आदर है, उतना मेरे इन तमग़ों और पट्टियों का कदापि नहीं है। यह देखकर मुझे आपसे डाह हो, तो कुछ अनुचित है?"

विनय ने समझा था, दीवान साहब जाते-ही-जाते गरज पड़ेंगे, लाल-पीली आँखें दिखाएँगे। वह उस बर्ताव के लिये तैयार थे। अब जो दीवान साहब की ये सहृदयता-पूर्ण बातें सुनीं, तो संकोच में पड़ गए। उस कठोर उत्तर के लिये यहाँ कोई स्थान न था, जिसे उन्होंने मन में सोच रक्खा था। बोले—"यह तो कोई ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं है, जिसके लिये आपको डाह करना पड़े।"

दीवान साहब—(हँसकर) "आपके लिये दुर्लभ नहीं है; पर मेरे लिये तो दुर्लभ है। मुझमें वह सत्साहस, वह सदुत्साह नहीं है, जिसके उपहार-स्वरूप ये चीज़ें मिलती हैं। मुझे आज मालूम हुआ कि आप कुँअर भरतसिंह के सुपुत्र हैं। उनसे मेरा पुराना परिचय है। अब वह शायद मुझे भूल गए हों। कुछ तो इस नाते से कि आप मेरे एक पुराने मित्र के बेटे हैं, और कुछ इस नाते से कि आपने इस युवावस्था में विषय-वासनाओं को त्यागकर लोक-सेवा का व्रत धारण किया है, मेरे दिल में आपके प्रति विशेष प्रेम और सम्मान है। व्यक्तिगत रूप से मैं आपकी सेवाओं को स्वीकार करता हूँ, और इस थोड़े-से समय में आपने रियासत का जो कल्याण किया है, उसके लिये आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे ख़ूब मालूम है कि आप निरपराध हैं, और डाकुओं से आपका कोई संबंध नहीं हो सकता। इसका मुझे गुमान तक नहीं है। महाराजा साहब से भी आपके संबंध में अभी घंटे-भर बातें हुईं। वह भी मुक्त कंठ से आपकी प्रशंसा करते हैं। लेकिन परिस्थितियाँ हमें आपसे यह याचना

करने के लिये मजबूर कर रही हैं कि बहुत अच्छा हो, अगर आप ......अगर आप प्रजा से अपने को अलग रक्खें। मुझे आपसे यह कहते हुए बहुत खेद हो रहा है कि अब यह रियासत आपका सत्कार करने का आनंद नहीं उठा सकती।"

विनय ने अपने उठते हुए क्रोध को दबाकर कहा—"आपने मेरे विषय में जो सद्भाव प्रकट किए हैं, उनके लिये आपका कृतज्ञ हूँ। पर खेद है कि मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। समाज की सेवा करना ही मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य है, और समाज से पृथक् होकर मैं अपना व्रत भंग करने में असमर्थ हूँ।"

दीवान साहब—"अगर आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य यही है, तो आपको किसी रियासत में आना उचित न था। रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिए, जहाँ सूर्य के प्रकाश का भी गुज़र नहीं हो सकता। हम सब इस हरमसरा के हब्शी ख़्वाजासरा हैं। हम किसी की प्रेम-रस-पूर्ण दृष्टि को इधर उठने न देंगे, कोई मनचला जवान इधर क़दम रखने का साहस नहीं कर सकता। अगर ऐसा हो, तो हम अपने पद के अयोग्य समझे जायँ। हमारा रसीला बादशाह, इच्छानुसार मनोविनोद के लिये, कभी-कभी यहाँ पदार्पण करता है। हरमसरा के सोए भाग्य उस दिन जग जाते हैं। आप जानते हैं, बेगमों की सारी मनोकामनाएँ उनकी छवि-माधुरी, हाव-भाव ही और बनाव-सिंगार पर निर्भर होती हैं, नहीं तो रसीला बादशाह उनकी ओर आँख उठाकर भी न देखे। हमारे रसीले बादशाह पूर्वीय राग-रस के प्रेमी हैं; उनका हुक्म है कि बेगमों का वस्त्राभूषण पूर्वीय हो, शृंगार पूर्वीय हो, रीति-नीति पूर्वीय हो, उनकी आँखें लज्जा-पूर्ण हों, पश्चिम की चंच-लता उनमें न आने पाए, उनकी गति मरालों की गति की भाँति मंद हो, पश्चिम की ललनाओं की भाँति उछलती-कूदती न चलें,

वे ही परिचारिकाएँ हों, वे ही हरम का दारोग़ा, वे ही हब्शी ग़ुलाम, वे ही ऊँची चहारदीवारी, जिसके अंदर चिड़िया भी न पर मार सके। आपने इस हरमसरा में घुस आने का दुस्साहस किया है, यह हमारे रसीले बादशाह को एक आँख नहीं भाता, और आप अकेले नहीं हैं, आपके साथ समाज-सेवकों का एक जत्था है। इस जत्थे के संबंध में भाँति-भाँति की शंकाएँ हो रही हैं। नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्द हो सके, यह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाय। यह देखिए, पोलिटिकल रेज़िडेंट ने आपके सहयोगियों के कृत्यों की गाथा लिख भेजी है। कोई कोटे में कृषकों की सभाएँ बनाता फिरता है; कोई बीकानेर में बेगार की जड़ खोदने पर तत्पर हो रहा है; कोई मारवाड़ में रियासत के उन करों का विरोध कर रहा है, जो परंपरा से वसूल होते चले आए हैं। आप लोग साम्यवाद का डंका बजाते फिरते हैं। आपका कथन है, प्राणीमात्र को खाने-पहनने और शांति से जीवन व्यतीत करने का समान स्वत्व है। इस हरमसरा में इन सिद्धांतों और विचारों का प्रचार करके आप हमारी सरकार को बदगुमान कर देंगे, और उसकी आँखें फिर गईं, तो हमारा संसार में कहीं ठिकाना नहीं है। हम आपको अपनी प्रेम-कुंज में आग न लगाने देंगे!"

हम अपनी दुर्बलताओं को व्यंग्य की ओट में छिपाते हैं। दीवान साहब ने व्यंग्योक्ति का प्रयोग करके विनय की सहानुभूति प्राप्त करनी चाही थी; पर विनय मनोविज्ञान से इतने अनभिज्ञ न थे, उनकी चाल भाँप गए, और बोले—"हमारा अनुमान था कि हम अपनी निःस्वार्थ सेवा से आपको अपना हमदर्द बना लेंगे।"

दीवान साहब—"इसमें आपको पूरी सफलता हुई है। हमको आपसे हार्दिक सहानुभूति है, लेकिन आप जानते ही हैं कि रेज़िडेंट साहब की इच्छा के विरुद्ध हम तिनका तक नहीं हिला सकते।

आप हमारे ऊपर दया कीजिए, हमें इसी दशा में छोड़ दीजिए, हम-जैसे पतितों का उद्धार करने में आपको यश के बदले अपयश ही मिलेगा।"

विनय—"आप रेज़िडेंट के अनुचित हस्तक्षेप का विरोध क्यों नहीं करते?"

दीवान साहब—"इसलिये कि हम आपकी भाँति निःस्पृह और निःस्वार्थ नहीं हैं। सरकार की रक्षा में हम मनमाने कर वसूल करते हैं, मनमाने क़ानून बनाते हैं, मनमाने दंड लेते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता। यही हमारी कारगुज़ारी समझी जाती है, इसी के उपलक्ष्य में हमको बड़ी-बड़ी उपाधियाँ मिलती हैं, पद की उन्नति होती है। ऐसी दशा में हम उनका विरोध क्यों करें?"

दीवान साहब की इस निर्लज्जता पर झुँझलाकर विनयसिंह ने कहा—"इससे तो यह कहीं अच्छा था कि रियासतों का निशान ही न रहता।"

दीवान साहब—"इसीलिये तो हम आपसे विनय कर रहे हैं कि अब किसी और प्रांत की ओर अपनी दया-दृष्टि कीजिए।"

विनय—"अगर मैं जाने से इनकार करूँ?"

दीवान साहब—"तो मुझे बड़े दुःख के साथ आपको उसी न्यायालय के सिपुर्द करना पड़ेगा, जहाँ न्याय का ख़ून होता है।"

विनय—"निरपराध?"

दीवान साहब—"आप पर डाकुओं की सहायता का अपराध लगा हुआ है।"

विनय—अभी आपने कहा है कि आपको मेरे विषय में ऐसी शंका नहीं है।"

दीवान साहब—"वह मेरी निजी राय थी, यह मेरी राजकीय सम्मति है।"

विनय—"आपको अख़्तियार है।"

विनयसिंह फिर मोटर पर बैठे, तो सोचने लगे—जहाँ ऐसे-ऐसे निर्लज्ज, अपनी अपकीर्ति पर बग़लें बजानेवाले कर्णधार हैं, उस नौका को ईश्वर ही पार लगाए, तो लगे। चलो, अच्छा ही हुआ। जेल में रहने से माताजी को तसकीन होगी। यहाँ से जान बचाकर भागता, तो वह मुझसे बिलकुल निराश हो जातीं। अब उन्हें मालूम हो जायगा कि उनका पत्र निष्फल नहीं हुआ। चलूँ, अब न्यायालय का स्वाँग भी देख लूँ।

सोफ़िया घर आई, तो उसके आत्मगौरव का पतन हो चुका था, अपनी ही निगाहों में गिर गई थी। उसे अब न रानी पर क्रोध था, न अपने माता-पिता पर, केवल अपनी आत्मा पर क्रोध था, जिसके हाथों उसकी इतनी दुर्गति हुई थी, जिसने उसे काँटों में उलझा दिया था। उसने निश्चय किया, मन को पैरों से कुचल डालूँगी, उसका निशान मिटा दूँगी। दुबिधा में पड़कर वह अपने मन को अपने ऊपर शासन करने का अवसर न देना चाहती थी, उसने सदा के लिये मुँह बंद कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। वह जानती थी, मन का मुँह बंद करना नितांत कठिन है; लेकिन वह चाहती थी, अब अगर मन कर्तव्य-मार्ग से विचलित हो, तो उसे अपने अनौचित्य पर लज्जा आए; जैसे कोई तिलकधारी वैष्णव शराब की भट्ठी में जाते हुए झिझकता है, और शर्म से गरदन नहीं उठा सकता, उसी तरह उसका मन भी संस्कार के बंधनों में पड़कर कुत्सित वासनाओं से झिझके। इस आत्मदमन के लिये वह कलुषता और कुटिलता का अपराध सिर पर लेने को तैयार थी; यावज्जीवन नैराश्य और वियोग की आग में जलने के लिये तैयार थी। वह आत्मा से उस अपमान का बदला लेना चाहती थी, जो उसे रानी के हाथों सहना पड़ा था। उसका मन शराब पर टूटता था, वह उसे विष पिलाकर उसकी प्यास बुझाना चाहती थी। उसने निश्चय कर लिया था, अपने को मि० क्लार्क के हाथों में सौंप दूँगी। आत्मदमन का इसके सिवा और कोई साधन न था।

किंतु उसका आत्मसम्मान कितना ही दलित हो गया हो, बाह्य

सम्मान अपने पूर्ण ओज पर था। अपने घर में उसका इतना आदर-सत्कार कभी न हुआ था। मिसेज़ सेवक की आँखों में वह कभी इतनी प्यारी न थी। उनके मुख से उसने कभी इतनी मीठी बातें न सुनी थीं। यहाँ तक कि वह अब उसकी धार्मिक विवेचनाओं से भी सहानुभूति प्रकट करती थीं। ईश्वरोपासना के विषय में भी अब उस पर अत्याचार न किया जाता था। वह अब अपनी इच्छा की स्वामिनी थी, और मिसेज़ यह देखकर आनंद से फूली न समाती थीं कि सोफ़िया सबसे पहले गिरजाघर पहुँच जाती थी। वह समझती थीं, मि० क्लार्क के सत्संग से यह सुसंस्कार हुआ है।

परंतु सोफ़िया के सिवा यह और कौन जान सकता है कि उसके दिल पर क्या बीत रही है। उसे नित्य प्रेम का स्वाँग भरना पड़ता था, जिससे उसे मानसिक घृणा होती थी। उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कृत्रिम भावों की नक़ल करनी पड़ती थी। उसे प्रेम और अनुराग के वे शब्द तन्मय होकर सुनने पड़ते थे, जो उसके हृदय पर हथौड़ों की चोटों की भाँति पड़ते थे। उसे उन अनुरक्त चितवनों का लक्ष्य बनना पड़ता था, जिनके सामने वह आँखें बंद कर लेना चाहती थी। मिस्टर क्लार्क की बातें कभी-कभी इतनी रसमयी हो जाती थीं कि सोफ़ी का जी चाहता था, इस स्वरचित रहस्य को खोल दूँ, इस कृत्रिम जीवन का अंत कर दूँ, लेकिन इसके साथ ही उसे अपनी आत्मा की व्यथा और जलन में एक ईर्ष्यामय आनंद का अनुभव होता था। पापी, तेरी यही सज़ा है, तू इसी योग्य है; तूने मुझे जितना अपमानित किया है, उसका तुझे प्रायश्चित्त करना पड़ेगा!

इस भाँति वह विरहिणी रो-रोकर जीवन के दिन काट रही थी, और विडंबना यह थी कि यह व्यथा शांत होती नज़र न आती थी। सोफ़िया अज्ञात रूप से मि० क्लार्क से कुछ खिंची हुई रहती

थी; हृदय बहुत दबाने पर भी उनसे न मिलता था। उसका यह खिंचाव क्लार्क की प्रेमाग्नि को और भी उत्तेजित करता रहता था। सोफ़िया इस अवस्था में भी अगर उन्हें मुँह न लगाती थी, तो इसका मुख्य कारण मि० क्लार्क की धार्मिक प्रवृत्ति थी। उसकी निगाह में धार्मिकता से बढ़कर कोई अवगुण न था। वह इसे अनुदारता, द्वेष, अहंकार और संकीर्णता का द्योतक समझती थी। क्लार्क दिल-ही-दिल में समझते थे कि सोफ़िया को मैं अभी नहीं पा सका, और इसीलिये बहुत उत्सुक होने पर भी उन्हें सोफ़िया से प्रस्ताव करने का साहस न होता था। उन्हें यह पूर्ण विश्वास न होता था कि मेरी प्रार्थना स्वीकृत होगी। किंतु आशा-सूत्र उन्हें सोफ़िया के दामन से बाँधे हुए था।

इसी प्रकार एक वर्ष से अधिक गुज़र गया, और मिसेज़ सेवक को अब संदेह होने लगा कि सोफ़िया कहीं हमें सब्ज़ बाग़ तो नहीं दिखा रही है। आख़िर एक दिन उन्होंने सोफ़िया से कहा—"मेरी समझ में नहीं आता तू रात-दिन मि० क्लार्क के साथ बैठी-बैठी क्या किया करती है, क्या बात है, क्या वह प्रोपोज़ (प्रस्ताव) ही नहीं करते, या तू ही उनसे भागी-भागी फिरती है ?"

सोफ़िया शर्म से लाल होकर बोली—"वह प्रोपोज़ ही नहीं करना चाहते, तो क्या मैं उनकी ज़बान हो जाऊँ ?"

मिसेज़ सेवक—"यह तो हो ही नहीं सकता कि स्त्री चाहे, और पुरुष प्रस्ताव न करे। वह तो आठो पहर अवसर देखा करता है। तू ही उन्हें फटकने न देती होगी।"

सोफ़िया—"मामा, ऐसी बातें करके मुझे लज्जित न कीजिए।"

मिसेज़ सेवक—"क़ुसूर तुम्हारा है, और अगर तुम दो-चार दिन में मि० क्लार्क को प्रोपोज़ करने का अवसर न दोगी, तो फिर मैं तुम्हें रानी साहबा के पास भेज दूँगी, और फिर बुलाने का नाम भी न लूँगी।"

सोफ़ी थर्रा गई। रानी के पास लौटकर जाने से मर जाना कहीं अच्छा था। उसने मन में ठान लिया—आज वह करूँगी, जो आज तक किसी स्त्री ने न किया होगा। साफ़ कह दूँगी, मेरे घर का द्वार मेरे लिये बंद है। अगर आप मुझे आश्रय देना चाहते हों, तो दीजिए, नहीं तो मैं अपने लिये कोई और रास्ता निकालूँ। मुझसे प्रेम की आशा न रखिए। आप मेरे स्वामी हो सकते हैं, प्रियतम नहीं हो सकते। यह समझकर आप मुझे अंगीकार करते हों, तो कीजिए; वरना फिर मुझे अपनी सूरत न दिखाइएगा।

संध्या हो गई थी। माघ का महीना था; उस पर हवा, फिर बादल; सर्दी के मारे हाथ-पाँव अकड़े जाते थे। न कहीं आकाश का पता था, न पृथ्वी का। चारो तरफ़ कुहरा-ही-कुहरा नज़र आता था। रविवार था। ईसाई स्त्रियाँ और पुरुष साफ़-सुथरे कपड़े और मोटे-मोटे ओवर-कोट पहने हुए एक-एक करके गिरजाघर में दाख़िल हो रहे थे। एक क्षण में जॉन सेवक, उनकी स्त्री, प्रभु सेवक और ईश्वर सेवक फ़िटन से उतरे। और लोग तो तुरत अंदर चले गए, केवल सोफ़िया बाहर रह गई। सहसा प्रभु सेवक ने बाहर आकर पूछा—"क्यों सोफ़ी, मिस्टर क्लार्क अंदर गए?"

सोफ़िया—"हाँ, अभी-अभी गए हैं।"

प्रभु सेवक—"और तुम?"

सोफ़िया ने दीन भाव से कहा—"मैं भी चली जाऊँगी।"

प्रभु सेवक—"आज तुम बहुत उदास मालूम होती हो।"

सोफ़िया की आँखें अश्रु-पूर्ण हो गईं। बोली—"हाँ प्रभु, आज मैं बहुत उदास हूँ। आज मेरे जीवन में सबसे महान् संकट का दिन है; क्योंकि आज मैं क्लार्क को प्रोपोज़ करने के लिये मजबूर करूँगी। मेरा नैतिक और मानसिक पतन हो गया। अब मैं अपने सिद्धांतों पर जान देनेवाली, अपने ईमान को ईश्वरीय इच्छा समझने-

वाली, धर्म-तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर परखनेवाली सोफ़िया नहीं हूँ। वह सोफ़िया संसार में नहीं है। अब मैं जो कुछ हूँ, वह अपने मुँह से कहते हुए मुझे स्वयं लज्जा आती है।''

प्रभु सेवक कवि होते हुए भी उस भावना-शक्ति से वंचित था, जो दूसरों के हृदय में पैठकर उनकी दशा का अनुभव करती है। वह कल्पना-जगत् में नित्य विचरता रहता था, और ऐहिक सुख-दुःख से अपने को चिंतित बनाना उसे हास्यास्पद जान पड़ता था। ये दुनिया के झमेले हैं, इनमें क्यों सिर खपाएँ, मनुष्य को भोजन करना और मस्त रहना चाहिए। यही शब्द सोफ़िया के मुख से सैकड़ों बार सुन चुका था। झुँझलाकर बोला—"तो इसमें रोने-धोने की क्या ज़रूरत है? अम्मा से साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह देतीं? उन्होंने तुम्हें मजबूर तो नहीं किया है।''

सोफ़िया ने उसका तिरस्कार करते हुए कहा—"प्रभु, ऐसी बातों से दिल न दुखाओ। तुम क्या जानो, मेरे दिल पर क्या गुज़र रही है। अपनी इच्छा से कोई विष का प्याला नहीं पीता। शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो कि मैं तुमसे अपनी सैकड़ों बार की कही हुई कहानी न कहती होऊँ।। फिर भी तुम कहते हो, तुम्हें मजबूर किसने किया! तुम तो कवि हो, तुम इतने भाव-शून्य कैसे हो गए? मजबूरी के सिवा आज मुझे कौन यहाँ खींच लाया? आज मेरी यहाँ आने की ज़रा भी इच्छा न थी; पर यहाँ मौजूद हूँ। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, धर्म का रहा-सहा महत्त्व भी मेरे दिल से उठ गया। मूर्खों को यह कहते हुए लज्जा नहीं आती कि मज़हब खुदा की बरकत है। मैं कहती हूँ, यह ईश्वरीय कोप है—दैवी वज्र है, जो मानव-जाति के सर्वनाश के लिये अवतरित हुआ है। इसी कोप के कारण आज मैं विष का घूँट पी रही हूँ। रानी जाह्नवी-जैसी सहृदय महिला के मुझसे यों आँखें फेर लेने का और क्या कारण

था ? मैं उस देव-पुरुष से क्यों छल करती, जिसकी हृदय में आज भी उपासना करती हूँ, और नित्य करती रहूँगी ? अगर यह कारण न होता, तो मुझे अपनी आत्मा को यह निर्दयता-पूर्ण दंड देना ही क्यों पड़ता ? मैं इस विषय पर जितना ही विचार करती हूँ, उतनी ही धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती है। आह ! मेरी निष्ठुरता से विनय को कितना दुःख हुआ होगा, इसकी कल्पना ही से मेरे प्राण सूखे जाते हैं। वह देखो, मि० क्लार्क बुला रहे हैं। शायद सरमन (उपदेश) शुरू होनेवाला है। चलना पड़ेगा, नहीं तो मामा जीता न छोड़ेंगी।"

प्रभु सेवक तो क़दम बढ़ाते हुए जा पहुँचे; सोफ़िया दो-ही-चार क़दम चली थी कि एकाएक उसे सड़क पर किसी के गाने की आहट मिली। उसने सिर उठाकर चहारदीवारी के ऊपर से देखा, एक अंधा आदमी, हाथ में खँजरी लिए, यह गीत गाता हुआ चला जाता है—

भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?
बीरों का काम है लड़ना, कुछ नाम जगत में करना,
क्यों निज मरजादा छोड़ै ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?
क्यों जीत की तुझको इच्छा, क्यों हार की तुझको चिंता,
क्यों दुख से नाता जोड़ै ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?
तू रंगभूमि में आया दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम-नीति को तोड़ै ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै ?

सोफ़िया ने अंधे को पहचान लिया; सूरदास था। वह इस गीत को कुछ इस तरह मस्त होकर गाता था कि सुननेवालों के

दिल पर चोट-सी लगती थी। लोग राह चलते-चलते सुनने को खड़े हो जाते थे। सोफ़िया तल्लीन होकर यह गीत सुनती रही। उसे इस पद में जीवन का संपूर्ण रहस्य कूट-कूटकर भरा हुआ मालूम होता था—

"तू रंगभूमि में आया दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम-नीति को तोड़े ? भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?"

राग इतना सुरीला, इतना मधुर, इतना उत्साह-पूर्ण था कि एक समा-सा छा गया। राग पर खँजरी की ताल और भी आफ़त करती थी। जो सुनता था, सिर धुनता था।

सोफ़िया भूल गई कि मैं गिरजे में जा रही हूँ, सरमन की ज़रा भी याद न रही। वह बड़ी देर तक फाटक पर खड़ी यह 'सरमन' सुनती रही। यहाँ तक कि सरमन समाप्त हो गया, भक्तजन बाहर निकलकर चले। मि० क्लार्क ने आकर धीरे से सोफ़िया के कंधे पर हाथ रक्खा, तो वह चौंक पड़ी।

क्लार्क—"लार्ड बिशप का सरमन समाप्त हो गया, और तुम अभी तक यहीं खड़ी हो!"

सोफ़िया— इतनी जल्द! मैं ज़रा इस अंधे का गान सुनने लगी। सरमन कितनी देर हुआ होगा ?"

क्लार्क—आध घंटे से कम न हुआ होगा। लॉर्ड बिशप के सरमन संक्षिप्त होते हैं ; पर अत्यंत मनोहर। मैंने ऐसा दिव्य, ज्ञान में डूबा हुआ, उपदेश आज तक न सुना था, इँगलैंड में भी नहीं। खेद है, तुम न आईं।"

सोफ़िया—"मुझे आश्चर्य होता है कि मैं यहाँ आध घंटे तक खड़ी रही!"

इतने में मि० ईश्वर सेवक अपने परिवार के साथ आकर खड़े हो गए। मिसेज़ सेवक ने क्लार्क को मातृस्नेह से देखकर पूछा—

"क्यों विलियम, सोफ़ी आज के सरमन के विषय में क्या कहती है ?"

क्लार्क—"यह तो अंदर गई ही नहीं ।"

मिसेज़ सेवक ने सोफ़िया को अवहेलना की दृष्टि से देखकर कहा—"सोफ़ी, यह तुम्हारे लिये शर्म की बात है ।"

सोफ़ी लज्जित होकर बोली—"मामा, मुझसे बड़ा अपराध हुआ । मैं इस अंधे का गाना सुनने के लिये ज़रा रुक गई, इतने में सरमन समाप्त हो गया ।"

ईश्वर सेवक—"बेटी, आज का सरमन सुधा-तुल्य था, जिसने आत्मा को तृप्त कर दिया । जिसने नहीं सुना, वह उम्र-भर पछ-ताएगा । प्रभु, मुझे अपने दामन में छिपा । ऐसा सरमन आज तक न सुना था ।"

मिसेज़ सेवक—"आश्चर्य है कि उस स्वर्गोपम सुधा-वृष्टि के सामने तुम्हें यह ग्रामीण गान अधिक प्रिय मालूम हुआ ।"

प्रभु सेवक—"मामा, यह न कहिए । ग्रामीणों के गाने में कभी-कभी इतना रस होता है, जो बड़े-बड़े कवियों की रचनाओं में भी दुर्लभ है ।"

मिसेज़ सेवक—"अरे, यह तो वही अंधा है, जिसकी ज़मीन हमने ले ली है । आज यहाँ कैसे आ पहुँचा ? अभागे ने रुपए न लिए, अब गली-गली भीख माँगता फिरता है ।"

सहसा सूरदास ने उच्च स्वर से कहा—"दुहाई है पंचो, दुहाई है । सेवक साहब और राजा साहब ने मेरी जमीन जबरजस्ती छीन ली है । मुझ दुखिया की फरियाद कोई नहीं सुनता । दुहाई है !"

"दुरबल को न सताइए, जाकी मोटी हाय ;
मुई खाल की साँस सों सार भस्म होइ जाय ।"

क्लार्क ने मि० सेवक से पूछा—"उसकी ज़मीन तो मुआवज़ा देकर ली गई थी न? अब यह कैसा झगड़ा है?"

मि० सेवक—"उसने मुआवज़ा नहीं लिया। रुपए ख़ज़ाने में जमा कर दिए गए हैं। बदमाश आदमी है।"

एक ईसाई बैरिस्टर ने, जो चतारी के राजा साहब के प्रतियोगी थे, सूरदास से पूछा—"क्यों अंधे, कैसी ज़मीन थी? राजा साहब ने कैसे ले ली?"

सूरदास—"हज़ूर, मेरे बाप-दादों की ज़मीन है। सेवक साहब वहाँ चुरुट बनाने का कारख़ाना खोल रहे हैं। उनके कहने से राजा साहब ने वह ज़मीन मुझसे छीन ली है। दुहाई है सरकार की, दुहाई पंचो, ग़रीब की कोई नहीं सुनता।"

ईसाई बैरिस्टर ने क्लार्क से कहा—"मेरे विचार में व्यक्तिगत लाभ के लिये किसी की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करना मुनासिब नहीं है।"

क्लार्क—"बहुत अच्छा मुआवज़ा दिया गया है।"

बैरिस्टर—"आप किसी को मुआवज़ा लेने के लिये मजबूर नहीं कर सकते, जब तक आप यह सिद्ध न कर दें कि आप ज़मीन को किसी सार्वजनिक कार्य के लिये ले रहे हैं।"

काशी-आयरन-वर्क्स के मालिक मिस्टर जॉन बर्ड ने, जो जॉन सेवक के पुराने प्रतिद्वंद्वी थे, कहा—"बैरिस्टर साहब, क्या आपको नहीं मालूम है कि सिगरेट का कारख़ाना खोलना परम परमार्थ है? सिगरेट पीनेवाले आदमी को स्वर्ग पहुँचने में ज़रा भी दिक़्क़त नहीं होती।"

प्रोफ़ेसर चार्ल्स सिमियन, जिन्होंने सिगरेट के विरोध में एक पैंफ़्लेट लिखा था, बोले—"अगर सिगरेट के कारख़ाने के लिये सरकार ज़मीन दिला सकती है, तो कोई कारण नहीं है कि चकलों के लिये न दिलाए। सिगरेट के कारख़ाने के लिये ज़मीन पर क़ब्ज़ा करना उस धारा का दुरुपयोग करना है। मैंने अपने पैंफ़्लेट में

संसार के बड़े-से-बड़े विद्वानों और डॉक्टरों की सम्मतियाँ लिखी थीं। स्वास्थ्य-नाश का मुख्य कारण सिगरेट का बहुत प्रचार है। खेद है, उस पैंफ़लेट की जनता ने क़द्र न की।"

काशी-रेलवे-यूनियन के मंत्री मिस्टर नीलमणि ने कहा—"ये सभी नियम पूँजीपतियों के लाभ के लिये बनाए गए हैं, और पूँजीपतियों ही को यह निश्चय करने का अधिकार दिया गया है कि उन नियमों का कहाँ व्यवहार करें। कुत्ते को खाल की रखवाली सौंपी गई है। क्यों अंधे, तेरी ज़मीन कुल कितनी है?"

सूरदास—"हजूर, दस बीघे से कुछ ज़्यादा ही होगी। सरकार, बाप-दादों की यही निसानी है। पहले राजा साहब मुझसे मोल माँगते थे, जब मैंने न दिया, तो जबरजस्ती ले ली। हजूर, अंधा-अपाहिज हूँ, आपके सिवा किससे फरियाद करूँ? कोई सुनेगा तो सुनेगा, नहीं भगवान् तो सुनेंगे।"

जॉन सेवक अब वहाँ पल-भर भी न ठहर सके। वाद-विवाद हो जाने का भय था, और संयोग से उनके सभी प्रतियोगी एकत्र हो गए थे। मिस्टर क्लार्क भी सोफ़िया के साथ अपनी मोटर पर आ बैठे। रास्ते में जॉन सेवक ने कहा—"कहीं राजा साहब ने इस अंधे की फ़रियाद सुन ली, तो उनके हाथ-पाँव फूल जायँगे।"

मिसेज़ सेवक—"पाजी आदमी है। इसे पुलिस के हवाले क्यों नहीं करा देते?"

ईश्वर सेवक—"नहीं बेटा, ऐसा भूलकर भी न करना; नहीं तो अख़बारवाले इस बात का बतंगड़ बनाकर तुम्हें बदनाम कर देंगे। प्रभु, मेरा मुँह अपने दामन में छिपा, और इस दुष्ट की ज़बान बंद कर दे।"

मिसेज़ सेवक—"दो-चार दिन में आप ही शांत हो जायगा। ठेकेदारों को ठीक कर लिया न?"

जॉन सेवक—"हाँ, काम तो आज कल में शुरू हो जानेवाला है, मगर इस मूज़ी को चुप करना आसान नहीं है। मोहल्लेवालों को तो मैंने फोड़ लिया, वे सब इसकी मदद न करेंगे; मगर मुझे आशा थी कि उधर से सहारा न पाकर इसकी हिम्मत टूट जायगी। वह आशा पूरी न हुई। मालूम होता है, बड़े जीवट का आदमी है, आसानी से क़ाबू में आनेवाला नहीं है। राजा साहब का म्युनिसिपल बोर्ड में अब वह ज़ोर नहीं रहा; नहीं तो कोई चिंता न था। उन्हें पूरे साल-भर तक बोर्डवालों की ख़ुशामद करनी पड़ी, तब जाकर वह प्रस्ताव मंज़ूर करा सके। ऐसा न हो, बोर्डवाले फिर कोई चाल चलें।"

इतने में राजा महेंद्रकुमार की मोटर सामने आकर रुकी। राजा साहब बोले—"आपसे ख़ूब मुलाक़ात हुई। मैं आपके बँगले से लौटा आ रहा हूँ। आइए, हम और आप सैर कर आएँ। मुझे आपसे कुछ ज़रूरी बातें करनी हैं।"

जब जॉन सेवक मोटर पर आ बैठे, तो बातें होने लगीं। राजा साहब ने कहा—"आपका सूरदास तो एक ही दुष्ट निकला। कल से सारे शहर में घूम-घूमकर गाता है, और हम दोनो को बदनाम करता है। अंधे गाने में कुशल होते ही हैं। उसका स्वर बहुत ही लोचदार है। बात-की-बात में हज़ारों आदमी घेर लेते हैं। जब ख़ूब जमाव हो जाता है, तो वह दुहाई मचाता है, और हम दोनो को बदनाम करता है।"

जॉन सेवक—"अभी चर्च में आ पहुँचा था। बस, वही दुहाई देता था। प्रोफ़ेसर सिमियन, मि० नीलमणि आदि महापुरुषों को तो आप जानते ही हैं, उसे और भी उकसा रहे हैं। शायद अभी वहीं खड़ा हो।"

महेंद्रकुमार—"मिस्टर क्लार्क से तो कोई बातचीत नहीं हुई?"

जॉन सेवक—"थे तो वह भी, उनकी सलाह है कि अंधे को

पागलख़ाने भेज दिया जाय । मैं मना न करता, तो वह उसी वक़्त थानेदार को लिखते ।"

महेंद्रकुमार— आपने बहुत अच्छा किया; उन्हें मना कर दिया। उसे पागलख़ाने या जेलख़ाने भेज देना आसान है; लेकिन जनता को यह विश्वास दिलाना कठिन है कि उसके साथ अन्याय नहीं किया गया। मुझे तो उसकी दुहाई-तिहाई की परवा न होती ; पर आप जानते हैं, हमारे कितने दुश्मन हैं। अगर उसका यही ढंग रहा, तो दस-पाँच दिनों में हम सारे शहर में नक्कू बन जायँगे ।"

जॉन सेवक—"अधिकार और बदनामी का तो चोली-दमन का साथ है। इसकी चिंता न कीजिए। मुझे तो यह अफ़सोस है कि मैंने मोहल्लेवालों को क़ाबू में लाने के लिये बड़े-बड़े वादे कर लिए। जब अंधे पर किसी का कुछ असर ही न हुआ, तो मेरे वादे बेकार हो गए ।"

महेंद्रकुमार—"अजी, आपकी तो जीत-ही-जीत है, गया तो मैं। इतनी ज़मीन आपको दस हज़ार से कम में न मिलती। धर्मशाला बनवाने में आपके इतने ही रुपए लगेंगे। मिट्टी तो मेरी ख़राब हुई। शायद जीवन में यह पहला ही अवसर है कि मैं जनता की आँखों में गिरता हुआ नज़र आता हूँ। चलिए, ज़रा पाँड़ेपुर तक हो आएँ। संभव है, मोहल्लेवालों के समझाने का अब भी कुछ असर हो ।"

मोटर पाँड़ेपुर की तरफ़ चली। सड़क ख़राब थी, राजा साहब ने इंजीनियर को ताकीद कर दी थी कि सड़क की मरम्मत का प्रबंध किया जाय; पर अभी तक कहीं कंकड़ भी न नज़र आता था। उन्होंने अपनी नोटबुक में लिखा, इसका जवाब तलब किया जाय। चुंगी-घर पहुँचे, तो देखा कि चुंगी का मुंशी आराम से चारपाई पर लेटा हुआ है, और कई गाड़ियाँ सड़क पर रक्खे के लिये खड़ी हैं। मुंशीजी ने मन में निश्चय कर लिया है कि गाड़ी पीछे १) लिए

बिना रवन्ना न दूँगा; नहीं तो गाड़ियों को यहीं रात-भर खड़ी रक्खूँगा। राजा साहब ने जाते-ही-जाते गाड़ीवालों को रवन्ना दिला दिया, और मुंशीजी के रजिस्टर पर यह कैफ़ियत लिख दी। पाँड़ेपुर पहुँचे, तो अँधेरा हो चला था। मोटर रुकी। दोनो महाशय उतरकर मंदिर पर आए। नायकराम लुंगी बाँधे हुए भंग घोट रहे थे, दौड़े हुए आए। बजरंगी नाँद में पानी भर रहा था, आकर खड़ा हो गया। सलाम-बंदगी के पश्चात् जॉन सेवक ने नायकराम से कहा—"अंधा तो बहुत बिगड़ा हुआ है।

नायकराम—"सरकार, बिगड़ा तो इतना है कि जिस दिन डौंड़ी पिटी, उस दिन से घर नहीं आया। सारे दिन सहर में घूमता है; भजन गाता है, और दुहाई मचाता है।"

राजा साहब—"तुम लोगों ने उसे कुछ समझाया नहीं ?"

नायकराम—"दीनबंधु, अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं। दूसरा आदमी हो, तो मार-पीट की धमकी से सीधा हो जाय; पर उसे तो डर-भय जैसे छू ही नहीं गया। उसी दिन से घर नहीं आया।"

राजा साहब—तुम लोग उसे समझा-बुझाकर यहाँ लाओ। सारा संसार छान आए हो; एक मूर्ख को क़ाबू में नहीं ला सकते।"

नायकराम—"सरकार, समझाना-बुझाना तो मैं नहीं जानता, जो हुकुम हो, हाथ-पैर तोड़कर बैठा दूँ, आप ही चुप हो जायगा।"

राजा साहब—"छी, छी, कैसी बातें करते हो। मैं देखता हूँ, यहाँ पानी का नल नहीं है। तुम लोगों को तो बहुत कष्ट होता होगा। मिस्टर सेवक, आप यहाँ नल पहुँचाने का ठेका ले लीजिए।"

नायकराम—"बड़ी दया है दीनबंधु, नल आ जाय, तो क्या कहना है।"

राजा साहब—"तुम लोगों ने कभी इसके लिये दरख़्वास्त ही नहीं दी।"

नायकराम—"सरकार, यह बस्ती हद-बाहर है।"

राजा साहब—"कोई हरज नहीं, नल लगा दिया जायगा।"

इतने में ठाकुरदीन ने आकर कहा—"सरकार, मेरी भी कुछ खातिरी हो जाय।"

यह कहकर उसने चाँदी के वरक़ में लिपटे हुए पान के बीड़े दोनो महानुभावों की सेवा में अर्पित किए। मि० सेवक को अँगरेज़ी वेष-भूषा रखने पर भी, पान से घृणा न थी, शौक़ से खाया। राजा साहब मुँह में पान रखते हुए बोले—"क्या यहाँ लालटेनें नहीं हैं? अँधेरे में तो बड़ी तकलीफ़ होती होगी।"

ठाकुरदीन ने नायकराम की ओर मार्मिक दृष्टि से देखा, मानो यह कह रहा है कि मेरे बीड़ों ने यह रंग जमा दिया। बोला—"सरकार, हम लोगों की कौन सुनता है, अब हुजूर की निगाह हो गई है, तो लग ही जायँगी। बस, और कहीं नहीं, इसी मंदिर पर एक लालटेन लगा दी जाय। साधु-महात्मा आते हैं, तो अँधेरे में उन्हें कष्ट होता है। लालटेन से मंदिर की सोभा बढ़ जायगी। सब आपको आसीरबाद देंगे।"

राजा साहब—"तुम लोग एक प्रार्थना-पत्र भेज दो।"

ठाकुरदीन—"हुजूर के परताप से दो-एक साधु-संत रोज ही आते रहते हैं। अपने से जो कुछ हो सकता है, उनका सेवा-सतकार करता हूँ। नहीं तो यहाँ और कौन पूछनेवाला है। सरकार, जब से चोरी हो गई, तब से हिम्मत टूट गई।"

दोनो आदमी मोटर पर बैठनेवाले ही थे कि सुभागी एक लाल साड़ी पहने, घूँघट निकाले, आकर ज़रा दूर पर खड़ी हो गई, मानो कुछ कहना चाहती है। राजा साहब ने पूछा—"यह कौन है? क्या कहना चाहती है?"

नायकराम—"सरकार, एक पासिन है। क्या है सुभागी, कुछ कहने आई है?"

सुभागी—(धीरे से) "कोई सुनेगा ?"

राजा साहब—हाँ, हाँ, कह। क्या कहती है?"

सुभागी—"कुछ नहीं मालिक, यही कहने आई थी कि सूरदास के साथ बड़ा अन्याय हुआ है। अगर उनकी फरियाद न सुनी गई, तो वह मर जायँगे।"

जॉन सेवक—"उसके मर जाने के डर से सरकार अपना काम छोड़ दे?"

सुभागी—"हजूर, सरकार का काम परजा को पालना है कि उजाड़ना? जब से यह जमीन निकल गई है, बेचारे को न खाने की सुध है, न पीने की। हम ग़रीब औरतों का तो वही एक आधार है, नहीं तो मोहल्ले के मरद कभी औरतों को जीता न छोड़ते। और मरदों की तो मिली-भगत है। मरद चाहे औरत के अंग-अंग, पोर-पोर काट डाले, कोई उसको मने नहीं करता। चोर-चोर मौसेरे भाई हो जाते हैं। वही एक बेचारा था कि हम गरीबों की पीठ पर खड़ा हो जाता था।"

भैरो भी आकर खड़ा हो गया था। बोला—"हजूर, सूरे न होता, तो यह आपके सामने खड़ी न होती। उसी ने जान पर खेलकर इसकी जान बचाई थी।"

राजा साहब—"जीवट का आदमी मालूम होता है।"

नायकराम—"जीवट क्या है सरकार, बस यह समझिए कि हत्या के बल जीतता है।"

राजा साहब—"बस, यह बात तुमने बहुत ठीक कही, हत्या ही के बल जीतता है। चाहूँ, तो आज पकड़वा दूँ; पर सोचता हूँ, अंधा है, उस पर क्या ग़ुस्सा दिखाऊँ। तुम लोग उसके पड़ोसी हो,

तुम्हारी बात कुछ-न-कुछ सुनेगा ही। तुम लोग उसे समझाओ। नायकराम, हम तुमसे बहुत ज़ोर देकर कहे जाते हैं।"

एक घंटा रात जा चुकी थी। कुहरा और भी घना हो गया था। दूकानों के दीपकों के चारो तरफ़ कोई मोटा काग़ज़-सा पड़ा हुआ जान पड़ता था। दोनो महाशय बिदा हुए; पर दोनो ही चिंता में डूबे हुए थे। राजा साहब सोच रहे थे कि देखें, लालटेन और पानी के नल का कुछ असर होता है या नहीं। जॉन सेवक को चिंता थी कि कहीं मुझे जीती-जिताई बाज़ी न खोनी पड़े।

[१९]

सोफ़िया अपनी चिंताओं में ऐसा व्यस्त हो रही थी कि सूरदास को बिलकुल भूल-सी गई थी। उसकी फ़रियाद सुनकर उसका हृदय काँप उठा। इस दीन प्राणी पर इतना घोर अत्याचार ! उसका दयालु प्रकृति यह अन्याय न सह सकी। सोचने लगी—सूरदास को इस विपत्ति से क्योंकर मुक्त करूँ ? इसका उद्धार कैसे हो ? अगर पापा से कहूँ, तो वह हर्गिज़ न सुनेंगे। उन्हें अपने कारख़ाने का ऐसा धुन सवार है कि वह इस विषय में मेरे मुँह से एक शब्द सुनना भी पसंद न करेंगे।

बहुत सोच-विचार के बाद उसने निश्चय किया—चलकर इंदु से प्रार्थना करूँ। अगर वह राजा साहब से ज़ोर देकर कहेगी, तो संभव है, राजा साहब मान जायँ। पिता से विरोध करते उसे बड़ा दुःख होता था; पर उसकी धार्मिक दृष्टि में दया का महत्त्व इतना ऊँचा था कि उसके सामने पिता के हानि-लाभ की कोई हस्ती न थी। जानती थी, राजा साहब दीनवत्सल हैं, और उन्होंने सूरदास पर केवल मि० क्लार्क की ख़ातिर से यह वज्राघात किया है। जब उन्हें ज्ञात हो जायगा कि मैं इस काम के लिये उनकी ज़रा भी कृतज्ञ न हूँगी, तो शायद वह अपने निर्णय पर पुनः विचार करने के लिये तैयार हो जायँ। यहाँ ज्यों ही यह बात खुलेगी, सारा घर मेरा दुश्मन हो जायगा; पर इसकी क्या चिंता। इस भय से मैं अपना कर्तव्य तो नहीं छोड़ सकती।

इसी हैसबैस में तीन दिन गुज़र गए। चौथे दिन प्रातःकाल वह इंदु से मिलने चली। सवारी किराए की थी। सोचती जाती थी—

ज्यों ही अंदर क़दम रक्खूँगी, इंदु दौड़कर गले लिपट जायगी, शिकायत करेगी कि इतने दिनों के बाद क्यों आई हो। हो सकता है कि आज मुझे आने भी न दे। वह राजा साहब को ज़रूर राज़ी कर लेगी। न-जाने पापा ने राजा साहब को कैसे चकमा दिया।

यही सोचते-सोचते वह राजा साहब के मकान पर पहुँच गई, और इंदु को ख़बर दी। उसे विश्वास था कि मुझे लेने के लिये इंदु ख़ुद निकल आएगी, किंतु १५ मिनट इंतज़ार करने के बाद एक दासी आई, और उसे अंदर ले गई।

सोफ़िया ने जाकर देखा कि इंदु अपने बैठने के कमरे में दुशाला ओढ़े, अँगीठी के सामने, एक कुर्सी पर, बैठी हुई है। सोफ़िया ने कमरे में क़दम रक्खा, तब भी इंदु कुर्सी से न उठी, यहाँ तक कि सोफ़िया ने हाथ बढ़ाया, तब भी रुखाई से हाथ बढ़ा देने के सिवा इंदु मुँह से कुछ न बोली। सोफ़िया ने समझा, इसका जी अच्छा नहीं है। बोली—"सिर में दर्द है क्या ?"

उसकी समझ ही में न आता था कि बीमारी के सिवा इस निष्ठुरता का और भी कोई कारण हो सकता है।

इंदु ने क्षीण स्वर में कहा—"नहीं, अच्छी तो हूँ। इस सर्दी-पाले में तो तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ।"

सोफ़िया मानशीला स्त्री थी। इंदु की इस निष्ठुरता से उसके दिल पर चोट-सी लगी। पहला विचार तो हुआ कि उलटे-पाँव वापस जाऊँ; मगर यह सोचकर कि यह बहुत ही हास्य-जनक बात होगी, उसने दुस्साहस करके एक कुर्सी खींची, और उस पर बैठ गई।

"आपसे मिले साल-भर से अधिक हो गया।"

"हाँ, मुझे कहीं आने-जाने की फ़ुरसत कम रहती है। मड़ियाहू की रानी साहब एक महीने में तीन बार आ चुकी हैं, मैं एक बार भी न जा सकी।"

सोफ़िया दिल में हँसती हुई व्यंग्य से बोली—"जब रानियों को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, तो मैं किस गिनती में हूँ ! क्या कुछ रियासत का काम भी देखना पड़ता है ?"

"कुछ नहीं, सब कुछ । राजा साहब को जातीय कार्यों से अवकाश ही नहीं मिलता, तो घर का कारोबार देखनेवाला भी तो कोई चाहिए । मैं भी देखती हूँ कि जब इन्हीं कामों की बदौलत उनका वह सम्मान है, जो बड़े-से-बड़े हाकिमों को भी प्राप्त नहीं है, तो उनसे ज़्यादा छेड़-छाड़ नहीं करती ।"

सोफ़िया अभी तक न समझ सकी कि इंदु की अप्रसन्नता का कारण क्या है ! बोली—"आप बड़ी भाग्यशालिनी हैं कि इस तरह उनके सत्कार्यों में हाथ बटा सकती हैं। राजा साहब की सुकीर्ति आज सारे शहर में छाई हुई है ; लेकिन बुरा न मानिएगा, कभी-कभी वह भी मुँह-देखी कर जाते हैं, और बड़ों के आगे छोटों की परवा नहीं करते ।"

"शायद उनकी यह पहली शिकायत है, जो मेरे कान में आई है ।"

"हाँ, दुर्भाग्यवश यह काम मेरे ही सिर पड़ा । सूरदास को तो आप जानती ही हैं । राजा साहब ने उसकी ज़मीन पापा को दे दी है । बेचारा आजकल गली-गली दुहाई देता फिरता है । पिता के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से निकालना मेरे लिये लज्जास्पद है, यह समझती हूँ । फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस मौक़े पर राजा साहब को एक दीन प्राणी पर ज़्यादा दया करनी थी ।"

इंदु ने सोफ़िया को प्रश्न-सूचक नेत्रों से देखकर कहा—"आज कल पिता से भी अनबन है क्या ?"

सोफ़िया ने गर्व से कहा—"न्याय और कर्तव्य के सामने पिता, पुत्र या पति का पक्षपात न किया जाय, तो कोई लज्जा की बात नहीं है ।"

"तो तुम्हें पहले अपने पिता ही को सन्मार्ग पर लाना चाहिए

था। राजा साहब ने जो कुछ किया, तुम्हारी ख़ातिर किया, और तुम्हीं उन पर इलज़ाम रखती हो? कितने शोक की बात है! उन्हें मि० सेवक, मि० क्लार्क या संसार के किसी अन्य व्यक्ति से दबने की ज़रूरत नहीं है; किंतु इस अवसर पर उन्होंने तुम्हारे पापा का पक्ष न किया होता, तो शायद सबसे पहले तुम्हीं उन पर कृतघ्नता का दोषारोपण करतीं। सूरदास पर यह अन्याय इसलिये किया गया कि तुमने एक संकट में विनय की रक्षा की है, और तुम अपने पिता की बेटी हो।"

सोफ़िया ये कठोर शब्द सुनकर तिलमिला गई। बोली—"अगर मैं जानती कि मेरी उस क्षुद्र सेवा का यों प्रतिकार किया जायगा, तो शायद विनयसिंह के समीप न जाती। क्षमा कीजिए, मुझसे भूल हुई कि आपके पास यह शिकायत लेकर आई। सुना करती थी, अमीरों में स्थिरता नहीं होती। आज उसका प्रमाण मिल गया। लीजिए, जाती हूँ। मगर इतना कहे जाती हूँ कि चाहे पापा मेरा मुँह देखना भी पाप समझें, पर मैं इस विषय में कदापि चुप न बैठूँगी।"

इंदु कुछ नरम होकर बोली—"आख़िर तुम राजा साहब से क्या चाहती हो?"

"क्या ऐश्वर्य पाकर बुद्धि भी मंद हो जाती है?"

"मैं प्यादे से वज़ीर नहीं बनी हूँ।"

"खेद है, आपने अब तक मेरा आशय नहीं समझा।"

"खेद करने से तो बात मेरी समझ में न आएगी।"

"मैं चाहती हूँ कि सूरदास की ज़मीन उसे लौटा दी जाय।"

"तुम्हें मालूम है, इसमें राजा साहब का कितना अपमान होगा?"

"अपमान अन्याय से अच्छा है।"

"यह भी जानती हो कि जो कुछ हुआ, तुम्हारे......मि० क्लार्क की प्रेरणा से हुआ है ?"

"यह तो नहीं जानती; क्योंकि इस विषय में मेरी उनसे कभी बातचीत नहीं हुई। लेकिन जानती भी, तो राजा साहब की मान-हानि के विचार से पहले राजा साहब ही से अनुनय-विनय करना उचित समझती। अपनी भूल अपने ही हाथों सुधर जाय, तो यह उससे कहीं अच्छा है कि कोई दूसरा उसे सुधारे।"

इंदु को चोट लगी। समझा, यह मुझे धमकी दे रही है। मि० क्लार्क के अधिकार पर इतना अभिमान! तनकर बोली—"मैं नहीं समझती कि किसी राज्याधिकारी को बोर्ड के फ़ैसले में भी दख़ल देने का मजाज़ है, और चाहे एक दीन अंधे पर अत्याचार ही क्यों न करना पड़े, राजा साहब अपने फ़ैसले को बहाल रखने के लिये कोई बात उठा न रक्खेंगे। एक राजा का सम्मान एक क्षुद्र न्याय से कहीं ज़्यादा महत्त्व की वस्तु है।"

सोफ़िया ने व्यथित होकर कहा—"इसी क्षुद्र न्याय के लिये सत्यवादी पुरुषों ने सिर कटवा दिए हैं।"

इंदु ने कुर्सी की बाँह पर हाथ पटककर कहा—"न्याय का स्वाँग भरने का युग अब नहीं रहा।"

सोफ़िया ने कुछ उत्तर न दिया। उठ खड़ी हुई, और बोली—"इस कष्ट के लिये क्षमा कीजिएगा।"

इंदु अँगीठी की आग उकसाने लगी। सोफ़िया की ओर आँख उठाकर भी न देखा।

सोफ़िया वहाँ से चली, तो इंदु के दुर्व्यवहार से उसका कोमल हृदय विदीर्ण हो रहा था। सोचती जाती थी—वह हँसमुख, प्रसन्न-चित्त, विनोदशील इंदु कहाँ है? क्या ऐश्वर्य मानव-प्रकृति को भी दूषित कर देता है? मैंने तो आज तक कभी इसका दिल दुखानेवाली

बात नहीं कही। क्या मैं ही कुछ और हो गई हूँ, या वहाँ कुछ और हो गई है? इसने मुझसे सीधे मुँह बात भी नहीं की। बात करना तो दूर, उलटे और गालियाँ सुनाईं। मैं इस पर कितना विश्वास करती थी। समझती थी, देवी है। आज इसका यथार्थ स्वरूप दिखाई पड़ा। लेकिन मैं इसके ऐश्वर्य के सामने क्यों सिर झुकाऊँ? इसने अकारण, निष्प्रयोजन ही, मेरा अपमान किया। शायद रानीजी ने इसके कान भरे हों। लेकिन सज्जनता भी कोई चीज़ है।

सोफ़िया ने उसी क्षण इस अपमान का पूरा, बल्कि पूरे से भी ज़्यादा बदला लेने का निश्चय कर लिया। उसने यह विचार न किया—संभव है, इस समय किसी कारण इसका मन खिन्न रहा हो, अथवा किसी दुर्घटना ने इसे असमंजस में डाल रक्खा हो। उसने तो सोचा—ऐसी अभद्रता, ऐसी दुर्जनता के लिये दारुण-से-दारुण मानसिक कष्ट, बड़ी-से-बड़ी आर्थिक क्षति, तीव्र-से-तीव्र शारीरिक व्यथा का दंड भी काफ़ी नहीं। इसने मुझे चुनौती दी है, स्वीकार करती हूँ। इसे अपनी रियासत का घमंड है, मैं दिखा दूँगी कि यह सूर्य का स्वयं प्रकाश नहीं, चाँद की पराधीन ज्योति है। इसे मालूम हो जायगा कि राजा और रईस, सब-के-सब शासनाधिकारियों के हाथों के खिलौने हैं, जिन्हें वे अपनी इच्छा के अनुसार बनाते-बिगाड़ते रहते हैं।

दूसरे ही दिन से सोफ़िया ने अपनी कपट-लीला आरंभ कर दी। मि० क्लार्क से उसका प्रेम बढ़ने लगा। द्वेष के हाथों की कठपुतली बन गई। अब उनकी प्रेम-मधुर बातें सिर झुकाकर सुनती, उनकी गरदन में बाँहें डालकर कहती—"तुमने प्रेम करना किससे सीखा?" दोनो अब निरंतर साथ नज़र आते, सोफ़िया दफ़्तर में भी साहब का गला न छोड़ती, बार-बार चिट्ठियाँ लिखती—"जल्द आओ, मैं तुम्हारी बाट जोह रही हूँ।" और, यह सारा प्रेमाभिनय केवल इस-

लिये था कि इंदु से अपमान का बदला लूँ। न्याय-रक्षा का अब उसे लेश-मात्र ध्यान न था, केवल इंदु का दर्प-मर्दन करना चाहती थी।

एक दिन वह मि० क्लार्क को पाँड़ेपुर की तरफ़ सैर कराने ले गई। जब मोटर गोदाम के सामने से होकर गुज़री, तो उसने ईंट और कंकड़ के ढेरों की ओर संकेत करके कहा—"पापा बड़ी तत्परता से काम कर रहे हैं।"

क्लार्क—"हाँ, मुस्तैद आदमी हैं। मुझे तो उनकी श्रमशीलता पर डाह होती है।"

सोफ़ी—"पापा ने धर्म-अधर्म का विचार नहीं किया। कोई माने या न माने, मैं तो यही कहूँगी कि अंधे के साथ अन्याय हुआ।"

क्लार्क—"हाँ, अन्याय तो हुआ। मेरी तो बिलकुल इच्छा न थी।"

सोफ़ी—"तो आपने क्यों अपनी स्वीकृति दी?"

क्लार्क—"क्या करता?"

सोफ़ी—"अस्वीकार कर देते। साफ़ लिख देना चाहिए था कि इस काम के लिये किसी की ज़मीन नहीं ज़ब्त की जा सकती।"

क्लार्क—"तुम नाराज़ न हो जातीं।"

सोफ़ी—"कदापि नहीं। आपने शायद मुझे अब तक नहीं पहचाना।"

क्लार्क—"तुम्हारे पापा ज़रूर ही नाराज़ हो जाते।"

सोफ़ी—मैं और पापा एक नहीं हैं। मेरे और उनके आचार-व्यवहार में दिशाओं का अंतर है।"

क्लार्क—"इतनी बुद्धि होती, तो अब तक तुम्हें कब का पा गया होता। मैं तुम्हारे स्वभाव और विचारों से परिचित न था। समझा, शायद यह अनुमति मेरे लिये हितकर हो।"

सोफ़ी—"सारांश यह कि मैं ही इस अन्याय की जड़ हूँ। राजा साहब ने मुझे प्रसन्न करने के लिये बोर्ड में यह प्रस्ताव रक्खा।

आपने भी मुझी को प्रसन्न करने के लिये स्वीकृति प्रदान की। आप लोगों ने मेरी तो मिट्टी ही ख़राब कर दी।"

क्लार्क—"मेरे सिद्धांतों से तुम परिचित हो। मैंने अपने ऊपर बहुत ज़ब्र करके यह प्रस्ताव स्वीकार किया है।"

सोफ़ी—"आपने अपने ऊपर ज़ब्र नहीं किया है; मेरे ऊपर किया है, और आपको इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।"

क्लार्क—"मैं न जानता था कि तुम इतनी न्यायप्रिय हो।"

सोफ़ी—"मेरी तारीफ़ करने से इस पाप का प्रायश्चित्त न होगा।"

क्लार्क—"मैं अंधे को किसी दूसरे गाँव में इतनी ही ज़मीन दिला दूँगा।"

सोफ़िया—"क्या उसी की ज़मीन उसे नहीं लौटाई जा सकती?"

क्लार्क—"कठिन है।"

सोफ़िया—"असंभव तो नहीं है?"

क्लार्क—"असंभव से कुछ ही कम है।"

सोफ़िया—"तो समझ गई, असंभव नहीं है, आपको यह प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा। कल ही उस प्रस्ताव को मंसूख़ कर दीजिए।"

क्लार्क—"प्रिये, तुम्हें मालूम नहीं, उसका क्या परिणाम होगा।"

सोफ़िया—"मुझे इसकी चिंता नहीं। पापा को बुरा लगेगा, लगे। राजा साहब का अपमान होगा, हो। मैं किसी के लाभ या सम्मान-रक्षा के लिये अपने ऊपर पाप का भार क्यों लूँ? क्यों ईश्वरीय दंड की भागिनी बनूँ? आप लोगों ने मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे सिर पर एक महान् पातक का बोझ रख दिया है। मैं इसे सहन नहीं कर सकती। आपको अंधे की ज़मीन वापस करनी पड़ेगी।"

ये बातें हो ही रही थीं कि सैयद ताहिरअली ने सोफ़िया को मोटर पर बैठे जाते देखा, तो तुरंत आकर सामने खड़े हो गए, और

सलाम किया। सोफ़ी ने मोटर रोक दिया, और पूछा—"कहिए मुंशीजी, इमारत बनने लगी?"

ताहिर—"जी हाँ, कल दाग़-बेल पड़ेगी; पर मुझे यह बेल मुढ़े चढ़ती नहीं नज़र आती।"

सोफ़िया—"क्यों? क्या कोई वारदात हो गई?"

ताहिर—"हुज़ूर, जबसे इस अंधे ने शहर में आह-फ़रियाद शुरू की है, तब से अजीब मुसीबत का सामना हो गया है। मोहल्लेवाले तो अब नहीं बोलते, लेकिन शहर के शोहदे-लुच्चे रोज़ाना आकर मुझे धमकियाँ देते हैं। कोई घर में आग लगाने को आमादा होता है, कोई लूटने को दौड़ता है, कोई मुझे क़त्ल करने की धमकी देता है। आज सुबह कई सौ आदमी लाठियाँ लिए आ गए, और गोदाम को घेर लिया। कुछ लोग सीमेंट और चूने के ढेरों को बखेरने लगे, कई आदमी पत्थर की सिलों को तोड़ने लगे। मैं तनहा क्या कर सकता था। यहाँ के मज़दूर खौफ़ के मारे जान लेकर भागे। क़यामत का सामना था। मालूम होता था, अब आन-की-आन में महशर बरपा हो जायगा। दरवाज़ा बंद किए बैठा अल्लाह-अल्लाह कर रहा था कि किसी तरह हंगामा फ़रो हो। बारे-दुआ क़बूल हुई। ऐन उसी वक़्त अंधा न-जाने किधर से आ निकला, और बिजली की तरह कड़ककर बोला—'तुम लोग यह ऊधम मचाकर मुझे क्यों कलंक लगा रहे हो? आग लगाने से मेरे दिल की आग न बुझेगी, लहू बहाने से मेरा चित्त शांत न होगा। आप लोगों की दुआ से यह आग और जलन मिटेगी। परमात्मा से कहिए, मेरा दुख मिटाएँ। भगवान् से बिनती कीजिए, मेरा संकट हरें। जिन्होंने मुझ पर जुलुम किया है, उनके दिल में दया-धरम जागे, बस मैं आप लोगों से और कुछ नहीं चाहता।' इतना सुनते ही कुछ लोग तो हट गए; मगर कितने ही आदमी बिगड़कर बोले—'तुम देवता हो, तो

बने रहो ; हम देवता नहीं हैं, हम तो जैसे के साथ तैसा करेंगे। उन्हें भी तो ग़रीबों पर ज़ुल्म करने का मज़ा मिल जाय।' यह कह-कर वे लोग पत्थरों को उठा-उठाकर पटकने लगे। तब इस अंधे ने वह काम किया, जो औलिया ही कर सकते हैं। हुज़ूर, मुझे तो कामिल यक़ीन हो गया कि यह कोई फ़रिश्ता है। उसकी बातें अभी तक कानों में गूँज रही हैं। उसकी तसवीर अभी तक आँखों के सामने खिंची हुई है। उसने ज़मीन से एक बड़ा-सा पत्थर का टुकड़ा उठा लिया, और उसे अपने माथे के सामने रखकर बोला—अगर तुम लोग अब भी मेरी विनती न सुनोगे, तो इसी दम इस पत्थर से सिर टकराकर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंज़ूर है ; पर यह अंधेर नहीं देख सकता।' उसके मुँह से इन बातों का निकलना था कि चारो तरफ़ सन्नाटा छा गया। जो जहाँ था, वह वहीं बुत बन गया। ज़रा देर में लोग आहिस्ता-आहिस्ता रुख़सत होने लगे, और कोई आध घंटे में सारा मजमा ग़ायब हो गया। सूरदास उठा, और लाठी टेकता हुआ जिधर से आया था, उसी तरफ़ चला गया। हुज़ूर, मुझे तो पूरा यक़ीन है कि वह इंसान नहीं, कोई फ़रिश्ता है।"

सोफ़ी—"उसे किसी से इन दुष्टों के आने की ख़बर मिल गई होगी।"

ताहिर—"हुज़ूर, मेरा तो क़यास है कि उसे इल्म ग़ैब है।"

सोफ़ी—(मुस्किराकर) "आपने पापा को इसकी इत्तिला नहीं दी ?"

ताहिर—"हुज़ूर, तब से मौक़ा ही नहीं मिला। ख़ुद बाल-बच्चों को तनहा छोड़कर नहीं जा सकता। आदमी सब पहले ही भाग गए थे। इसी फ़िक्र में खड़ा था कि हुज़ूर की मोटर नज़र आई।"

क्लार्क—"यह अंधा ज़रूर कोई असाधारण पुरुष है।"

सोफ़ी—"तुम उससे दो-चार बातें करके देखो। उसके आध्यात्मिक और दार्शनिक विचार सुनकर चकित हो जाओगे। साधु भी है, और दार्शनिक भी। कहीं हम उसके विचारों को व्यवहार में ला सकते, तो निश्चय सांसारिक जीवन सुखमय हो जाता। जाहिल है, बिलकुल निरक्षर; लेकिन उसका एक-एक वाक्य विद्वानों के बड़े-बड़े ग्रंथों पर भारी है।"

मोटर चली, तो सोफ़ी बोली—"आप लोग ऐसे साधुजनों पर भी अन्याय करने से बाज़ नहीं आते, जो अपने शत्रुओं पर एक कंकड़ भी उठाकर नहीं फेंकता! प्रभु मसीह में भी तो यही गुण सर्व-प्रधान था।"

क्लार्क—"प्रिये, अब लज्जित न करो। इसका प्रायश्चित्त निश्चय होगा।"

सोफ़ी—"राजा साहब इसका घोर विरोध करेंगे।"

क्लार्क—"थुह! उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है। वह जो कुछ करते हैं, हमारा रुख देखकर करते हैं। इसी वजह से उन्हें कभी असफलता नहीं होती। हाँ, उनमें यह विशेष गुण है कि वह हमारे प्रस्तावों का रूपांतर करके अपना काम बना लेते हैं, और उन्हें जनता के सामने ऐसी चतुरता से उपस्थित करते हैं कि लोगों की दृष्टि में उनका सम्मान बढ़ जाता है। हिंदुस्थानी रईसों और राजनीतिज्ञों में आत्मविश्वास का बड़ा अभाव होता है। वे हमारी सहायता से वह कर सकते हैं, जो हम नहीं कर सकते; पर हमारी सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते।"

मोटर सिगरा आ पहुँची। सोफ़िया उतर पड़ी। क्लार्क ने उसे प्रेम की दृष्टि से देखा, हाथ मिलाया, और चले गए।

मि० क्लार्क ने मोटर से उतरते ही अरदली को हुक्म दिया—"डिप्टी साहब को फ़ौरन् हमारा सलाम दो।" नाज़िर अहलमद और अन्य कर्मचारियों को भी तलब किया गया। सब-के-सब घबराए—"यह आज असमय क्यों तलबी हुई, कोई ग़लती तो नहीं पकड़ी गई? किसी ने रिशवत की शिकायत तो नहीं कर दी?" बेचारों के हाथ-पाँव फूल गए।

डिप्टी साहब बिगड़े—"मैं कोई साहब का ज़ाती नौकर नहीं हूँ कि जब चाहा, तलब कर लिया। कचहरी के समय के भीतर जितनी बार चाहें, तलब करें; लेकिन यह कौन-सी बात है कि जब जी में आया, सलाम भेज दिया।" इरादा किया, न चलूँ; पर इतनी हिम्मत कहाँ कि साफ़-साफ़ इनकार कर दें। बीमारी का बहाना करना चाहा; मगर अरदली ने कहा—"हुज़ूर इस वक़्त न चलेंगे, तो साहब बहुत नाराज़ होंगे, कोई बहुत ज़रूरी काम है, तभी तो मोटर से उतरते ही आपको सलाम दिया।"

आख़िर डिप्टी साहब को मजबूर होकर आना पड़ा। छोटे अमलों ने ज़रा भी चूँ न की, अरदली की सूरत देखते ही हुक्का छोड़ा, चुपके से कपड़े पहने, बच्चों को दिलासा दिया, और हाकिम के हुक्म को अकाल-मृत्यु समझते हुए, गिरते-पड़ते बँगले पर आ पहुँचे। साहब के सामने आते ही डिप्टी साहब का सारा ग़ुस्सा उड़ गया, इशारों पर दौड़ने लगे। मि० क्लार्क ने सूरदास की ज़मीन की मिसिल मँगवाई, उसे बड़े ग़ौर से पढ़वाकर सुना, तब डिप्टी साहब से राजा महेंद्रकुमार के नाम एक परवाना लिखवाया, जिसका आशय यह

था—"पाँड़ेपुर में सिगरेट के कारख़ाने के लिये ज़मीन ली गई है, वह उस धारा के उद्देश्य के विरुद्ध है, इसलिये मैं अपनी अनुमति वापस लेता हूँ। मुझे इस विषय में धोखा दिया गया है, और एक व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये क़ानून का दुरुपयोग किया गया है।"

डिप्टी साहब ने दबी ज़बान से शंका की—"हुज़ूर, अब आपको वह हुक्म मंसूख़ करने का मजाज़ नहीं; क्योंकि सरकार ने उसका समर्थन कर दिया है।"

मिस्टर क्लार्क ने कठोर स्वर में कहा—"हमीं सरकार हैं, हमने वह क़ानून बनाया है, हमको सब अख़्तियार है। आप अभी राजा साहब को परवाना लिख दें, कल लोकल गवर्नमेंट को उसकी नक़ल भेज दीजिएगा। ज़िले के मालिक हम हैं, सूबे की सरकार नहीं। यहाँ बलवा हो जायगा, तो हमको उसका इंतज़ाम करना पड़ेगा, सूबे की सरकार यहाँ न आएगी।"

अमले थर्रा उठे, डिप्टी साहब को दिल में कोसने लगे—"यह क्यों बीच में बोलते हैं। अँगरेज़ है, कहीं ग़ुस्से में आकर मार बैठे, तो उसका क्या ठिकाना। ज़िले का बादशाह है, जो चाहे करे, अपने से क्या मतलब।"

डिप्टी साहब की छाती भी धड़कने लगी, फिर ज़बान न खुली। परवाना तैयार हो गया, साहब ने उस पर हस्ताक्षर किया, उसी वक़्त एक अरदली राजा साहब के पास परवाना लेकर जा पहुँचा। डिप्टी साहब यहाँ से उठे, तो मि० जॉन सेवक को इस हुक्म की सूचना दे दी।

जॉन सेवक भोजन कर रहे थे। यह समाचार सुना तो भूख ग़ायब हो गई। बोले—"यह मि० क्लार्क को क्या सूझी?"

मिसेज़ सेवक ने सोफ़ी की ओर तीव्र दृष्टि से देखकर पूछा—"तूने इनकार तो नहीं कर दिया? ज़रूर कुछ गोलमाल किया है।"

सोफ़िया ने सिर झुकाकर कहा—"बस, आपका ग़ुस्सा मुझी पर रहता है, जो कुछ करती हूँ, मैं ही करती हूँ।"

ईश्वर सेवक—"प्रभु मसीह, इस गुनहगार को अपने दामन में छिपा। मैं अख़ीर तक मना करता रहा कि बुड्ढे की ज़मीन मत लो; मगर कौन सुनता है। दिल में कहते होंगे, यह तो सठिया गया है, पर यहाँ दुनिया देखे हुए हैं। राजा डरकर क्लार्क के पास आया होगा।"

प्रभु सेवक—"मेरा भी यही विचार है। राजा साहब ने स्वयं मिस्टर क्लार्क से कहा होगा। आजकल उनका शहर में निकलना मुश्किल हो रहा है। अंधे ने सारे शहर में हलचल मचा दी है।"

जॉन सेवक—"मैं सोच रहा था, कल शांति-रक्षा के लिये पुलिस के जवान माँगूँगा, इधर यह गुल खिला! कुछ बुद्धि काम नहीं करती कि क्या बात हो गई।"

प्रभु सेवक—"मैं तो समझता हूँ, हमारे लिये इस ज़मीन को छोड़ देना ही बेहतर होगा। आज सूरदास न पहुँच जाता, तो गोदाम की कुशल न थी, हज़ारों रुपए का सामान ख़राब हो जाता। यह उपद्रव शांत होनेवाला नहीं है।"

जॉन सेवक ने उनकी हँसी उड़ाते हुए कहा—"हाँ, बहुत अच्छी बात है, हम सब मिलकर उस अंधे के पास चलें, और उसके पैरों पर सिर झुकाएँ। आज उसके डर से ज़मीन छोड़ दूँ, कल चमड़े की आढ़त तोड़ दूँ, परसों यह बँगला छोड़ दूँ, और इसके बाद मुँह छिपाकर यहाँ से कहीं चला जाऊँ। क्यों, यही सलाह है न? फिर शांति-ही-शांति है, न किसी से लड़ाई, न झगड़ा। यह सलाह तुम्हें मुबारक रहे। संसार शांति-भूमि नहीं, समर-भूमि है। यहाँ वीरों और पुरुषार्थियों की विजय होती है, निर्बल और कायर मारे जाते हैं। मि० क्लार्क और राजा महेंद्रकुमार की हस्ती ही क्या है, सारी दुनिया भी अब इस ज़मीन को मेरे हाथों से नहीं छीन

सकती। मैं सारे शहर में हलचल मचा दूँगा, सारे हिंदुस्थान को हिला डालूँगा। अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता की यह मिसाल देश के सभी पत्रों में उद्धृत की जायगी, कौंसिलों और सभाओं में एक नहीं, सहस्र-सहस्र कंठों से घोषित की जायगी, और उसकी प्रतिध्वनि अँगरेज़ी पार्लियामेंट तक में पहुँचेगी। यह स्वजातीय उद्योग और व्यावसाय का प्रश्न है। इस विषय में समस्त भारत के रोज़गारी, क्या हिंदुस्थानी और क्या अँगरेज़, मेरे सहायक होंगे; और गवर्नमेंट कोई इतनी निर्बुद्धि नहीं है कि वह व्यवसायियों की सम्मिलित ध्वनि पर कान बंद कर ले। यह व्यापार-राज्य का युग है। योरप में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूँजीपतियों के इशारों पर बनते-बिगड़ते हैं, किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं कि उनकी इच्छा का विरोध करे। तुमने मुझे समझा क्या है, मैं वह नरम चारा नहीं हूँ, जिसे क्लार्क और महेंद्र खा जायँगे!"

प्रभु सेवक तो ऐसे सिटपिटाए कि फिर ज़बान न खुली। धीरे से उठकर चले गए। सोफ़िया भी एक क्षण के लिये सन्नाटे में आ गई। फिर सोचने लगी—अगर पापा ने आंदोलन किया भी, तो उसका नतीजा कहीं बरसों में निकलेगा, और यही कौन कह सकता है कि क्या नतीजा होगा, अभी से उसकी क्या चिंता। उसके गुलाबी ओठों पर विजय-गर्व की मुस्किराहट दिखाई दी। इस समय वह इंदु के चेहरे का उड़ता हुआ रंग देखने के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर सकती थी—काश मैं वहाँ मौजूद होती! देखती तो कि इंदु के चेहरे पर कैसी झेंप है। चाहे सदैव के लिये नाता टूट जाता; पर इतना ज़रूर कहती—देखा अपने राजा साहब का अधिकार और बल? इसी पर इतना इतराती थीं? किंतु क्या मालूम था कि क्लार्क इतनी जल्दी करेंगे।

भोजन करके वह अपने कमरे में गई, और रानी इंदु के मान-

सिक संताप का कल्पनातीत आनंद उठाने लगी—"राजा साहब बदहवास, चेहरे का रंग उड़ा हुआ, आकर इंदु के पास बैठ जायँगे। इंदुदेवी लिफ़ाफ़ा देखेंगी, आँखों पर विश्वास न आएगा; फिर रोशनी तेज़ करके देखेंगी, तब राजा के आँसू पोछेंगी—'आप व्यर्थ इतने खिन्न होते हैं, आप अपनी ओर से शहर में डुग्गी पिटवा दीजिए कि हमने सूरदास की ज़मीन सरकार से लड़कर वापस दिला दी। सारे नगर में आपके न्याय की धूम मच जायगी। लोग समझेंगे, आपने लोकमत का सम्मान किया है, खुशामदी टट्टू कहीं का, चाल से विलियम को उल्लू बनाना चाहता था। ऐसी मुँह की खाई है कि याद ही करेगा। खैर, आज न सही, कल, परसों, नरसों, कभी तो इंदुदेवी से मुलाक़ात होगी ही। कहाँ तक मुँह छिपाएँगी!"

यह सोचते-सोचते सोफ़िया मेज़ पर बैठ गई, और इस वृत्तांत पर एक प्रहसन लिखने लगी। ईर्ष्या से कल्पना-शक्ति उर्वर हो जाती है। सोफ़िया ने आज तक कभी प्रहसन न लिखा था। किंतु इस समय ईर्ष्या के उद्गार में उसने एक घंटे के अंदर चार दृश्यों का एक विनोद-पूर्ण ड्रामा लिख डाला। ऐसी-ऐसी चोट करनेवाली अन्योक्तियाँ और हृदय में चुटकियाँ लेनेवाली फबतियाँ लेखनी से निकलीं कि उसे अपनी प्रतिभा पर स्वयं आश्चर्य होता था। उसे एक बार यह विचार हुआ कि मैं यह क्या बेवक़ूफ़ी कर रही हूँ। विजय पाकर परास्त शत्रु को मुँह चिढ़ाना परले सिरे की नीचता है; पर ईर्ष्या ने उसके समाधान के लिये एक युक्ति ढूँढ़ निकाली—ऐसे कपटी, सम्मान-लोलुप, विश्वास-घातक, प्रजा के मित्र बनकर उसकी गरदन पर तलवार चलानेवाले, चापलूस रईसों की यही सज़ा है, उनके सुधार का एकमात्र साधन है, जनता की निगाहों में गिर जाने का भय ही उन्हें सन्मार्ग पर ला सकता है।

उपहास का भय न हो, तो वे शेर हो जायँ, अपने सामने किसी को कुछ न समझें।"

प्रभु सेवक मीठी नींद सो रहे थे। आधी रात बीत चुकी थी। सहसा सोफ़िया ने आकर जगाया, चौंककर उठ बैठे, और यह समझकर कि शायद इसके कमरे में चोर घुस आए हैं, द्वार की ओर दौड़े। गोदाम की घटना आँखों के सामने फिर गई। सोफ़ी ने हँसते हुए उनका हाथ पकड़ लिया, और पूछा—"कहाँ भागे जाते हो?"

प्रभु सेवक—"क्या चोर हैं? लालटेन जला लूँ?"

सोफ़िया—"चोर नहीं हैं, ज़रा मेरे कमरे में चलो, तुम्हें एक चीज़ सुनाऊँ। अभी लिखी है।"

प्रभु सेवक—"वाह-वाह! इतनी-सी बात के लिये नींद ख़राब कर दी। क्या फिर सबेरा न होता, क्या लिखा है?"

सोफ़िया—"एक प्रहसन है।"

प्रभु सेवक—"प्रहसन! कैसा प्रहसन? तुमने प्रहसन लिखने का कब से अभ्यास किया?"

सोफ़िया—"आज ही। बहुत ज़ब्त किया कि सबेरे सुनाऊँगी; पर न रहा गया।"

प्रभु सेवक सोफ़िया के कमरे में आए, और एक ही क्षण में दोनो ने ठट्ठे मार-मारकर हँसना शुरू किया। लिखते समय सोफ़िया को जिन वाक्यों पर ज़रा भी हँसी न आई थी, उन्हीं को पढ़ते समय उससे हँसी रोके न रुकती थी। जब कोई हँसानेवाली बात आ जाती, तो सोफ़ी पहले ही से हँस पड़ती, प्रभु सेवक मुँह खोले हुए उसकी ओर ताकता, बात कुछ समझ में न आती, मगर उसकी हँसी पर हँसता, और ज्यों ही बात समझ में आ जाती, हास्य-ध्वनि और भी प्रचंड हो जाती। दोनो के मुख आरक्त हो गए,

आँखों से पानी बहने लगा, पेट में बल पड़ गए, यहाँ तक कि जबड़ों में दर्द होने लगा। प्रहसन के समाप्त होते-होते ठट्ठे की जगह खाँसी ने ले ली। ख़ैरियत थी कि दोनो तरफ़ से द्वार बंद थे, नहीं तो उस निस्तब्धता में सारा बँगला हिल जाता।

प्रभु सेवक—"नाम भी ख़ूब रक्खा राजा मुछेंद्रसिंह। महेंद्र और मुछेंद्र की तुक मिलती है! पिलपिली साहब के हंटर खाकर मुछेंद्रसिंह का झुक-झुककर सलाम करना ख़ूब रहा। कहीं राजा साहब ज़हर न खा लें।"

सोफ़िया—"ऐसा हयादार नहीं है।"

प्रभु सेवक—"तुम प्रहसन लिखने में निपुण हो।"

थोड़ी देर में दोनो अपने-अपने कमरों में सोए। सोफ़िया प्रातः-काल उठी, और मि० क्लार्क का इंतज़ार करने लगी। उसे विश्वास था कि वह आते ही होंगे, उनसे सारी बातें स्पष्ट रूप से मालूम होंगी, अभी तो केवल अफ़वाह सुनी है। संभव है, राजा साहब घबराए हुए उनके पास अपना दुखड़ा रोने के लिये आए हों; लेकिन आठ बज गए, और क्लार्क का कहीं पता न था। वह भी तड़के ही आने को तैयार थे; पर आते हुए झेंपते थे कि कहीं सोफ़िया यह न समझे कि इस ज़रा-सी बात का मुझ पर एहसान जताने आए हैं। इससे अधिक भय यह था कि वहाँ लोगों को क्या मुँह दिखाऊँगा, या तो मुझे देखकर लोग दिल-ही-दिल में जलेंगे, या खुल्लमखुल्ला दोषारोपण करेंगे। सबसे ज़्यादा ख़ौफ़ ईश्वर सेवक का था कि कहीं वह दुष्ट, पापी, शैतान, काफ़िर न कह बैठें। वृद्ध आदमी हैं, उनकी बातों का जवाब ही क्या। इन्हीं कारणों से वह आते हुए हिचकिचाते थे, और दिल में मना रहे थे कि सोफ़िया ही इधर आ निकले।

नौ बजे तक क्लार्क का इंतज़ार करने के बाद सोफ़िया अधीर हो

उठी। इरादा किया, मैं ही चलूँ कि सहसा मि० जॉन सेवक आकर बैठ गए, और सोफ़िया को क्रोधोन्मत्त नेत्रों से देखकर बोले—"सोफ़ी, मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। तुमने मेरे सारे मंसूबे ख़ाक में मिला दिए!"

सोफ़िया—"मैंने! क्या किया? मैं आपका आशय नहीं समझी।"

जॉन सेवक—"मेरा आशय यह है कि तुम्हारी ही दुष्प्रेरणा से मि० क्लार्क ने अपना पहला हुक्म रद्द किया है।"

सोफ़िया—"आपको भ्रम है।"

जॉन सेवक—"मैंने बिना प्रमाण के आज तक किसी पर दोषारोपण नहीं किया। मैं अभी इंदुदेवी से मिलकर आ रहा हूँ। उन्होंने इसके प्रमाण दिए कि यह तुम्हारी करतूत है।"

सोफ़िया—"आपको विश्वास है कि इंदु ने मुझ पर जो इलज़ाम रक्खा है, वह ठीक है?"

जॉन सेवक—"उसे असत्य समझने के लिये मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है।"

सोफ़िया—"उसे सत्य समझने के लिये यदि इंदु का वचन काफ़ी है, तो उसे असत्य समझने के लिये मेरा वचन क्यों काफ़ी नहीं है?"

जॉन सेवक—"सच्ची बात विश्वासोत्पादक होती है।"

सोफ़िया—"यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं अपनी बातों में वह नमक-मिर्च नहीं लगा सकती; लेकिन मैं इसका आपको विश्वास दिलाती हूँ कि इंदु ने हमारे और विलियम के बीच में द्वेष डालने के लिये यह स्वाँग रचा है।"

जॉन सेवक ने भ्रम में पड़कर कहा—"सोफ़ी, मेरी तरफ़ देख। क्या तू सच कह रही है?"

सोफ़िया ने लाख यत्न किए कि पिता की ओर निश्शंक दृष्टि से देखे; किंतु आँखें आप-ही-आप झुक गईं। मनोवृत्ति वाणी को दूषित कर सकती है; अंगों पर उसका ज़ोर नहीं चलता। जिह्वा चाहे निश्शब्द हो जाय; पर आँखें बोलने लगती हैं। मिस्टर जॉन सेवक ने उसकी लज्जा-पीड़ित आँखें देखीं, और क्षुब्ध होकर बोले—"आख़िर तुमने क्या समझकर ये काँटे बोए?"

सोफ़िया—"आप मेरे ऊपर घोर अन्याय कर रहे हैं। आपको विलियम ही से इसका स्पष्टीकरण कराना चाहिए। हाँ, इतना अवश्य कहूँगी कि सारे शहर में बदनाम होने की अपेक्षा मैं उस ज़मीन का आपके अधिकार से निकल जाना कहीं अच्छा समझती हूँ।"

जॉन सेवक—"अच्छा! तो तुमने मेरी नेकनामी के लिये यह चाल चली है! तुम्हारा बहुत अनुगृहीत हूँ। लेकिन यह विचार तुम्हें बहुत देर मे हुआ। ईसाई-जाति यहाँ केवल अपने धर्म के कारण इतनी बदनाम है कि उससे ज़्यादा बदनाम होना असंभव है। जनता का बस चले, तो आज हमारे सारे गिरजाघर मिट्टी के ढेर हो जायँ। अँगरेज़ों से लोगों को इतनी चिढ़ नहीं है। वे समझते हैं कि अँगरेज़ों का रहन-सहन और आचार-व्यवहार स्वजातीय है—उनके देश और जाति के अनुकूल है। लेकिन जब कोई हिंदुस्तानी, चाहे वह किसी मत का हो, अँगरेज़ी आचरण करने लगता है, तो जनता उसे बिलकुल गया-गुज़रा समझ लेती है, वह भलाई या बुराई के बंधनों से मुक्त हो जाता है, उनसे किसी को सत्कार्य की आशा नहीं होती, उसके कुकर्मों पर किसी को आश्चर्य नहीं होता। मैं यह कभी न मानूँगा कि तुमने मेरी सम्मान-रक्षा के लिये यह प्रयास किया है। तुम्हारा उद्देश्य केवल मेरे व्यापारिक लक्ष्यों का सर्वनाश करना है। धार्मिक विवेचनाओं मे तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि को डावाँ-

डोल कर दिया है। तुम्हें इतनी समझ भी नहीं है कि त्याग और परोपकार केवल एक आदर्श है—कवियों के लिये, भक्तों के मनोरंजन के लिये, उपदेशकों की वाणी को अलंकृत करने के लिये। मसीह, बुद्ध और मूसा के जन्म लेने का समय अब नहीं रहा, धन-ऐश्वर्य निंदित होने पर भी मानवीय इच्छाओं का स्वर्ग है, और रहेगा। ख़ुदा के लिये तुम मुझ पर अपने धर्म-सिद्धांतों की परीक्षा मत करो, मैं तुमसे नीति और धर्म के पाठ नहीं पढ़ना चाहता। तुम समझती हो, ख़ुदा ने न्याय, सत्य और दया का तुम्हीं को इजारेदार बना दिया है, और संसार में जितने धनी-मानी पुरुष हैं, सब-के-सब अन्यायी, स्वेच्छाचारी और निर्दयी हैं; लेकिन ईश्वरीय विधान की क़ायल होकर भी तुम्हारा विचार है कि संसार में असमता और विषमता का कारण केवल मनुष्य की स्वार्थपरायणता है, तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि तुमने धर्म-ग्रंथों का अनुशीलन आँखें बंद करके किया है, उनका आशय नहीं समझा। तुम्हारे इस दुर्व्यहार से मुझे जितना दुःख हो रहा है, उसे प्रकट करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं, और यद्यपि मैं कोई वली या फ़क़ीर नहीं हूँ; लेकिन याद रखना, कभी-न-कभी तुम्हें पितृद्रोह का ख़मियाज़ा उठाना पड़ेगा।"

अहित-कामना क्रोध की परा काष्ठा है। "इसका फल तुम ईश्वर से पाओगे"—यह वाक्य कृपाण और भाले से ज़्यादा घातक होता है। जब हम समझते हैं कि किसी दुष्कर्म का दंड देने के लिये भौतिक शक्ति काफ़ी नहीं है, तब हम आध्यात्मिक दंड का विधान करते हैं। उनसे न्यून कोई दंड हमारे संतोष के लिये काफ़ी नहीं होता।

जॉन सेवक ये कोसने सुनाकर उठ गए। किंतु सोफ़िया को इन दुर्वचनों से लेश-मात्र भी दुःख न हुआ। उसने यह ऋण भी इंदु ही के खाते में दर्ज किया, और उसकी प्रतिहिंसा ने और उग्र रूप

धारण किया, उसने निश्चय किया—इस प्रहसन को आज ही प्रकाशित करूँगी। अगर एडीटर ने न छापा, तो स्वयं पुस्तकाकार छपवाऊँगी, और मुफ़्त बाँटूँगी। ऐसी कालिख लग जाय कि फिर किसी को मुँह न दिखा सके।

ईश्वर सेवक ने जॉन सेवक की कठोर बातें सुनीं, तो बहुत नाराज़ हुए। मिसेज़ सेवक को भी यह व्यवहार बुरा लगा। ईश्वर सेवक ने कहा—"न-जाने तुम्हें अपने हानि-लाभ का ज्ञान कब होगा। बनी हुई बात को निभाना मुश्किल नहीं है, बिगड़ी हुई बात को बनाना मुश्किल है। तुम्हें इस अवसर पर इतने धैर्य और गंभीरता से काम लेना था कि जितनी क्षति हो चुकी है, उसकी पूर्ति हो जाय। घर का एक कोना गिर पड़े, तो सारा घर गिरा देना बुद्धिमत्ता नहीं है। ज़मीन गई, तो ऐसी कोई तदबीर सोचो कि उस पर फिर तुम्हारा क़ब्ज़ा हो। यह नहीं कि ज़मीन के साथ अपनी मान-मर्यादा भी खो बैठो। जाकर राजा साहब को मिस्टर क्लार्क के फ़ैसले की अपील करने पर तैयार करो, और मिस्टर क्लार्क से अपना मेल-जोल बनाए रक्खो। यह समझ लो कि उनसे तुम्हें कोई नुक़सान ही नहीं पहुँचा। सोफ़ी को बरहम करके तुम क्लार्क को अनायास अपना शत्रु बना रहे हो। हाकिमों तक पहुँच रहेगी, तो ऐसी कितनी ही ज़मीनें मिलेंगी। प्रभु मसीह, मुझे अपने दामन में छिपाओ, और यह संकट टालो।"

मिसेज़ सेवक—"मैं तो इतनी मिन्नतों से उसे यहाँ लाई, और तुम सारे किए-धरे पर पानी फेरे देते हो।"

ईश्वर सेवक—"प्रभु मुझे आसमान की बादशाहत दे। अगर यही मान लिया जाय कि सोफ़ी के इशारे से यह बात हुई, तो भी हमें उससे कोई शिकायत न होनी चाहिए, बल्कि मेरे दिल में तो उसका सम्मान और बढ़ गया है, उसे ख़ुदा ने सच्ची रोशनी प्रदान की है, उसमें भक्ति और विश्वास की बरकत है। उसने जो कुछ

किया है, उसकी प्रशंसा न करना न्याय का गला घोटना है। प्रभु मसीह ने अपने को दीन-दुखी प्राणियों पर बलिदान कर दिया। दुर्भाग्य से हममें उतनी श्रद्धा नहीं है। हमें अपनी स्वार्थपरता पर लज्जित होना चाहिए। सोफ़ी के पवित्र मनोभावों की उपेक्षा करना उचित नहीं। पापी पुरुष किसी साधु को देखकर दिल में शरमाता है, उससे वैर नहीं ठानता।"

जॉन सेवक—"यह न भक्ति है और न धर्मानुराग, केवल दुराग्रह और द्वेष है।"

ईश्वर सेवक ने इसका कुछ जवाब न दिया। अपनी लकड़ी टेकते हुए सोफ़ी के कमरे में आए, और बोले—" बेटी, मेरे आने से तुम्हारा कोई हरज तो नहीं हुआ?"

सोफ़िया—"नहीं-नहीं, आइए, बैठिए।"

ईश्वर सेवक—"ईसू, इस गुनहगार को ईमान की रोशनी दे। अभी जॉन सेवक ने तुम्हें बहुत कुछ बुरा-भला कहा है, उन्हें क्षमा करो। बेटी, दुनिया में ख़ुदा की जगह अपना पिता ही होता है, उसकी बातों का बुरा न मानना चाहिए। तुम्हारे ऊपर ख़ुदा का हाथ है, ख़ुदा की बरकत है। तुम्हारे पिता का सारा जीवन स्वार्थ-सेवा में गुज़रा है, और वह अभी तक उसका उपासक है। ख़ुदा से दुआ करो कि उसके हृदय का अंधकार ज्ञान की दिव्य ज्योति से दूर कर दे। जिन लोगों ने हमारे प्रभु मसीह को नाना प्रकार के कष्ट दिए थे, उनके विषय में प्रभु ने कहा था—"ख़ुदा, उन्हें मुआफ़ कर। वे नहीं जानते कि हम क्या करते हैं।"

सोफ़ी—"मैं आपसे सच कहती हूँ, मुझे पापा की बातों का ज़रा भी मलाल नहीं है; लेकिन वह मुझ पर मिथ्या दोष लगाते हैं। इंदु की बातों के सामने मेरी बातों को कुछ समझते ही नहीं।"

ईश्वर सेवक—"बेटी, यह उनकी भूल है। मगर तुम अपने

दिल से उन्हें क्षमा कर दो। सांसारिक प्राणियों की इतनी निंदा की गई है; पर न्याय से देखो, तो वे कितनी दया के पात्र हैं। आख़िर आदमी जो कुछ करता है, अपने बाल-बच्चों ही के लिये तो करता है—उन्हीं के सुख और शांति के लिये, उन्हीं को संसार की वक्र दृष्टि से बचाने के लिये वह निंदा, अपमान, सब कुछ सहर्ष सह लेता है, यहाँ तक कि अपनी आत्मा और धर्म को भी उन पर अर्पित कर देता है। ऐसी दशा में जब वह देखता है कि जिन लोगों के हित के लिये मैं अपना रक्त और पसीना एक कर रहा हूँ, वही मुझसे विरोध कर रहे हैं, तो वह झुँझला जाता है। तब उसे सत्यासत्य का विवेक नहीं रहता। देखो, क्लार्क से भूलकर भी इन बातों का ज़िक्र न करना, नहीं तो आपस में मनोमालिन्य बढ़ेगा। वचन देती हो ?"

ईश्वर सेवक जब उठकर चले गए, तो प्रभु सेवक ने आकर पूछा—"वह प्रहसन कहाँ भेजा ?"

सोफ़िया—"अभी तो कहीं नहीं भेजा, क्या भेज ही दूँ ?"

प्रभु सेवक—"ज़रूर-ज़रूर, मज़ा आ जायगा, सारे शहर में धूम मच जायगी।"

सोफ़िया—"ज़रा दो-एक दिन देख लूँ।"

प्रभु सेवक—"शुभ कार्य में विलंब न होना चाहिए, आज ही भेजो। मैंने भी आज अपनी कथा समाप्त कर दी। सुनाऊँ ?"

सोफ़िया—"हाँ-हाँ, पढ़ो।"

प्रभु सेवक ने अपनी कविता सुनानी शुरू की। एक-एक शब्द करुण-रस में सराबोर था। कथा इतनी दर्दनाक थी कि सोफ़ी की आँखों से आँसू की झड़ी लग गई। प्रभु सेवक भी रो रहे थे। क्षमा और प्रेम के भाव एक-एक शब्द से उसी भाँति टपक रहे थे, जैसे आँखों

कभी अनुमान भी न किया था कि तुम इस रस का आस्वादन इतनी कुशलता से करा सकते हो ! जी चाहता है, तुम्हारी क़लम चूम लूँ । उफ़् ! कितनी अलौकिक क्षमा है ! बुरा न मानना, तुम्हारी रचना तुमसे कहीं ऊँची है । ऐसे पवित्र, कोमल और ओजस्वी भाव तुम्हारी क़लम से कैसे निकल आते हैं ?"

प्रभु सेवक—"उसी तरह, जैसे इतने हास्योत्पादक और गर्व-नाशक भाव तुम्हारी क़लम से निकले । तुम्हारी रचना तुमसे कहीं नीची है !"

सोफ़ी—"मैं क्या, और मेरी रचना क्या । तुम्हारा एक-एक छंद बलि जाने के योग्य है । वास्तव में क्षमा मानवीय भावों में सर्वोपरि है । दया का स्थान इतना ऊँचा नहीं । दया वह दाना है, जो पोली धरती पर उगता है । इसके प्रतिकूल क्षमा वह दाना है, जो काँटों में उगता है । दया वह धारा है, जो समतल भूमि पर बहती है, क्षमा कंकड़ों और चट्टानों में बहनेवाली धारा है । दया का मार्ग सीधा और सरल है, क्षमा का मार्ग टेढ़ा और कठिन । तुम्हारा एक-एक शब्द हृदय में चुभ जाता है । आश्चर्य है, तुममें क्षमा का लेश भी नहीं है !"

प्रभु सेवक—"सोफ़ी, भावों के सामने आचरण का कोई महत्त्व नहीं है । कवि का कर्म-क्षेत्र सीमित होता है, पर भाव-क्षेत्र अनंत और अपार है । उस प्राणी को तुच्छ मत समझो, जो त्याग और निवृत्ति का राग अलापता हो, पर स्वयं कौड़ियों पर जान देता हो । संभव है, उसकी वाणी किसी महान् पापी के हृदय में जा पहुँचे ।"

सोफ़ी—"जिसके वचन और कर्म में इतना अंतर हो, उसे किसी और ही नाम से पुकारना चाहिए ।"

प्रभु सेवक—"नहीं सोफ़ी, यह बात नहीं है । कवि के भाव बत-

जाते हैं कि यदि उसे अवसर मिलता, तो वह क्या-कुछ हो सकता था। अगर वह अपने भावों की उच्चता को न प्राप्त कर सका, तो इसका कारण केवल यह है कि परिस्थिति उसके अनुकूल न थी।"

भोजन का समय आ गया। इसके बाद सोफ़ी ने ईश्वर सेवक को बाइबिल सुनाना शुरू किया। आज की भाँति विनीत और शिष्ट वह कभी न हुई थी। ईश्वर सेवक की ज्ञान-पिपासा उनकी चेतना को दबा बैठती थी। निद्रावस्था ही उनकी आंतरिक जागृति थी। कुर्सी पर लेटे हुए वह ख़र्राटे ले-लेकर देव-ग्रंथ का श्रवण करते थे; पर आश्चर्य यह था कि पढ़नेवाला उन्हें निद्रा-मग्न समझकर ज्यों ही चुप हो जाता, वह तुरंत बोल उठते—"हाँ-हाँ, पढ़ो, चुप क्यों हो, मैं सुन रहा हूँ।"

सोफ़ी को बाइबिल का पाठ करते-करते संध्या हो गई, तो उसका गला छूटा। ईश्वर सेवक बाग़ में टहलने चले गए, और प्रभु सेवक को सोफ़ी से गपशप करने का मौक़ा मिला।

सोफ़ी—"बड़े पापा एक बार पकड़ पाते हैं, तो फिर गला नहीं छोड़ते।"

प्रभु सेवक—"मुझसे कभी बाइबिल पढ़ने को नहीं कहते। मुझसे तो क्षण-भर भी वहाँ न बैठा जाय। तुम न-जाने कैसे बैठी पढ़ती रहती हो।"

सोफ़ी—"क्या करूँ, उन पर दया आती है।"

प्रभु सेवक—"बना हुआ है। मतलब की बात पर कभी नहीं चूकता। यह सारी भक्ति केवल दिखाने की है।"

सोफ़ी—"यह तुम्हारा अन्याय है। उनमें और चाहे कोई गुण न हो; पर प्रभु मसीह पर उनका दृढ़ विश्वास है। चलो, कहीं सैर करने चलते हो?"

प्रभु सेवक—"कहाँ चलोगी? चलो, यहीं हौज़ के किनारे बैठकर

कुछ काव्य-चर्चा करें। मुझे तो इससे ज़्यादा आनंद और किसी बात में नहीं मिलता।"

सोफ़ी—"चलो, पाँड़ेपुर की तरफ़ चलें। कहीं सूरदास मिल गया, तो उसे यह ख़बर सुनाएँगे।"

प्रभु सेवक—"फूला न समाएगा, उछल पड़ेगा।"

सोफ़ी—"ज़रा शह पा जाय, तो इस राजा को शहर से भगाकर ही छोड़े।"

दोनो ने सड़क पर आकर एक ताँगा किराया किया, और पाँड़ेपुर चले। सूर्यास्त हो चुका था। कचहरी के अमले बग़ल में बस्ते दबाए, भीरुता और स्वार्थ की मूर्ति बने चले आते थे। बँगलों में टेनिस हो रहा था। शहर के शोहदे दीन-दुनिया से बेख़बर पानवालों की दूकानों पर जमा थे। बनियों की दूकानों पर मज़दूरों की स्त्रियाँ भोजन की सामग्रियाँ ले रही थीं। ताँगा बरना-नदी के पुल पर पहुँचा था कि अकस्मात् आदमियों की एक भीड़ दिखाई दी। सूरदास खँजरी बजाकर गा रहा था। सोफ़ी ने ताँगा रोक दिया, और ताँगेवाले से कहा—"जाकर उस अंधे को बुला ला।"

एक क्षण में सूरदास लाठी टेकता हुआ आया, और सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

सोफ़ी—"मुझे पहचानते हो सूरदास?"

सूरदास—"हाँ, भला हजूर ही को न पहचानूँगा!"

सोफ़ी—"तुमने तो हम लोगों को सारे शहर में ख़ूब बदनाम किया।"

सूरदास—"फरियाद करने के सिवा मेरे पास और कौन बल था?"

सोफ़ी—"फ़रियाद का क्या नतीजा निकला?"

सूरदास—"मेरी मनोकामना पूरी हो गई। हाकिमों ने मेरी जमीन मुझे दे दी। ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि कोई काम

तन-मन से किया जाय; और उसका कुछ फल न निकले। तपस्या से तो भगवान् मिल जाते हैं। बड़े साहब के अरदली ने कल रात ही को मुझे यह हाल सुनाया। आज पाँच ब्राह्मणों को भोजन कराया है। कल घर चला जाऊँगा।"

प्रभु सेवक—"मिस साहब ही ने बड़े साहब से कह-सुनकर तुम्हारी ज़मीन दिलवाई है, इनके पिता और राजा साहब, दोनो ही इनसे नाराज़ हो गए हैं। इनकी तुम्हारे ऊपर बड़ी दया है।"

सोफ़ी—"प्रभु, तुम बड़े पेट के हलके हो। यह कहने से क्या फ़ायदा कि मिस साहब ने ज़मीन दिलवाई है। यह तो कोई बहुत बड़ा काम नहीं है।"

सूरदास—"साहब, यह तो मैं उसी दिन जान गया था, जब मिस साहब से पहलेपहल बातें हुई थीं। मुझे उसी दिन मालूम हो गया था कि इनके चित्त में दया और धरम है। इसका फल भगवान इनको देंगे।"

सोफ़ी—"सूरदास, यह मेरी सिफ़ारिश का फल नहीं, तुम्हारी तपस्या का फल है। राजा साहब को तुमने ख़ूब छकाया। अब थोड़ी-सी कसर और है। ऐसा बदनाम कर दो कि शहर में किसी को मुँह न दिखा सकें, इस्तीफ़ा देकर अपने इलाक़े की राह लें।"

सूरदास—"नहीं मिस साहब, यह खेलाड़ियों की नीत नहीं है। खेलाड़ी जीतकर हारनेवाले खेलाड़ी की हँसी नहीं उड़ाता, उससे गले मिलता है, और हाथ जोड़कर कहता है—'भैया, अगर हमने खेल में तुमसे कोई अनुचित बात कही हो, या कोई अनुचित ब्योहार किया हो, तो हमें माफ करना।' इस तरह दोनो खेलाड़ी हँसकर अलग होते हैं, खेल खतम होते ही दोनो मित्र बन जाते हैं, उनमें कोई कपट नहीं रहता। मैं आज राजा साहब के पास गया था, और उनसे हाथ जोड़ आया। उन्होंने मुझे भोजन

कराया। जब चलने लगा, तो बोले, मेरा दिल तुम्हारी ओर से साफ है, कोई संका मत करना।"

सोफ़िया—"ऐसे दिल के साफ़ तो नहीं हैं, मौक़ा पाकर अवश्य दग़ा करेंगे, मैं तुमसे कहे देती हूँ।"

सूरदास—"नहीं मिस साहब, ऐसा मत कहिए। किसी पर संदेह करने से अपना चित्त मलीन होता है। वह बिदवान हैं, धरमात्मा हैं, कभी दगा नहीं कर सकते। और, जो दगा ही करेंगे, तो उन्हीं का धरम जायगा; मुझे क्या, मैं फिर इसी तरह फरियाद करता रहूँगा। जिस भगवान ने अब की बार सुना है, वही भगवान फिर सुनेंगे।"

प्रभु सेवक—"और जो कोई मुआमला खड़ा करके क़ैद करा दिया, तो?"

सूरदास—(हँसकर) "इसका फल उन्हें भगवान से मिलेगा। मेरा धरम तो यही है कि जब कोई मेरी चीज पर हाथ बढ़ाए, तो उसका हाथ पकड़ लूँ। वह लड़े, तो लड़ूँ, और उस चीज के लिये प्रान तक दे दूँ। चीज मेरे हाथ आएगी, इससे मुझे मतलब नहीं, मेरा काम तो लड़ना है, और वह भी धरम की लड़ाई लड़ना। अगर राजा साहब दगा भी करें, तो मैं उनसे दगा न करूँगा।"

सोफ़िया—"लेकिन मैं तो राजा साहब को इतने सस्ते न छोड़ूँगी।"

सूरदास—"मिस साहब, आप बिदवान होकर ऐसी बातें करती हैं, इसका मुझे अचरज है। आपके मुँह से ये बातें सोभा नहीं देतीं। नहीं, आप हँसी कर रही हैं। आपसे कभी ऐसा काम नहीं हो सकता।"

इतने में किसी ने पुकारा—"सूरदास, चलो ब्राह्मण लोग आ गए हैं।"

सूरदास लाठी टेकता हुआ घाट की ओर चला। ताँगा भी चला। प्रभु सेवक ने कहा—"चलोगी मि० क्लार्क की तरफ़ ?"

सोफ़िया ने कहा—"नहीं, घर चलो।"

रास्ते में कोई बातचीत नहीं हुई। सोफ़िया किसी विचार में मग्न थी। दोनो आदमी सिगरा पहुँचे, तो चिराग़ जल चुके थे। सोफ़ी सीधे अपने कमरे में गई, मेज़ का ड्राअर खोला, प्रहसन का हस्त-लेख निकाला, और टुकड़े-टुकड़े करके ज़मीन पर फेंक दिया।

सूरदास के आर्तनाद ने महेंद्रकुमार की ख्याति और प्रतिष्ठा को जड़ से हिला दिया। वह आकाश से बातें करनेवाला कीर्ति-भवन क्षण-भर में धराशायी हो गया। नगर के लोग उनकी सेवाओं को भूल-से गए। उनके उद्योग से नगर का कितना उपकार हुआ था, इसकी किसी को याद ही न रही। नगर की नालियाँ और सड़कें, बग़ीचे और गलियाँ, उनके अविश्रांत प्रयत्नों की कितनी अनुगृहीत थीं। नगर की शिक्षा और स्वास्थ्य को उन्होंने किस हीनावस्था से उठाकर उन्नति के मार्ग पर लगाया था, इसकी ओर कोई ध्यान ही न देता था। देखते-देखते युगांतर हो गया। लोग उनके विषय में आलोचनाएँ करते हुए कहते—"अब वह ज़माना नहीं रहा, जब राजे-रईसों के नाम आदर से लिए जाते थे, जनता को स्वयं ही उनमें भक्ति होती थी। वे दिन बिदा हो गए। ऐश्वर्य-भक्ति प्राचीन काल की राज्य-भक्ति ही का एक अंश थी। प्रजा अपने राजा, जागीरदार, यहाँ तक कि अपने ज़मींदार पर सिर कटा देती थी। यह सर्वमान्य नीति-सिद्धांत था कि राजा भोक्ता है, प्रजा भोग्य है। यही सृष्टि का नियम था लेकिन आज राजा और प्रजा में भोक्ता और भोग्य का संबंध नहीं है, अब सेवक और सेव्य का संबंध है। अब अगर किसी राजा की इज़्ज़त है, तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति के कारण। अन्यथा उसकी दशा दाँतों-तले दबी हुई जिह्वा की-सी है। प्रजा को कभी उस पर विश्वास नहीं आता। अब जनता उसी का सम्मान करती है, उसी पर न्योछावर होती है, जिसने अपना सर्वस्व प्रजा पर अर्पित कर दिया हो, जो त्याग-धन का धनी

हो। जब तक कोई सेवा-मार्ग पर चलना नहीं सीखता, जनता के दिलों में घर नहीं कर पाता।"

राजा साहब को अब मालूम हुआ कि प्रसिद्धि श्वेत वस्त्र के सदृश है, जिस पर एक धब्बा भी नहीं छिप सकता। जिस तरफ़ उनकी मोटर निकल जाती, लोग उन पर आवाज़ें कसते, यहाँ तक कि कभी-कभी तालियाँ भी पड़तीं। बेचारे बड़ी विपत्ति में फँसे हुए थे। ख्याति-लाभ करने चले थे, मर्यादा से भी हाथ धोया। और अवसरों पर इंदु से परामर्श कर लिया करते थे, इससे हृदय को शांति मिलती थी; पर अब वह द्वार भी बंद था। इंदु से सहानुभूति की कोई आशा न थी।

रात के नौ बजे थे। राजा साहब अपने दीवानख़ाने में बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे—लोग कितने कृतघ्न होते हैं! मैंने अपने जीवन के सात वर्ष उनकी निरंतर सेवा में व्यतीत कर दिए, अपना कितना समय, कितना अनुभव, कितना सुख उनकी नज़र किया! उसका मुझे आज यह उपहार मिल रहा है कि एक अंधा भिखारी मुझे सारे शहर में गालियाँ देता फिरता, और कोई उसकी ज़बान नहीं पकड़ता, बल्कि लोग उसे और भी उकसाते और उत्तेजित करते हैं। इतने सुव्यवस्थित रूप से अपने इलाक़े का प्रबंध करता, तो अब तक निकासी में लाखों रुपए की वृद्धि हो गई होती। एक दिन वह था कि जिधर से निकल जाता था, लोग खड़े हो-होकर सलाम करते थे, सभाओं में मेरा व्याख्यान सुनने के लिये लोग उत्सुक रहते थे, और मुझे अंत में बोलने का अवसर मिलता था; और एक दिन यह है कि मुझ पर तालियाँ पड़ती हैं, और मेरा स्वाँग निकालने की तैयारियाँ की जाती हैं। अंधे में फिर भी विवेक है, नहीं तो बनारस के शोहदे दिन-दहाड़े मेरा घर लूट लेते।"

सहसा अरदली ने आकर मि० क्लार्क का आज्ञापत्र उनके सामने

रख दिया। राजा साहब ने चौंककर लिफ़ाफ़ा खोला, तो अवाक् रह गए! विपत्ति-पर-विपत्ति! रही-सही इज़्ज़त भी ख़ाक में मिल गई।

चपरासी—"हुज़ूर, कुछ जवाब देंगे?"

राजा साहब—"जवाब की ज़रूरत नहीं।"

चपरासी—"कुछ इनाम नहीं मिला। हुज़ूर ही......।"

राजा साहब ने उसे और कुछ न कहने दिया। जेब से एक रुपया निकालकर फेंक दिया। अरदली चला गया।

राजा साहब सोचने लगे—दुष्ट को इनाम माँगते शर्म भी नहीं आती, मानो मेरे नाम कोई धन्यवाद-पत्र लाए हैं। कुत्ते हैं और क्या, कुछ न दो, तो काटने दौड़ें, झूठी-सच्ची शिकायतें करें। समझ में नहीं आता, क्लार्क ने क्यों अपना हुक्म मंसूख़ कर दिया। जॉन सेवक से किसी बात पर अनबन हो गई क्या? शायद सोफ़िया ने क्लार्क को ठुकरा दिया। चलो, यह भी अच्छा ही हुआ। लोग यह तो कहेंगे ही कि अंधे ने राजा साहब को नीचा दिखा दिया; पर इस दुहाई से तो गला छूटेगा।

उनकी दशा इस समय उस आदमी की-सी थी, जो अपने मुँह-ज़ोर घोड़े के भाग जाने पर ख़ुश हो। अब हड्डियों के टूटने का भय तो नहीं रहा। मैं घाटे में नहीं हूँ। अब रूठी रानी भी प्रसन्न हो जायँगी। इंदु से कहूँगा, मैंने ही मिस्टर क्लार्क से अपना फ़ैसला मंसूख़ करने के लिये कहा है।

वह कई दिन से इंदु से मिलने न गए थे। अंदर जाते हुए डरते थे कि इंदु के तानों का क्या जवाब दूँगा। इंदु भी इस भय से उसके पास न आती थी कि कहीं फिर मेरे मुँह से कोई अप्रिय शब्द न निकल जाय। प्रत्येक दांपत्य कलह के पश्चात् जब वह उसके कारणों पर शांत हृदय से विचार करती थी, तो उसे ज्ञात होता था कि मैं ही अपराधिनी हूँ, और अपने दुराग्रह पर उसे हार्दिक दुःख

होता था। उसकी माता ने बाल्यावस्था ही से पतिव्रत का बहुत ऊँचा आदर्श उसके सम्मुख रक्खा था। उस आदर्श से गिरने पर वह मन-ही-मन कुढ़ती और अपने को धिक्कारती थी—"मेरा धर्म उनकी आज्ञा का पालन करना है। मुझे तन-मन से उनकी सेवा करनी चाहिए। मेरा सबसे पहला कर्तव्य उनके प्रति है, देश और जाति का स्थान गौण है; पर मेरा दुर्भाग्य बार-बार मुझे कर्तव्य-मार्ग से विचलित कर देता है। मैं इस अंधे के पीछे बरबस उनसे उलझ पड़ी। वह विद्वान् हैं, विचारशील हैं। यह मेरी धृष्टता है कि मैं उनकी अगुआई करने का दावा करती हूँ। जब मैं छोटी-छोटी बातों में मानापमान का विचार करती हूँ, तो उनसे कैसे आशा करूँ कि वह प्रत्येक विषय में निष्पक्ष हो जायँ।"

कई दिनों तक मन में यह खिचड़ी पकाते रहने के कारण उसे सूरदास से चिढ़ हो गई। सोचा—इसी अभागे के कारण मैं यह मनस्ताप भोग रही हूँ। इसी ने यह मनोमालिन्य पैदा कराया है। आख़िर उस ज़मीन से मोहल्लेवालों ही का निस्तार होता है न, तो जब उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, तो अंधे की क्यों नानी मरती है! किसी की ज़मीन पर कोई ज़बरदस्ती क्यों अधिकार करे, यह ढकोसला है, और कुछ नहीं। निर्बल जन आदि काल से ही सताए जाते रहे हैं, और सताए जाते रहेंगे। जब यह व्यापक नियम है, तो क्या एक कम, क्या एक ज़्यादा।

इन्हीं दिनों जब सूरदास ने राजा साहब को शहर में बदनाम करना शुरू किया, तो उसके ममत्व का पलड़ा बड़ी तेज़ी से दूसरी ओर झुका। उसे सूरदास के नाम से चिढ़ हो गई—यह टके का आदमी और इसका इतना साहस कि हम लोगों के सिर चढ़े! अगर साम्यवाद का यही अर्थ है, तो ईश्वर हमें इससे बचाए। यह दिनों का फेर है, नहीं तो इसकी क्या मजाल थी कि हमारे ऊपर छींटे उड़ाता।

इंदु दीन जनों पर दया कर सकती थी—दया में प्रभुत्व का भाव अंतर्हित है—न्याय न कर सकती थी, न्याय की भित्ति साम्य पर है। सोचती—यह उस बदमाश को पुलिस के हवाले क्यों नहीं कर देते? मुझसे तो यह अपमान न सहा जाता। परिणाम चाहे कुछ होता, पर इस समय तो इस बुरी तरह पेश आती कि देखने-वालों के रोएँ खड़े हो जाते।

वह इन्हीं कुत्सित विचारों में पड़ी हुई थी कि सोफ़िया ने जाकर उसके सामने राजा साहब पर सूरदास के साथ अन्याय करने का अपराध लगाया, खुली हुई धमकी दे गई। इंदु को इतना क्रोध आया कि सूरदास को पाती, तो उसका मुँह नोच लेती। सोफ़िया के जाने के बाद वह क्रोध में भरी हुई राजा साहब से मिलने आई; पर बाहर मालूम हुआ कि वह कुछ दिन के लिये इलाक़े पर गए हुए हैं। ये दिन उसने बड़ी बेचैनी में काटे। अफ़सोस हुआ कि गए, और मुझसे पूछा भी नहीं!

राजा साहब जब इलाक़े से लौटे, तो उन्हें मि० क्लार्क का परवाना मिला। वह उस पर विचार कर रहे थे कि इंदु उनके पास आई, और बोली—"इलाक़े पर गए, और मुझे ख़बर तक न हुई, मानो मैं घर में हूँ ही नहीं।"

राजा ने लज्जित होकर कहा—"ऐसा ही एक ज़रूरी काम था। एक दिन की भी देर हो जाती, तो इलाक़े में फ़ौजदारी हो जाती। मुझे अब अनुभव हो रहा है कि ताल्लुक़ेदारों के अपने इलाक़े पर न रहने से प्रजा को कितना कष्ट होता है।"

"इलाक़े में रहते, तो कम-से-कम इतनी बदनामी तो न होती।"

"अच्छा, तुम्हें भी मालूम हो गया। तुम्हारा कहना न मानने में मुझसे बड़ी भूल हुई। इस अंधे ने ऐसी विपत्ति में डाल दिया कि कुछ करते-धरते नहीं बनता। सारे शहर में बदनाम कर रहा

है। न-जाने शहरवालों को इससे इतनी सहानुभूति कैसे हो गई। मुझे इसकी ज़रा भी आशंका न थी कि यह शहरवालों को मेरे विरुद्ध खड़ा कर देगा।"

"मैंने तो जब से सुना है कि अंधा तुम्हें बदनाम कर रहा है, तब से ऐसा क्रोध आ रहा है कि वश चले, तो उसे जीता चुनवा दूँ।"

राजा साहब ने प्रसन्न होकर कहा—"तो हम दोनो घूम-घामकर एक ही पथ पर आ पहुँचे।"

"इस दुष्ट को ऐसा दंड देना चाहिए कि उम्र भर याद रहे।"

"मिस्टर क्लार्क ने इसका फ़ैसला ख़ुद ही कर दिया। सूरदास की ज़मीन वापस कर दी गई।"

इंदु को ऐसा मालूम हुआ कि ज़मीन धँस रही है, और मैं उसमें समाई जा रही हूँ। वह दीवार न थाम लेती, तो ज़रूर गिर पड़ती—"सोफ़िया ने मुझे यों नीचा दिखाया है। मेरे साथ यह कूट-नीति चली है! हमारी मर्यादा को धूल में मिलाना चाहती है। चाहती है कि मैं उसके क़दम चूमूँ। कदापि नहीं।"

उसने राजा साहब से कहा—"अब आप क्या करेंगे?"

"कुछ नहीं, करना क्या है। सच पूछो, तो मुझे इसका ज़रा भी दुःख नहीं है। मेरा तो गला छूट गया।"

"और हेठी कितनी हुई!"

"हेठी ज़रूर हुई; पर इस बदनामी से अच्छी है।"

इंदु का मुख-मंडल गर्व से तमतमा उठा। बोली—"यह बात आपके मुँह से शोभा नहीं देती। यह नेकनामी-बदनामी का प्रश्न नहीं है, अपनी मर्यादा-रक्षा का प्रश्न है। आपकी कुल-मर्यादा पर आघात हुआ है, उसकी रक्षा करना आपका परम धर्म है, चाहे उसके लिये न्याय के सिद्धांतों की बलि ही क्यों न देनी पड़े। मि० क्लार्क की हस्ती ही क्या है, मैं किसी सम्राट् के हाथों भी अपनी मर्यादा की हत्या न

होने दूँगी, चाहे इसके लिये मुझे अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण भी, देना पड़े। आप तुरंत गवर्नर को मि० क्लार्क के न्याय-विरुद्ध हस्तक्षेप की सूचना दीजिए। हमारे पूर्वजों ने अँगरेज़ों की उस समय प्राण-रक्षा की थी, जब उनकी जानों के लाले पड़े हुए थे। सरकार उन एहसानों को मिटा नहीं सकती। नहीं, आप स्वयं जाकर गवर्नर से मिलिए, उनसे कहिए कि मि० क्लार्क के हस्तक्षेप से मेरा अपमान होगा, मैं जनता की दृष्टि में गिर जाऊँगा, और शिक्षित-वर्ग को सरकार में भी लेश-मात्र विश्वास न रहेगा। साबित कर दीजिए कि किसी रईस का अपमान करना दिल्लगी नहीं है।"

राजा साहब ने चिंतित स्वर में कहा—"मि० क्लार्क से सदा के लिये विरोध हो जायगा। मुझे आशा नहीं है कि उनके मुक़ाबले में गवर्नर मेरा पक्ष ले। तुम इन लोगों को जानती नहीं हो। इनकी अफ़सरी-मातहती दिखाने-भर की है, वास्तव में सब एक हैं। एक जो करता है, सब उसका समर्थन करते हैं। व्यर्थ की हैरानी होगी।"

अगर गवर्नर न सुनें, तो वाइसराय से अपील कीजिए। विलायत जाकर वहाँ के नेताओं से मिलिए। यह कोई छोटी बात नहीं है, आपके सिर पर एक महान् उत्तरदायित्व का भार आ पड़ा है, इसमें जौ-भर भी दबना आपको सदा के लिये कलंकित कर देगा।"

राजा साहब ने एक मिनट तक विचार करके कहा—"तुम्हें यहाँ के शिक्षितों का हाल मालूम नहीं है। तुम समझती होगी कि वे मेरी सहायता करेंगे, या कम-से-कम सहानुभूति ही दिखाएँगे; पर जिस दिन मैंने प्रत्यक्ष रूप से मि० क्लार्क की शिकायत की, उसी दिन से लोग मेरे घर आना-जाना छोड़ देंगे। कोई मुँह तक न दिखाएगा। लोग रास्ता कतराकर निकल जायँगे। इतना ही नहीं, गुप्त रूप से क्लार्क से मेरी शिकायतें करेंगे, और मुझे हानि पहुँचाने में कोई बात उठा न रक्खेंगे। हमारे भद्र-समाज की

नैतिक दुर्बलता अत्यंत लज्जाजनक है। सब-के-सब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सरकार के आश्रित हैं। जब तक उन्हें मालूम है कि हुक्काम से मेरी मैत्री है, तभी तक मेरा आदर-सत्कार करते हैं। जिस दिन उन्हें मालूम होगा कि ज़िलाधीश की निगाह मुझसे फिर गई, उसी दिन से मेरे मान-सम्मान की इति समझो। अपने बंधुओं की यही दुर्बलता और कुटिल स्वार्थ-लोलुपता है, जो हमारे निर्भीक, सत्यवादी और हिम्मत के धनी नेताओं को हताश कर देती है।"

राजा साहब ने बहुत हीले-हवाले किए, परिस्थिति का बहुत ही दुराशा-पूर्ण-चित्र खींचा, लेकिन इंदु अपने ध्येय से जौ-भर भी न टली। वह उनके हृदय में उस सोए हुए भाव को जगाना चाहती थी, जो कभी प्रताप और साँगा, टीपू और नाना के नाम पर लहालोट हो जाता था। वह जानती थी कि वह भाव प्रभुत्व-प्रेम की घोर निद्रा में मग्न है, मरा नहीं। बोली—"अगर मान लें कि आपकी सारी शंकाएँ पूरी हो जायँ, आपका सम्मान मिट जाय, सारा शहर आपका दुश्मन हो जाय, हुक्काम आपको संदेह की दृष्टि से देखने लगें, यहाँ तक कि आपके इलाक़े के ज़ब्त होने की नौबत भी आ जाय, तब भी मैं आपसे यही कहती जाऊँगी, अपने स्थान पर अटल रहिए। यही हमारा क्षात्र धर्म है। आज ही यह बात समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो जायगी, और सारी दुनिया नहीं, तो कम-से-कम समस्त भारत आपकी ओर उत्सुक नेत्रों से देखेगा कि आप जातीय गौरव को कितने धैर्य, साहस और त्याग के साथ रक्षा करते हैं। इस संग्राम में हमारी हार भी महान् विजय का स्थान पाएगी; क्योंकि यह पशु-बल की नहीं, आत्मबल की लड़ाई है। लेकिन मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि आपकी शंकाएँ निर्मूल सिद्ध होंगी। एक कर्मचारी के अन्याय की फ़रियाद सरकार के

कानों में पहुँचाकर आप उस सुदृढ़ राजभक्ति का परिचय देंगे, सरकार की न्याय-रीति उस पर पूर्ण विश्वास की घोषणा करेंगे, जो साम्राज्य का आधार है। बालक माता के सामने रोए, हठ करे, मचले; पर माता की ममता क्षण-मात्र भी कम नहीं होती। मुझे तो निश्चय है कि सरकार अपने न्याय की धाक जमाने के लिये आपका और भी सम्मान करेगी। जातीय आंदोलन के नेता प्राय: उच्च कोटि की उपाधियों से विभूषित किए जाते हैं, और कारण नहीं कि आपको भी वही सम्मान न प्राप्त हो।"

यह युक्ति राजा साहब को विचारणीय जान पड़ी। बोले—"अच्छा, सोचूँगा।" इतना कहकर बाहर चले गए।

दूसरे दिन सुबह जॉन सेवक राजा साहब से मिलने आए। उन्होंने भी यही सलाह दी कि इस मुआमले में ज़रा भी न दबना चाहिए। लड़ूँगा तो मैं, आप केवल मेरी पीठ ठोकते जाइएगा। राजा साहब को कुछ ढाढ़स हुआ, एक से दो हुए। संध्या-समय वह कुँअर साहब से सलाह लेने गए। उनकी भी यही राय हुई। डॉक्टर गंगुली तार द्वारा बुलाए गए। उन्होंने यहाँ तक ज़ोर दिया कि "आप चुप भी हो जायँगे, तो मैं व्यवस्थापक-सभा में इस विषय को अवश्य उपस्थित करूँगा। सरकार हमारे वाणिज्य-व्यवसाय की ओर इतनी उदासीन नहीं रह सकती। यह न्याय-अन्याय या मानापमान का प्रश्न नहीं है, केवल व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है।"

राजा साहब इंदु से बोले—"लो भई, तुम्हारी ही सलाह पक्की रही। जान पर खेल रहा हूँ।"

इंदु ने उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखकर कहा—"ईश्वर ने चाहा, तो आपकी विजय ही होगी।"

सैयद ताहिरअली को पूरी आशा थी कि जब सिगरेट का कारख़ाना बनना शुरू हो जायगा, तो मेरी कुछ-न-कुछ तरक़्क़ी अवश्य हो जायगी। मि० सेवक ने उन्हें इसका वचन दिया था। इस आशा के सिवा उन्हें अब तक ऋणों को चुकाने का कोई उपाय न नज़र आता था, जो दिनोंदिन, बरसात की घास के समान, बढ़ते जाते थे। वह स्वयं बड़ी किफ़ायत से रहते थे। ईद के अतिरिक्त कदाचित् और कभी दूध उनके कंठ के नीचे न जाता था। मिठाई उनके लिये हराम थी। पान-तंबाकू का उन्हें शौक़ ही न था। किंतु वह ख़ुद चाहे कितनी ही किफ़ायत करें, घरवालों की ज़रूरत में काट-कपट करना न्याय-विरुद्ध समझते थे। ज़ैनब और रक़िया अपने लड़कों के लिये दूध लेना आवश्यक समझती थीं। कहतीं—यही तो लड़कों के खाने-पीने की उम्र है, इसी उम्र में तो उनकी हड्डियाँ चौड़ी-चकली होती हैं, दिल और दिमाग़ बढ़ते हैं। इस उम्र में लड़कों को मुक़व्वी खाना न मिले, तो उनकी सारी ज़िंदगी बरबाद हो जाती है।"

लड़कों के विषय में यह कथन सत्य हो या नहीं; पर पान-तंबाकू के विषय में ताहिरअली की विमाताएँ जिस युक्ति का प्रतिपादन करती थीं, उसकी सत्यता स्वयं सिद्ध थी—"स्त्रियों का इनके बग़ैर निबाह ही नहीं हो सकता। कोई देखे, तो कहे, क्या इनके यहाँ पान तक मयस्सर नहीं। यही तो अब शराफ़त की एक निशानी रह गई है, मामाएँ नहीं, ख़वासें नहीं, तो क्या पान से भी गए। मरदों को पान की ऐसी ज़रूरत नहीं। उन्हें हाकिमों से मिलना-

जुताना पड़ता है, पराई बंदगी करते हैं, उन्हें पान की क्या ज़रूरत !"

विपत्ति यह थी कि माहिर और जाबिर तो मिठाइयाँ खाकर ऊपर से दूध पीते, और साबिर और नसीमा खड़े मुँह ताका करते। ज़ैनब बेगम कहतीं—"इनके गुड़ के बाप कोल्हू ही, ख़ुदा के फ़ज़ल से, ज़िंदा हैं। सबको दिखाकर खिलाएँ, तभी खिलाना कहलाए? सब कुछ तो उन्हीं की मुट्ठी में है, जो चाहें खिलाएँ, जैसे चाहें रक्खें; कोई हाथ पकड़नेवाला है?"

वे दोनो दिन-भर बकरी की तरह पान चबाया करतीं, कुल्सूम को भोजन के पश्चात् एक बीड़ा भी मुश्किल से मिलता था। अपनी इन ज़रूरतों के लिये ताहिरअली से पूछने या चादर देखकर पाँव फैलाने की ज़रूरत न थी।

प्रातःकाल था। चमड़े की खरीद हो रही थी। सैकड़ों चमार बैठे चिलम पी रहे थे। यही एक समय था, जब ताहिरअली को अपने गौरव का कुछ आनंद मिलता था। इस वक़्त उन्हें अपने महत्त्व का हलका-सा नशा हो जाता था। एक चमार द्वार पर झाड़ू लगाता, एक उनका तख़्त साफ़ करता, एक पानी भरता; किसी को साग-भाजी लाने के लिये बाज़ार भेज देते, और किसी से लकड़ी चिराते। इतने आदमियों को अपनी सेवा में तत्पर देखकर उन्हें मालूम होता था कि मैं भी कुछ हूँ। उधर ज़ैनब और रक़िया परदे में बैठी हुई पानदान का ख़र्च वसूल करतीं। साहब ने ताहिरअली को दस्तूरी लेने से मना किया था, स्त्रियों को पान-पत्ते का ख़र्च लेने का निषेध न किया था। इस आमदनी से दोनो ने अपने-अपने लिये गहने बनवा लिए थे। ताहिरअली इस रक़म का हिसाब लेना छोटी बात समझते थे।

इसी समय जगधर आकर बोला—"मुंसीजी, हिसाब कब तक

चुकता कीजिएगा ? मैं कोई लखपती थोड़े ही हूँ कि रोज़ मिठाइयाँ देता जाऊँ, चाहे दाम मिलें या न मिलें। आप-जैसे दो-चार गाहक और मिल जायँ, तो मेरा दिवाला ही निकल जाय। लाइए, रुपए दिलवाइए, अब हीला-हवाला न कीजिए, गाँव-मुहल्ले की बहुत मुरौवत कर चुका। मेरे सिर भी तो महाजन का लहना-तगादा है। यह देखिए कागद, हिसाब कर दीजिए।"

देनदारों के लिये हिसाब का काग़ज़ यमराज का परवाना है। वे उसकी ओर ताकने का साहस नहीं कर सकते। हिसाब देखने का मतलब है, रुपए अदा करना। देनदार ने हिसाब का चिट्ठा हाथ में लिया, और पानेवाले का हृदय आशा से विकसित हुआ। हिसाब का परत हाथ में लेकर फिर कोई हीला नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि देनदारों को ख़ाली हाथ हिसाब देखने का साहस नहीं होता।"

ताहिरअली ने बड़ी नम्रता से कहा—"भई, हिसाब सब मालूम है, अब बहुत जल्द तुम्हारा बक़ाया साफ़ हो जायगा। दो-चार दिन और सब्र करो।"

जगधर—"कहाँ तक सबर करूँ साहब ? दो-चार दिन करते-करते तो महीनों हो गए। मिठाइयाँ खाते बखत तो मीठी मालूम होती हैं, दाम देते क्यों कड़ुवा लगता है ?"

ताहिर—"बिरादर, आजकल ज़रा तंग हो गया हूँ, मगर अब जल्द कारख़ाने का काम शुरू होगा, मेरी भी तरक़्क़ी होगी। बस, तुम्हारी एक-एक कौड़ी चुका दूँगा ?"

जगधर—"ना साहब, आज तो मैं रुपए लेकर ही जाऊँगा। महाजन के रुपए न दूँगा, तो आज मुझे छटाँक-भर भी सौदा न मिलेगा। भगवान जानते हैं, जो मेरे घर में टका भी हो। यह समझिए कि आप मेरा नहीं, अपना दे रहे हैं। आपसे झूठ बोलता

होऊँ, तो जवानी काम न आए, रात बाल-बच्चे भूखे ही सो रहे। सारे मुहल्ले में सदा लगाई, किसी ने चार आने पैसे न दिए।"

चमारों के चौधरी को जगधर पर दया आ गई। ताहिरअली से बोला—"मुंसीजी, मेरा पावना इन्हीं को दे दीजिए, मुझे दो-चार दिन में दे दीजिएगा।"

ताहिर—"जगधर, मैं ख़ुदा को गवाह करके कहता हूँ, मेरे पास रुपए नहीं हैं, ख़ुदा के लिये दो-चार दिन ठहर जाओ।"

जगधर—"मुंसीजी, झूठ बोलना गाय खाना है, महाजन के रुपए आज न पहुँचे, तो कहीं का न रहूँगा।"

ताहिरअली ने घर में आकर कुल्सूम से कहा—"मिठाईवाला सिर पर सवार है, किसी तरह टलता ही नहीं। क्या करूँ, रोकड़ में से दस रुपए निकालकर दे दूँ?"

कुल्सूम ने चिढ़कर कहा—"जिसके दाम आते हैं, वह सिर पर सवार होगा ही! अम्माजानों से क्यों नहीं माँगते? मेरे बच्चों को तो मिठाई मिली नहीं; जिन्होंने उचक-उचककर खाया-खिलाया है, वे दाम देने की बेर क्यों भीगी बिल्ली बनी बैठी हुई हैं?"

ताहिर—"इसी मारे तो मैं तुमसे कोई बात कहता नहीं। रोकड़ से ले लेने में क्या हरज है। तनख़्वाह मिलते ही जमा कर दूँगा।"

कुल्सूम—"ख़ुदा के लिये कहीं यह ग़ज़ब न करना। रोकड़ को काला साँप समझो। कहीं आज ही साहब रक़म की जाँच करने लगे, तो?"

ताहिर—"अजी नहीं, साहब को इतनी फ़ुरसत कहाँ कि रोकड़ मिलाते रहें!"

कुल्सूम—"मैं अमानत की रक़म छूने को न कहूँगी। ऐसा ही है, तो नसीमा का तौक़ उतारकर कहीं गिरो रख दो, और तो मेरे किए कुछ नहीं हो सकता।"

ताहिरअली को दुःख तो बहुत हुआ; पर करते क्या। नसीमा का तौक़ निकालते थे, और रोते थे। कुलसूम उसे प्यार करती थी, और फुसलाकर कहती थी, तुम्हें नया तौक़ बनवाने जा रहे हैं। नसीमा फूली न समाती थी कि मुझे नया तौक़ मिलेगा।

तौक़ रूमाल में लिए हुए ताहिरअली बाहर निकले, और जगधर को अलग ले जाकर बोले—"भई, इसे ले जाओ, कहीं गिरो रखकर अपना काम चलाओ। घर में रुपए नहीं हैं।"

जगधर—"उधार सौदा बेचना पाप है; पर करूँ क्या, नगद बेचने लगूँ, तो घूमता ही रह जाऊँ।"

यह कहकर उसने सकुचाते हुए तौक़ ले लिया, और पछताता हुआ चला गया। कोई दूसरा आदमी अपने गाहक को इतना दिक़ करके रुपए न वसूल करता। उसे लड़की पर दया आ ही जाती, जो मुस्किराकर कह रही थी, मेरा तौक़ कब बनाकर लाओगे। परंतु जगधर गृहस्थी के असह्य भार के कारण उससे कहीं असज्जन बनने पर मजबूर था, जितना वह वास्तव में था।

जगधर को गए आध घंटा भी न गुज़रा था कि बजरंगी त्योरियाँ बदले हुए आकर बोला—"मुंसीजी, रुपए देने हों, तो दीजिए, नहीं कह दीजिए, बाबा हमसे नहीं हो सकता; बस, हम सबर कर लें। समझ लेंगे कि एक गाय नहीं लगी। रोज-रोज दौड़ाते क्यों हैं?"

ताहिर—"बिरादर, जैसे इतने दिनों तक सब्र किया है, थोड़े दिन और करो। ख़ुदा ने चाहा, तो अब की तुम्हारी एक पाई भी न रहेगी।"

बजरंगी—"ऐसे वादे तो आप बीसों बार कर चुके हैं।"

ताहिर—"अब की पक्का वादा करता हूँ।"

बजरंगी—"तो किस दिन हिसाब कीजिएगा?"

ताहिरअली असमंजस में पड़ गए, कौन-सा दिन बतलाएँ।

देनदारों को हिसाब के दिन का उतना ही भय होता है, जितना पापियों को। वे 'दो-चार', 'बहुत जल्द', 'आज-कल में' आदि अनिश्चयात्मक शब्दों की आड़ लिया करते हैं। ऐसे वादे पूरे किए जाने के लिये नहीं, केवल पानेवालों को टालने के लिये किए जाते हैं। ताहिरअली स्वभाव से खरे आदमी थे। तक़ाज़ों से उन्हें बड़ा कष्ट होता था। वह तक़ाज़ों से उतना ही डरते थे, जितना शैतान से। उन्हें दूर से देखते ही उनके प्राण-पखेरू छटपटाने लगते थे। कई मिनट तक सोचते रहे, क्या जवाब दूँ, ख़र्च का यह हाल है, और तरक़्क़ी के लिये कहता हूँ, तो कोरा जवाब मिलता है। आख़िरकार बोले—"दिन कौन-सा बताऊँ, चार-छः दिन में जब आ जाओगे, उसी दिन हिसाब हो जायगा।"

बजरंगी—"मुंसीजी, मुझसे उड़नघाइयाँ न बताइए। मुझे भी सभी तरह के गाहकों से काम पड़ता है। अगर दस दिन में आऊँगा, तो आप कहेंगे, इतनी देर क्यों की, अब रुपए ख़र्च हो गए। चार-पाँच दिन में आऊँगा, तो आप कहेंगे, अभी तो रुपए मिले ही नहीं। इसलिये मुझे कोई दिन बता दीजिए, जिसमें मेरा भी हरज न हो, और आपको भी सुभीता हो।"

ताहिर—"दिन बता देने में मुझे कोई उज़्र न होता, लेकिन बात यह है कि मेरी तनख़्वाह मिलने की कोई तारीख़ मुक़र्रर नहीं है; दो-चार दिनों का हेर-फेर हो जाता है। एक हफ़्ते के बाद किसी लड़के को भी भेज दोगे, तो रुपए मिल जायँगे।"

बजरंगी—"अच्छी बात है, आप ही का कहना सही। अगर अब की वादा-खिलाफ़ी कीजिएगा, तो फिर माँगने न आऊँगा।"

बजरंगी चला गया, तो ताहिरअली डींगें मारने लगे—"तुम लोग समझते होगे, ये लोग इतनी-इतनी तलब पाते हैं, घर में बटोरकर रखते होंगे, और यहाँ ख़र्च का यह हाल है कि आधा

महीना भी नहीं ख़त्म होता, और रुपए उड़ जाते हैं। शराफ़त रोग है, और कुछ नहीं।"

एक चमार ने कहा—"हजूर, बड़े आदमियों का खर्च भी बड़ा होता है। आप ही लोगों की बदौलत तो गरीबों की गुजर होती है। घोड़े की लात घोड़ा ही सह सकता है।"

ताहिर—"अजी, सिर्फ़ पान में इतना ख़र्च हो जाता है कि उतने में दो आदमियों का अच्छी तरह गुज़र हो सकता है।"

चमार—"हजूर, देखते नहीं हैं क्या, बड़े आदमियों की बड़ी बात होती है।"

ताहिरअली के आँसू अच्छी तरह न पुँछने पाए थे कि सामने से ठाकुरदीन आता हुआ दिखाई दिया। बेचारे पहले ही से कोई बहाना सोचने लगे। इतने में उसने आकर सलाम किया, और बोला—"मुंसीजी, कारखाने में कब से हाथ लगेगा?"

ताहिर—"मसाला जमा हो रहा है। अभी इंजीनियर ने नक़्शा नहीं बनाया है, इसी वजह से देर हो रही है।"

ठाकुरदीन—"इंजियर ने भी कुछ लिया होगा। बड़ी बेइमान जात है हजूर, मैंने भी कुछ दिन ठेकेदारी की है; जो कमाता था, इंजियरों को खिला देता था। आखिर घबराकर छोड़ बैठा। इंजियर के भाई डॉक्टर होते हैं। रोगी चाहे मरता हो, पर फीस लिए बिना बात न सुनेंगे। फीस के नाम से रिआयत भी करेंगे, तो गाड़ी के किराए और दवा के दाम में कस लेंगे (हिसाब का परत दिखाकर) जरा इधर भी एक निगाह हो जाय।"

ताहिर—"सब मालूम है, तुमने ग़लत थोड़े ही लिखा होगा।"

ठाकुरदीन—"हजूर, ईमान है, तो सब कुछ है। साथ कोई न जायगा। तो मुझे क्या हुकुम होता है?"

ताहिर—"दो-चार दिन की मुहलत दो।"

ठाकुरदीन—"जैसी आपकी मरजी। हजूर, चोरी हो जाने से लाचार हो गया, नहीं तो दो-चार रुपयों की कौन बात थी। उस चोरी में तबाह हो गया। घर में फूटा लोटा तक न बचा। दाने को मुहताज हो गया हजूर! चोरों को आँखों के सामने भागते देखा, उनके पीछे दौड़ा। पागलखाने तक दौड़ता चला गया। अँधेरी रात थी, ऊँच-खाल कुछ न सूझता था। एक गड्ढे में गिर पड़ा। फिर उठा। माल बड़ा प्यारा होता है। लेकिन चोर निकल गए थे। थाने में इत्तलाय की, थानेदारों की खुसामद की। मुदा गई हुई लच्छमी कहीं लौटती हैं। तो कब आऊँ?"

ताहिर—"तुम्हारे आने की ज़रूरत नहीं, मैं खुद भिजवा दूँगा।"

ठाकुरदीन—"जैसी आपकी खुसी, मुझे कोई उजर नहीं है। मुझे तगादा करते आप ही सरम आती है। कोई भलामानुस हाथ में पैसे रहते हुए टालमटोल नहीं करता, फ़ौरन निकालकर फेंक देता है। आज जरा पान लेने जाना था, इसीलिये चला आया था। सब न हो सके, थोड़-बहुत दे दीजिए। किसी तरह काम न चला, तब आपके पास आया। आदमी पहचानता हूँ हजूर; पर मौका ऐसा ही आ पड़ा है।"

ठकुरदीन की विनम्रता और प्रफुल्लित सहृदयता ने ताहिरअली को मुग्ध कर दिया। तुरंत संदूक़ खोला, और ५) निकालकर उसके सामने रख दिए। ठकुरदीन ने रुपए उठाए नहीं, एक क्षण कुछ विचार करता रहा, तब बोला—"ये आपके रुपए हैं कि सरकारी रोकड़ के हैं?"

ताहिर—"तुम ले जाओ, तुम्हें आम खाने से मतलब कि पेड़ गिनने से।"

ठाकुरदीन—"नहीं मुंसीजी, यह न होगा। अपने रुपए हों, तो दीजिए, मालिक की रोकड़ हो, तो रहने दीजिए; फिर आकर ले

जाऊँगा। आपके चार पैसे खाता हूँ, तो आपको आँखों से देखकर गढ़े में न गिरने दूँगा। बुरा मानिए, तो मान जाइए, इसकी चिंता नहीं, सफा बात करने के लिये बदनाम हूँ, आपके रुपए यों अलल्ले-तलल्ले खर्च होंगे, तो एक दिन आप धोखा खाएँगे। सराफत ठाठ-बाट बढ़ाने में नहीं है, अपनी आबरू बचाने में है।"

ताहिरअली ने सजल-नयन होकर कहा—"रुपए लेते जाओ।"

ठाकुरदीन उठ खड़ा हुआ, और बोला—"जब आपके पास हों, तब देना।"

अब तक तो ताहिरअली को कारखाने के बनने की उम्मीद थी, इधर आमदनी बढ़ी, उधर मैंने रुपए दिए; लेकिन जब मि० क्लार्क ने अनिश्चित समय तक के लिये कारख़ाने का काम बंद करवा दिया, तब ताहिरअली का अपने लेनदारों को समझाना मुश्किल हो गया। लेनदारों ने ज़्यादा तंग करना शुरू किया। ताहिरअली बहुत चिंतित रहने लगे, बुद्धि कुछ काम न करती थी। कुलसूम कहती थी—"ऊपर का ख़र्च सब बंद कर दिया जाय। दूध, पान और मिठाइयों के विना आदमी को कोई तकलीफ़ नहीं हो सकती। ऐसे कितने आदमी हैं, जिन्हें इस ज़माने में ये चीज़ें मयस्सर हैं? औरों की क्या कहूँ, मेरे ही लड़के तरसते हैं। मैं पहले भी समझा चुकी हूँ, और अब फिर समझाती हूँ कि जिनके लिये तुम अपना ख़ून और पसीना एक कर रहे हो, वे तुम्हारी बात भी न पूछेंगे। पर निकलते ही साफ़ उड़ न जायँ, तो कहना। अभी से रुख़ देख रही हूँ। औरों को सूद पर रुपए दिए जाते हैं, ज़ेवर बनवाए जाते हैं; लेकिन घर के ख़र्च को कभी कुछ माँगो, तो टका-सा जवाब मिलता है, मेरे पास कहाँ! तुम्हारे ऊपर इन्हें कुछ तो रहम आना चाहिए। आज दूध, मिठाइयाँ बंद कर दो, तो घर में रहना मुश्किल हो जाय।"

तीसरा पहर था। ताहिरअली बरामदे में उदास बैठे हुए थे।

सहसा भैरो आकर बैठ गया, और बोला—"क्यों मुंसीजी, क्या सचमुच अब यहाँ कारखाना न बनेगा ?"

ताहिर—"बनेगा क्यों नहीं, अभी थोड़े दिनों के लिये रुक गया है।"

भैरो—"मुझे तो बड़ी आसा थी कि कारखाना बन गया, तो मेरी बिकरी-बट्टा बढ़ जायगा, दूकान पर बिकरी बिलकुल मंदी है। मैं चाहता हूँ कि यहाँ सबेरे थोड़ी देर बैठा करूँ। आप मंजूर कर लें, तो अच्छा हो, मेरी थोड़ी-बहुत बिकरी हो जायगी। आपको भी पान खाने के लिये कुछ नजर कर दिया करूँगा।"

किसी और समय ताहिरअली ने भैरो को डाट बताई होती। ताड़ी की दूकान खोलने की आज्ञा देना उनके धर्म-विरुद्ध था। पर इस समय रुपए की चिंता ने उन्हें असमंजस में डाल दिया। इससे पहले भी धनाभाव के कारण उनके कर्म और सिद्धांत में कई बार संग्राम हो चुका था, और प्रत्येक अवसर पर उन्हें सिद्धांतों ही का ख़ून करना पड़ा था। आज वही संग्राम हुआ, और फिर सिद्धांतों ने परिस्थितियों के सामने सिर झुका दिया। सोचने लगे—क्या करूँ ? इसमें मेरा क्या क़सूर ? मैं किसी बेजा ख़र्च के लिये शरा को नहीं तोड़ रहा हूँ, हालत ने मुझे बेबस कर दिया है। कुछ झेंपते हुए बोले—"यहाँ ताड़ी की बिकरी न होगी।"

भैरो—"हजूर, बिकरी तो ताड़ी की महक से होगी। नसेबाजों की ऐसी आदत होती है कि न देखें, तो चाहे बरसों न पिएँ, पर नसा सामने देखकर उनसे नहीं रहा जाता।"

ताहिर—"मगर साहब के हुक्म के बग़ैर मैं कैसे इजाज़त दे सकता हूँ ?"

भैरो—"आपकी जैसे मरजी ! मेरी समझ में तो साहब से पूछने की जरूरत ही नहीं। मैं कौन यहाँ दूकान रक्खूँगा। सबेरे एक घड़ा

लाऊँगा, घड़ी-भर में बेचकर अपनी राह लूँगा। उन्हें खबर ही न होगी कि यहाँ कोई ताड़ी बेचता है।"

ताहिर—"नमकहरामी सिखाते हो, क्यों ?"

भैरो—"हुजूर, इसमें नमकहरामी काहे की, अपने दाँव-घात पर कौन नहीं लेता।"

सौदा पट गया। भैरो एक मुश्त १५) देने को राज़ी हो गया। जाकर सुभागी से बोला—"देख, सौदा कर आया न ! तू कहती थी, वह कभी न मानेंगे, इसलाम हैं, उनके यहाँ ताड़ी-सराब मना है, पर मैंने कह न दिया था कि इसलाम हो, चाहे बाम्हन हो, धरम-करम किसी में नहीं रह गया। रुपए पर सभी लपक पड़ते हैं। ये मियाँ लोग बाहर ही से उजले कपड़े पहने दिखाई देते हैं, घर में भूनी भाँग नहीं होती। मियाँ ने पहले तो दिखाने के लिये इधर-उधर किया, फिर १५) में राजी हो गए। पंद्रह रुपए तो पंद्रह दिन में सीधे हो जायँगे।"

सुभागी पहले घर की मालकिन बनना चाहती थी, इसलिये रोज़ डंडे खाती थी। अब वह घर-भर की दासी बनकर मालकिन बनी हुई है। रुपए-पैसे उसी के हाथ में रहते हैं। सास, जो उसकी सूरत से जलती थी, दिन में सौ-सौ बार उसे आशीर्वाद देती है। सुभागी ने चटपट रुपए निकालकर भैरो को दिए। शायद दो बिछुड़े हुए मित्र इस तरह टूटकर गले न मिलते होंगे, जैसे ताहिरअली इन रुपयों पर टूटे। रक़म छोटी थी, इसके बदले में उन्हें अपने धर्म की हत्या करनी पड़ी थी। लेनदार अपने-अपने रुपए ले गए। ताहिरअली के सिर का बोझ हलका हुआ, मगर उन्हें बहुत रात तक नींद न आई। आत्मा की आयु दीर्घ होती है। उसका गला कट जाय, पर प्राण नहीं निकलते।

---

[२३]

जब तक सूरदास शहर में हाकिमों के अत्याचार की दुहाई देता रहा, उसके मोहल्लेवाले जॉन सेवक के हितैषी होने पर भी उससे सहानुभूति करते रहे। निर्बलों के प्रति स्वभावतः करुणा उत्पन्न हो जाती है। लेकिन सूरदास की विजय होते ही यह सहानुभूति स्पर्द्धा के रूप में प्रकट हुई। यह शंका पैदा हुई कि सूरदास मन में हम लोगों को तुच्छ समझ रहा होगा। कहता होगा, जब मैंने राजा महेंद्रकुमारसिंह-जैसों को नीचा दिखा दिया, उनका गर्व चूर-चूर कर दिया, तो ये लोग किस खेत की मूली हैं। सारा मोहल्ला उससे मन-ही-मन खार खाने लगा। केवल एक ठाकुरदीन था, जो अब भी उसके पास आया-जाया करता था। उसे अब यक़ीन हो गया था कि "सूरदास को अवश्य किसी देवता का इष्ट है, उसने जरूर कोई मंत्र सिद्ध किया है, नहीं तो उसकी इतनी कहाँ मजाल कि ऐसे-ऐसे प्रतापी आदमियों का सिर झुका देता। लोग कहते हैं, जंत्र-मंत्र सब ढकोसला है। यह कौतुक देखकर भी उनकी आँखें नहीं खुलतीं।"

सूरदास के स्वभाव में भी अब कुछ परिवर्तन हुआ। धैर्यशील वह पहले ही से था; पर न्याय और धर्म के पक्ष में कभी-कभी उसे क्रोध आ जाता था। अब उसमें अग्नि का लेशांश भी न रहा; घूर था, जिस पर सभी कूड़े फेकते हैं। मुहल्लेवाले राह चलते उसे छेड़ते, आवाज़े कसते, ताने मारते; पर वह किसी को जवाब न देता। सिर झुकाए भीख माँगने जाता, और चुपके से अपनी झोपड़ी में आकर पड़ रहता। हाँ, मिठुआ के मिज़ाज न मिलते थे,

किसी से सीधे मुँह बात न करता। कहता, यह कोई न समझे कि अंधा भीख माँगता है, अंधा बड़े-बड़ों की पीठ में धूल लगा देता है। बरबस लोगों को छेड़ता, भले आदमियों से बतबढ़ाव कर बैठता। अपने हमजोलियों से कहता, चाहूँ तो सारे मोहल्ले को बँधवा दूँ। किसानों के खेतों से बेधड़क चने, मटर, मूली, गाजर उखाड़ लाता; अगर कोई टोकता, तो उससे लड़ने को तैयार हो जाता था। सूरदास को नित्य उलहने मिलने लगे। वह अकेले में मिठुआ को समझाता; पर उस पर कुछ असर न होता था। अनर्थ यह था कि सूरदास की नम्रता और सहिष्णुता पर तो किसी की निगाह न जाती थी, मिठुआ की लनतरानियों और दुष्टताओं पर सभी की निगाह पड़ती थी। लोग यहाँ तक कह जाते थे कि सूरदास ने ही उसे सिर चढ़ा लिया है, बछुवा खूँटे ही के बल कूदता है। ईर्ष्या बाल-क्रीड़ाओं को भी कपट-नीति समझती है।

आजकल सोफ़िया मि० क्लार्क के साथ सूरदास से अक्सर मिला करती थी। वह नित्य उसे कुछ-न-कुछ देती, और उसकी दिलजोई करती। पूछती रहती, मोहल्लेवाले या राजा साहब के आदमी तुम्हें दिक़ तो नहीं कर रहे हैं? सूरदास जवाब देता, मुझ पर सब लोग दया करते हैं, मुझे किसी से शिकायत नहीं है। मोहल्लेवाले समझते थे, यह बड़े साहब से हम लोगों की शिकायत करता है। अन्योक्तियों द्वारा यह भाव प्रकट भी करते—'सैयाँ भए कोतवाल, अब डर काहे का?' 'प्यादे से फरज़ी भयो, टेढ़ो-टेढ़ो जाय।' एक बार किसी चोरी के संबंध में नायकराम के घर में तलाशी हो गई। नायकराम को संदेह हुआ, सूरदास ने यह तीर मारा है। इसी भाँति एक बार भैरो से आबकारी के दारोग़ा ने जवाब तलब किया। भैरो ने शायद नियम के विरुद्ध आधी रात तक दूकान खुली रक्खी थी। भैरो का भी शुभा सूरदास ही पर हुआ, इसी

ने यह चिनगारी छोड़ी है। इन लोगों के संदेह पर तो सूरदास को बहुत दुःख न हुआ, लेकिन जब सुभागी खुल्लमखुल्ला उसे लांछित करने लगी, तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसे विश्वास था कि कम-से-कम सुभागी को मेरी नीयत का हाल मालूम है। उसे मुझको इन लोगों के अन्याय से बचाना चाहिए था, मगर उसका मन भी मुझसे फिर गया।

इस भाँति कई महीने गुज़र गए। एक दिन रात को सूरदास खा-पीकर लेटा हुआ था कि किसी ने आकर चुपके से उसका हाथ पकड़ा। सूरदास चौंका, पर सुभागी की आवाज़ पहचानकर बोला—"क्या कहती है?"

सुभागी—"कुछ नहीं, जरा मड़ैया में चलो, तुमसे कुछ कहना है।"

सूरदास उठा, और सुभागी के साथ झोपड़ी में आकर बोला—"कह, क्या कहती है? अब तो तुझे भी मुझसे बैर हो गया है। गालियाँ देती फिरती है, चारो ओर बदनाम कर रही है। बतला, मैंने तेरे साथ कौन-सी बुराई की थी कि तूने मेरी बुराई पर कमर बाँध ली? और लोग मुझे भला-बुरा कहते हैं, मुझे रंज नहीं होता; लेकिन जब तुझे ताने देते सुनता हूँ, तो मुझे रोना आता है, कलेजे में पीड़ा-सी होने लगती है। जिस दिन भैरो की तलबी हुई थी, तूने मुझे कितना कोसा था। सच बता, क्या तुझे भी सक हुआ था कि मैंने ही दरोगाजी से सिकायत की है? क्या तू मुझे इतना नीच समझती है? बता।"

सुभागी ने करुणावरुद्ध कंठ से उत्तर दिया—"मैं तुम्हारा जितना आदर करती हूँ, उतना और किसी का नहीं। तुम अगर देवता होते, तो भी इतनी ही सिरधा से तुम्हारी पूजा करती।"

सूरदास—मैं क्या घमंड करता हूँ? साहब ने किसकी सिका-

यत करता हूँ ? जब जमीन निकल गई थी, तब तो लोग मुझसे न चिढ़ते थे। अब जमीन छूट जाने से क्यों सब-के-सब मेरे दुसमन हो गए हैं ? बता, मैं क्या घमंड करता हूँ ? मेरी जमीन छूट गई है, तो कोई बादसाही मिल गई है कि घमंड करूँगा ?"

सुभागी—"मेरे मन का हाल भगवान जानते होंगे।"

सूरदास—"तो मुझे क्यों जलाया करती है ?"

सुभागी—"इसलिये।"

यह कहकर उसने एक छोटी-सी पोटली सूरदास के हाथ में रख दी। पोटली भारी थी। सूरदास ने उसे टटोला, और पहचान गया। यह उसी की पोटली थी, जो चोरी गई थी। अनुमान से मालूम हुआ कि रुपए भी उतने ही हैं। विस्मित होकर बोला—'यह कहाँ मिली ?"

सुभागी—"तुम्हारी मिहनत की कमाई है, तुम्हारे पास आ गई। अब जतन से रखना।"

सूरदास—"मैं न रक्खूँगा। इसे ले जा।"

सुभागी—"क्यों ? अपनी चीज लेने में कोई हरज है ?"

सूरदास—"यह मेरी चीज नहीं। भैरो की चीज है। इसी के लिये भैरो ने अपनी आत्मा बेची है, महँगा सौदा लिया है। मैं इसे कैसे ले लूँ ?"

सुभागी—मैं ये सब बातें नहीं जानती। तुम्हारी चीज है, तुम्हें लेनी पड़ेगी। इसके लिये मैंने अपने घरवालों से छल किया है। इतने दिनों से इसी के लिये माया रच रही हूँ। तुम न लोगे, तो इसे मैं क्या करूँगी ?"

सूरदास—"भैरो को मालूम हो गया, तो तुम्हें जीता न छोड़ेगा।"

सुभागी—"उन्हें न मालूम होने पाएगा। मैंने इसका उपाय सोच लिया है।"

यह कहकर सुभागी चली गई। सूरदास को और तर्क-वितर्क करने का मौक़ा न मिला। बड़े असमंजस में पड़ा—"ये रुपए लूँ, या क्या करूँ? यह थैली मेरी है या नहीं? अगर भैरो ने इसे खर्च कर दिया होता, तो? क्या चोर के घर चोरी करना पाप नहीं? क्या मैं अपने रुपए के बदले उसके रुपए ले सकता हूँ? सुभागी मुझ पर कितनी दया करती है। वह इसीलिये मुझे ताने दिया करती थी कि यह भेद न खुलने पाए।"

वह इसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ था कि एकाएक 'चोर-चोर!' का शोर सुनाई दिया। पहली ही नींद थी। लोग ग़ाफ़िल सो रहे थे। फिर आवाज़ आई।—"चोर-चोर!"

भैरो की आवाज़ थी। सूरदास समझ गया, सुभागी ने यह प्रपंच रचा है। अपने द्वार पर पड़ा रहा। इतने में बजरंगी की आवाज़ सुनाई दी—"किधर गया, किधर?" यह कहकर वह लाठी लिए अँधेरे में एक तरफ़ दौड़ा। नायकराम भी घर से निकले, और किधर-किधर करते हुए दौड़े। रास्ते में बजरंगी से मुठभेड़ हो गई। दोनो ने एक दूसरे को चोर समझा। दोनो ने वार किया, और दोनो चोट खाकर गिर पड़े। ज़रा देर में बहुत से आदमी जमा हो गए। ठाकुरदीन ने पूछा—"क्या-क्या ले गया? अच्छी तरह देख लेना, कहीं छत में न चिमटा हुआ हो। चोर दीवार से ऐसा चिमट जाते हैं कि दिखाई नहीं देते।"

सुभागी—"हाय, मैं तो लुट गई। अभी तो बैठी-बैठी अम्मा का पाँव दबा रही थी। इतने में न-जाने मुआ कहाँ से आ पहुँचा।"

भैरो—(चिराग़ से देखकर) "सारी जमा-जथा लुट गई। हाय राम!"

सुभागी—"हाय, मैंने उसकी परछाईं देखी, तो समझी, यही होंगे। जब उसने संदूक पर हाथ बढ़ाया, तो समझी, यही होंगे।"

ठाकुरदीन—"खपरैल पर चढ़कर आया होगा। मेरे यहाँ जो चोरी हुई थी, उसमें भी चोर सब खपरैल से चढ़कर आए थे।"

इतने में बजरंगी आया। सिर से रुधिर बह रहा था, बोला—"मैंने उसे भागते देख। लाठी चलाई। उसने भी वार किया। मैं तो चक्कर खाकर गिर पड़ा; पर उस पर भी ऐसा हाथ पड़ा है कि सिर खुल गया होगा।"

सहसा नायकराम 'हाय-हाय' करते आए, और ज़मीन पर गिर पड़े। सारी देह ख़ून से तर थी।

ठाकुरदीन—"पंडाजी, क्या तुमसे भी उसका सामना हो गया क्या ?"

नायकराम की निगाह बजरंगी की ओर गई। बजरंगी ने नायकराम की ओर देखा। नायकराम ने दिल में कहा—पानी का दूध बनाकर बेचते हो; अब यह ढंग निकाला है। बजरंगी ने दिल में कहा—जात्रियों को लूटते हो, अब मुहल्लेवालों ही पर हाथ साफ़ करने लगे।

नायकराम—"हाँ भई, यही गली में तो मिला। बड़ा भारी जवान था।"

ठाकुरदीन—"तभी तो अकेले दो आदमियों को घायल कर गया। मेरे घर में जो चोर पैठे थे, वे सब देव मालूम होते थे। ऐसे डील-डौल के तो आदमी ही नहीं देखे। मालूम होता है, तुम्हारे ऊपर उसका भरपूर हाथ पड़ा।"

नायकराम—"हाथ मेरा भी भरपूर पड़ा है। मैंने उसे गिरते देखा। सिर जरूर फट गया होगा। जब तक पकड़ूँ-पकड़ूँ, निकल गया।"

बजरंगी—"हाथ तो मेरा भी ऐसा पड़ा है कि बचा को छठी का दूध याद आ गया होगा। चारो खाने चित्त गिरा था।"

ठाकुरदीन—"किसी जाने हुए आदमी का काम है। घर के भेदिए

बिना कभी चोरी नहीं होती। मेरे यहाँ सबों ने मेरी छोटी लड़की को मिठाई देकर नहीं घर का सारा भेद पूछ लिया था?"

बजरंगी—"थाने में जरूर रपट करना।"

भैरो—"रपट ही करके थोड़े ही रह जाऊँगा। बचा से चक्की न पिसवाऊँ, तो कहना। चाहे बिक जाऊँ, पर उन्हें भी पीस डालूँगा। मुझे सब मालूम है।"

ठाकुरदीन—"माल का माल ले गया, दो आदमियों को चुटैल कर गया। इसी से मैं चोरों के नगीच नहीं गया था। दूर ही से लेना-लेना करता रहा। जान सलामत रहे, तो माल फिर आ जाता है।"
भैरो को बजरंगी पर शुभा न था, न नायकराम पर; उसे जगधर पर शुभा था। शुभा ही नहीं, पूरा विश्वास था। जगधर के सिवा किसी को न मालूम था कि रुपए कहाँ रक्खे हुए हैं। जगधर लठैत भी अच्छा था। वह पड़ोसी होकर भी घटनास्थल पर सबसे पीछे पहुँचा था। ये सब कारण उसके संदेह को पुष्ट करते थे।

यहाँ से लोग चले, तो रास्ते में बातें होने लगीं। ठाकुरदीन ने कहा—"कुछ अपनी कमाई के रुपए तो थे नहीं, वही सूरदास के रुपए थे।"

नायकराम—"पराया माल अपने घर आकर अपना हो जाता है।"

ठाकुरदीन—"पाप का डंड जरूर भोगना पड़ता है, चाहे जल्दी हो, चाहे देर।"

बजरंगी—"तुम्हारे चोरों को तो कुछ डंड न मिला।"

ठाकुरदीन—"मुझे कौन किसी देवता का इष्ट था। सूरदास को इष्ट है, उसकी एक कौड़ी भी किसी को हजम नहीं हो सकती, चाहे कितना ही चूरन खाए। मैं तो बद-बदकर कहता हूँ, अभी उसके घर की तलासी ली जाय, तो सारा माल बरामद हो जाय।"

दूसरे दिन मुँह-अँधेरे भैरो ने कोतवाली में इत्तिला की। दोपहर

तक दारोग़ाजी तहक़ीक़ात करने आ पहुँचे। जगधर की ख़ाना-तलाशी हुई, कुछ न निकला। भैरो ने समझा, इसने माल कहीं छिपा दिया। उस दिन से भैरो के सिर एक भूत-सा सवार हो गया। वह सबेरे ही दारोग़ाजी के घर पहुँच जाता, दिन-भर उनकी सेवा-टहल किया करता, चिलम भरता, पैर दबाता, घोड़े के लिये घास छील लाता, थाने के चौकीदारों की ख़ुशामद करता, अपनी दूकान पर बैठा हुआ सारे दिन इसी चोरी की चर्चा किया करता—"क्या कहूँ, मुझे कभी ऐसी नींद न आती थी, उस दिन न-जाने कैसे सो गया। मगर बँधवा न दूँ, तो नाम नहीं। दरोगाजी ताक में हैं। उसमें सब रुपए ही नहीं हैं, असरफियाँ भी हैं। जहाँ बिकेंगी, बेचनेवाला तुरंत पकड़ जायगा।"

शनैः-शनैः भैरो को मोहल्ले-भर पर संदेह होने लगा। और, जलते तो लोग उससे पहले ही थे, अब सारा मोहल्ला उसका दुश्मन हो गया। यहाँ तक कि अंत में वह अपने घरवालों ही पर अपना क्रोध उतारने लगा। सुभागी पर फिर मार पड़ने लगी—"तूने ही मुझे चौपट किया, तू इतनी बेख़बर न सोती, तो चोर कैसे घर में घुस आता। मैं तो दिन-भर दौरी-दूकान करता हूँ, थककर सो गया। तू घर में पड़े-पड़े क्या किया करती है? अब जहाँ से बने, मेरे रुपए ला, नहीं तो जीता न छोड़ूँगा।" अब तक उसने अपनी मा का हमेशा अदब किया था, पर अब उसको भी ले-दे मचाता—"तू कहा करती है, मुझे रात को नींद ही नहीं आती, रात-भर जागती रहती हूँ। उस दिन तुझे कैसे नींद आ गई?" सारांश यह कि उसके दिल में किसी की इज़्ज़त, किसी का विश्वास, किसी का स्नेह न रहा। धन के साथ सद्भाव भी उसके दिल से निकल गए। जगधर को देखकर तो उसकी आँखों में ख़ून उतर आता था। उसे बार-बार छेड़ता कि यह गर्म पड़े, तो ख़बर लूँ; पर जगधर

उससे बचता रहता था। वह खुली चोटें करने की अपेक्षा छिपे वार करने में अधिक कुशल था।

एक दिन संध्या-समय जगधर ताहिरअली के पास आकर खड़ा हो गया। ताहिरअली ने पूछा—"कैसे चले जी?"

जगधर—"आपसे एक बात कहने आया हूँ। आबकारी के दरोगा अभी मुझसे मिले थे। पूछते थे—भैरो गोदाम पर दूकान रखता है कि नहीं? मैंने कहा—साहब, मुझे नहीं मालूम। तब चले गए, पर आजकल में वह इसकी तहकीकात करने जरूर आएँगे। मैंने सोचा, कहीं आपकी भी सिकायत न कर दें, इसलिये दौड़ा आया।"

ताहिरअली ने दूसरे ही दिन भैरों को वहाँ से भगा दिया।

इसके कई दिन बाद एक दिन रात के समय सूरदास बैठा भोजन बना रहा था कि जगधर ने आकर कहा—"क्यों सूरे, तुम्हारी अमानत तो तुम्हें मिल गई न?"

सूरदास ने अज्ञात भाव से कहा—"कैसी अमानत?"

जगधर—"वही रुपए, जो तुम्हारी झोपड़ी से उठ गए थे।"

सूरदास—"मेरे पास रुपए कहाँ थे?"

जगधर—"अब मुझसे न उड़ो, रत्ती-रत्ती बात जानता हूँ, और खुस हूँ कि किसी तरह तुम्हारी चीज़ उस पापी के चंगुल से निकल आई। सुभागी अपनी बात की पक्की औरत है।"

सूरदास—"जगधर, मुझे इस झमेले में न घसीटो, गरीब आदमी हूँ। भैरो के कान में जरा भी भनक पड़ गई, तो मेरी जान तो पीछे लेगा, पहले सुभागी का गला घोंट देगा।"

जगधर—"मैं उससे कहने थोड़े ही जाता हूँ; पर बात हुई मेरे मन की। बचा ने इतने दिनों तक हलवाई की दूकान पर खूब दादे का फातिहा पढ़ा, धरती पर पाँव ही न रखता था, अब होश ठिकाने आ जायँगे।"

सूरदास—"तुम नाहक मेरी जान के पीछे पड़े हो।"

जगधर—"एक बार खिलखिलाकर हँस दो, तो मैं चला जाऊँ। अपनी गई हुई चीज पाकर लोग फूले नहीं समाते। मैं तुम्हारी जगह होता, तो नाचता-कूदता, गाता-बजाता, थोड़ी देर के लिये पागल हो जाता। इतना हँसता, इतना हँसता कि पेट में बावगोला पड़ जाता, और तुम सोंठ बने बैठे हो, ले, हँसो तो।"

सूरदास—"इस बखत हँसी नहीं आती।"

जगधर—"हँसी क्यों न आएगी, मैं तो हँसा दूँगा।"

यह कहकर उसने सूरदास को गुदगुदाना शुरू किया। सूरदास विनोदशील आदमी था। ठट्टे मारने लगा। ईर्ष्यामय परिहास का विचित्र दृश्य था। दोनो रंगशाला के नटों की भाँति हँस रहे थे, और यह ख़बर न थी कि इस हँसी का परिणाम क्या होगा। शामत की मारी सुभागी इसी वक्त बनिए की दूकान से जिस लिए आ रही थी। सूरदास के घर से अट्टहास की आकाशभेदी ध्वनि सुनी, तो चकराई। अंधे कुएँ में पानी कैसा? आकर द्वार पर खड़ी हो गई, और सूरदास से बोली—"आज क्या मिल गया है सूरदास, जो फूले नहीं समाते?"

सूरदास ने हँसी रोककर कहा—"मेरी थैली मिल गई। चोर के घर में छिछोर पैठा।"

सुभागी—"तो सब माल अकेले हजम कर जाओगे?"

सूरदास—"नहीं तुझे भी एक कंठी ला दूँगा, ठाकुरजी का भजन करना।"

सुभागी—"अपनी कंठी घर रक्खो, मुझे एक सोने का कंठा बनवा देना।"

सूरदास—"तब तो तू धरती पर पाँव ही न रक्खेगी!"

जगधर—"इसे चाहे कंठा बनवाना या न बनवाना, इसकी बुढ़िया

को एक नथ जरूर बनवा देना। पोपले मुँह पर नथ खूब खिलेगी, जैसे कोई बँदरिया नथ पहने हो।"

इस पर तीनो ने ठट्ठा मारा। संयोग से भैरो भी उसी वक्त थाने से चला आ रहा था। ठट्ठे की आवाज़ सुनी, तो झोपड़ी के अंदर झाँका, ये आज कैसे गुलछर्रे उड़ रहे हैं। यह तिगड्डम देखा, तो आँखों में ख़ून उतर आया, जैसे किसी ने कलेजे पर गरम लोहा रख दिया हो। क्रोध से उन्मत्त हो उठा। कठोर-से-कठोर, अश्लील-से-अश्लील दुर्वचन कहे, जैसे कोई शूरमा अपनी जान बचाने के लिये अपने शस्त्रों का घातक-से-घातक प्रयोग करे—"तू कुलटा है, मेरे दुसमनों के साथ हँसती है, फाहसा कहीं की, टके-टके पर अपनी आबरू बेचती है। खबरदार, जो आज से मेरे घर में कदम रक्खा, खून चूस लूँगा। अगर अपनी कुसल चाहती है, तो इस अंधे से कह दे, फिर मुझे अपनी सूरत न दिखाए; नहीं तो इसकी और तेरी गरदन एक ही गँड़ासे से काटूँगा। मैं तो इधर-उधर मारा-मारा फिरूँ और यह कलमुँही यारों के साथ नोक-झोंक करे। पापी अंधे को मौत भी नहीं आती कि मुहल्ला साफ़ हो जाता, न-जाने इसके करम में क्या-क्या दुख भोगना लिखा है। सायद जेहल में चक्की पीसकर मरेगा!"

यह कहता हुआ वह चला गया। सुभागी के काटो, तो बदन में ख़ून नहीं। मालूम हुआ, सिर पर बिजली गिर पड़ी। जगधर दिल में ख़ुश हो रहा था, जैसे कोई शिकारी हरिन को तड़पते देखकर खुश हो। कैसा बौखला रहा है! लेकिन सूरदास? आह! उसकी वही दशा थी, जो किसी सती की अपना सतीत्व खो देने के पश्चात् होती है। तीनो थोड़ी देर तक स्तंभित खड़े रहे। अंत में जगधर ने कहा—"सुभागी, अब तू कहाँ जायगी?"

सुभागी ने उसकी ओर विषाक्त नेत्रों से देखकर कहा—"अपने घर जाऊँगी और कहाँ!"

जगधर—"बिगड़ा हुआ है, प्रान लेकर छोड़ेगा।"

सुभागी—"चाहे मारे, चाहे जिलाए, घर तो मेरा वही है।"

जगधर—"कहीं और क्यों नहीं पड़ रहती, गुस्सा उतर जाय, तो चली जाना।"

सुभागी—"तुम्हारे घर चलती हूँ, रहने दोगे?"

जगधर—"मेरे घर! मुझसे तो वह यों ही जलता है, फिर तो खून ही कर डालेगा।"

सुभागी—"तुम्हें अपनी जान इतनी प्यारी है, तो दूसरा कौन उससे बैर मोल लेगा?"

यह कहकर सुभागी तुरंत अपने घर की ओर चली गई। सूरदास ने हाँ-नहीं कुछ न कहा। उसके चले जाने के बाद जगधर बोला—"सूरे, तुम आज मेरे घर चलकर सो रहो। मुझे डर लग रहा है कि भैरो रात को कोई उपद्रव न मचाए। बदमास आदमी है, उसका कौन ठिकाना, मार-पीट करने लगे।"

सूरदास—"भैरो को जितना नादान समझते हो, उतना वह नहीं है। तुमसे कुछ न बोलेगा; हाँ सुभागी को जी-भर मारेगा।"

जगधर—"नसे में उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती।"

सूरदास—"मैं कहता हूँ, तुमसे कुछ न बोलेगा। तुमसे अपने दिल की कोई बात नहीं छिपाई है, तुमसे लड़ाई करने की उसे हिम्मत न पड़ेगी।"

जगधर का भय शांत तो न हुआ; पर सूरदास की ओर से निराश होकर चला गया। सूरदास सारी रात जागता रहा। इतने बड़े लांछन के बाद उसे अब यहाँ रहना लज्जाजनक जान पड़ता था। अब मुँह में कालिख लगाकर कहीं निकल जाने के सिवा उसे और उपाय न सूझता था—"मैंने तो कभी किसी की बुराई नहीं की, भगवान मुझे क्यों यह डंड दे रहे हैं? यह किन पापों का प्रायश्चित्त

करना पड़ रहा है? तीरथ-यात्रा से चाहे यह पाप उतर जाय। कल कहीं चल देना चाहिए? पहले भी भैरो ने मुझ पर यही पाप लगाया था। लेकिन तब सारे मुहल्ले के लोग मुझे मानते थे, उसकी यह बात हँसी में उड़ गई। उलटे लोगों ने उसी को डाँटा। अब की तो सारा मुहल्ला मेरा दुसमन है, लोग सहज ही में बिसवास कर लेंगे, मुँह में कालिख लग जायगी। नहीं, अब यहाँ से भाग जाने ही में कुसल है। देवतों की सरन लूँ, वह अब मेरी रच्छा कर सकते हैं। पर बेचारी सुभागी का क्या हाल होगा? भैरो अब की उसे जरूर छोड़ देगा। इधर मैं भी चला जाऊँगा, तो बेचारी कैसे रहेगी? उसके नैहर में भी तो कोई नहीं है, जवान औरत है, मिहनत-मजूरी कर नहीं सकती। न-जाने कैसी पड़े, कैसी न पड़े। चलकर एक बार भैरो से अकेले में सारी बातें साफ-साफ कह दूँ। भैरो से मेरी कभी सफाई से बातचीत नहीं हुई। उसके मन में गाँठ पड़ी हुई है। मन में मैल रहने ही से उसे मेरी ओर से ऐसा भरम होता है। जब तक उसका मन साफ न हो जाय, मेरा यहाँ से जाना उचित नहीं। लोग कहेंगे, काम किया था, तभी तो डरकर भागा, न करता, तो डरता क्यों? ये रुपए भी उसे फेर दूँ। मगर जो उसने पूछा कि ये रुपए कहाँ मिले, तो? सुभागी का नाम न बताऊँगा, कह दूँगा, मुझे झोपड़ी में रक्खे हुए मिले। इतना छिपाए बिना सुभागी की जान न बचेगी। लेकिन परदा रखने से सफ़ाई कैसे होगी? छिपाने का काम नहीं है। सब कुछ आदि से अंत तक सच-सच कह दूँगा। तभी उसका मन साफ होगा।"

इस विचार से उसे बड़ी शांति मिली, जैसे किसी कवि को उलझी हुई समस्या की पूर्ति से होती है।

वह तड़के ही उठा, और जाकर भैरो के दरवाज़े पर आवाज़ दी। भैरो सोया हुआ था। सुभागी बैठी रो रही थी। भैरो ने उसके घ

पहुँचते ही उसकी यथाविधि ताड़ना की थी। सुभागी ने सूरदास की आवाज़ पहचानी। चौंकी कि यह इतने तड़के कैसे आ गया! कहीं दोनो में लड़ाई न हो जाय। सूरदास कितना बलिष्ठ है, यह बात उससे छिपी न थी। डरी कि "सूरदास रात की बातों का बदला लेने न आया हो। यों तो बड़ा सहनशील है, पर आदमी ही है, क्रोध आ गया होगा। झूठा इलजाम सुनकर क्रोध आता ही है। कहीं गुस्से में आकर इन्हें मार न बैठे। पकड़ पाएगा, तो प्रान ही लेकर छोड़ेगा।" सुभागी भैरो की मार खाती थी, घर से निकाली जाती थी, लेकिन यह मजाल न थी कि कोई बाहरी आदमी भैरो को कुछ कहकर निकल जाय। उसका मुँह नोच लेती। उसने भैरो को जगाया नहीं, द्वार खोलकर पूछा—"क्या है सूरे, क्या कहते हो?"

सूरदास के मन में बड़ी प्रबल उत्कंठा हुई कि इससे पूछूँ, रात तुझ पर क्या बीती; लेकिन ज़ब्त कर गया—मुझे इससे वास्ता? उसकी स्त्री है। चाहे मारे, चाहे दुलारे। मैं कौन होता हूँ पूछने-वाला। बोला—"भैरो क्या अभी सोते हैं? जरा जगा दे, उनसे कुछ बातें करनी हैं।"

सुभागी—"कौन बात है, मैं भी सुनूँ।"

सूरदास—"ऐसी ही एक बात है, जरा जगा तो दे।"

सुभागी—"इस बखत जाओ, फिर कभी आकर कह देना।"

सूरदास—"दूसरा कौन बखत आएगा। मैं सड़क पर जा बैठूँगा कि नहीं। देर न लगेगा।"

सुभागी—"और कभी तो इतने तड़के न आते थे, आज ऐसी कौन-सी बात है?"

सूरदास ने चिढ़कर कहा—"उसी से कहूँगा, तुमसे कहने की बात नहीं है।"

सुभागी को पूरा विश्वास हो गया कि यह इस समय आपे में नहीं है। ज़रूर मार-पीट करेगा। बोली—"मुझे मारा-पीटा थोड़े ही था; बस, यहीं जो कुछ कहा-सुना, वही कह-सुनकर रह गए।"

सूरदास—"चल, तेरे चिल्लाने की आवाज मैंने अपने कानों सुनी।"

सुभागी—"मारने को धमकाता था; बस, मैं जोर से चिल्लाने लगी।"

सूरदास—"न मारा होगा। मारता भी, तो मुझे क्या, तू उसकी घरवाली है, जो चाहे करे, तू जाकर उसे भेज दे। मुझे एक बात कहनी है।"

जब अब भी सुभागी न गई, तो सूरदास ने भैरो का नाम लेकर ज़ोर-ज़ोर से पुकारना शुरू किया। कई हाँकों के बाद भैरो की आवाज़ सुनाई दी—"कौन है, बैठो, आता हूँ।"

सुभागी यह सुनते ही भीतर गई, और बोली—"जाते हो, तो एक डंडा लेते जाओ, सूरदास है, कहीं लड़ने न आया हो।"

भैरो—"चल बैठ, लड़ाई करने आया है! मुझसे तिरिया-चरित्तर मत खेल।"

सुभागी—"मुझे उसकी त्योरियाँ बदली हुई मालूम होती हैं, इसी से कहती हूँ।"

भैरो—यह क्यों नहीं कहती कि तू ही उसे चढ़ाकर लाई है। वह तो इतना कीना नहीं रखता। उसके मन में कभी मैल नहीं रहता।"

यह कहकर भैरो ने अपनी लाठी उठाई, और बाहर आया। अंधा शेर भी हो, तो उसका क्या भय? एक बच्चा भी उसे मार गिराएगा।

सूरदास ने भैरो से कहा—"यहाँ और कोई तो नहीं है? मुझे तुमसे एक भेद की बात कहनी है।"

भैरो—"कोई नहीं है, कहो, क्या कहते हो ?"

सूरदास—"तुम्हारे चोर का पता मिल गया।"

भैरो—"सच ! जवानी-कसम !"

सूरदास—"हाँ, सच कहता हूँ। वह मेरे पास आकर तुम्हारे रुपए रख गया। और तो कोई चीज नहीं गई थी ?"

भैरो—"मुझे जलाने आए हो, अभी मन नहीं भरा ?"

सूरदास—"नहीं, भगवान से कहता हूँ, तुम्हारी थैली मेरे घर में ज्यों-की-त्यों पड़ी मिली।"

भैरो—"बड़ा पागल था, फिर चोरी काहे को की थी ?"

सूरदास—"हाँ, पागल ही था और क्या।"

भैरो—"कहाँ है, ज़रा देखूँ तो।"

सूरदास ने थैली कमर से निकालकर भैरो को दिखाई। भैरो ने झपककर थैली ले ली। ज्यों-की-त्यों बंद थी।

सूरदास—"गिन लो, पूरे हैं कि नहीं।"

भैरो—हैं, पूरे हैं, सच बताओ, किसने चुराया था ?"

भैरो को रुपए मिलने की उतनी ख़ुशी न थी, जितनी चोर का नाम जानने की उत्सुकता। वह यह देखना चाहता था कि मैंने जिस पर शक किया था, वही है कि कोई और।

सूरदास—"नाम जानकर क्या करोगे ? तुम्हें अपने माल से मतलब है कि चोर के नाम से ?"

भैरो—"नहीं, तुम्हें कसम है, बता दो, है तो इसी मुहल्ले का न ?"

सूरदास—हाँ, है तो मुहल्ले ही का ; पर नाम न बताऊँगा।"

भैरो—"जवानी की कसम खाता हूँ, उससे कुछ न कहूँगा।"

सूरदास—"मैं उसको वचन दे चुका हूँ कि नाम न बताऊँगा। नाम बता दूँ, और तुम अभी दंगा करने लगो, तब ?"

भैरो—"बिसवास मानो, मैं किसी से न बोलूँगा। जो कसम कहो, खा जाऊँ। अगर जबान खोलूँ, तो समझ लेना, इसके असल में फरक है। बात और बाप एक है। अब और कौन कसम लेना चाहते हो?"

सूरदास—"अगर फिर गए, तो यहीं तुम्हारे द्वार पर सिर पटक-कर जान दे दूँगा।"

भैरो—"अपनी जान क्यों दे दोगे, मेरी जान ले लेना; चूँ न करूँगा।"

सूरदास—"मेरे घर में एक बार चोरी हुई थी, तुम्हें याद है न? चोर को ऐसा सुभा हुआ होगा कि तुमने मेरे रुपए लिए हैं। इसी से उसने तुम्हारे यहाँ चोरी की, और मुझे रुपए लाकर दे दिए। बस, उसने मेरी गरीबी पर दया की, और कुछ नहीं। उससे मेरा और कोई नाता नहीं है।"

भैरो—"अच्छा, यह सब तो सुन चुका, नाम तो बताओ।"

सूरदास—"देखो, तुमने कसम खाई है।"

भैरो—"हाँ भाई, कसम से मुकरता थोड़ा ही हूँ।"

सूरदास—"तुम्हारी घरवाली और मेरी बहन सुभागी।"

इतना सुनना था कि भैरो जैसे पागल हो गया। घर में दौड़ा हुआ गया, और मा से बोला—"अम्मा, इसी डाइन ने मेरे रुपए चुराए थे। सूरदास अपने मुँह से कह रहा है। इस तरह मेरा घर मूसकर यह चुड़ैल अपने धींगड़ों का घर भरती है। उस पर मुझसे उड़ती थी। देख तो, तेरी क्या गत बनाता हूँ। बता, सूरदास झूठ कहता है कि सच?"

सुभागी ने सिर झुकाकर कहा—"सूरदास झूठ बोलते हैं।"

उसके मुँह से बात पूरी न निकलने पाई थी कि भैरो ने लकड़ी खींचकर मारी। वार खाली गया। इससे भैरो का क्रोध और भी

बढ़ा । वह सुभागी के पीछे दौड़ा । सुभागी ने एक कोठरी में घुसकर भीतर से द्वार बंद कर लिया । भैरो ने द्वार पीटना शुरू किया । सारे मोहल्ले में हुल्लड़ मच गया, भैरो सुभागी को मारे डालता है । लोग दौड़ पड़े । ठाकुरदीन ने भीतर जाकर पूछा—"क्या है भैरो, क्यों किवाड़ तोड़े डालते हो ? भले आदमी, कोई घर के आदमी पर इतना गुस्सा करता है !"

भैरो—"कैसा घर का आदमी जी ! ऐसे घर के आदमी का सिर काट लेना चाहिए, जो दूसरों से हँसे । आखिर मैं काना हूँ, कतरा हूँ, लूला हूँ, लँगड़ा हूँ, मुझमें क्या ऐब है, जो यह दूसरों से हँसती है । मैं इसकी नाक काटकर तभी छोड़ूँगा । मेरे घर जो चोरी हुई थी, वह इसी चुड़ैल की करतूत थी । इसी ने रुपए चुराकर सूरदास को दिए थे ।"

ठाकुरदीन—"सूरदास को !"

भैरो—"हाँ-हाँ, सूरदास को । बाहर तो खड़ा है, पूछते क्यों नहीं । उसने जब देखा कि अब चोरी न पचेगी, तो लाकर सब रुपए मुझे दे गया है ।"

बजरंगी—"अच्छा, तो रुपए सुभागी ने चुराए थे !"

लोगों ने भैरो को ठंडा किया, और बाहर खींच लाए । यहाँ सूरदास पर टिप्पणियाँ होने लगीं । किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि साफ़-साफ़ कहे । सब-के-सब डर रहे थे कि कहीं मेम साहब से शिकायत न कर दे । पर अन्योक्तियों द्वारा सभी अपने मनोविचार प्रकट कर रहे थे । सूरदास को आज मालूम हुआ कि पहले कोई मुझसे डरता न था, पर दिल में सब इज़्ज़त करते थे ; अब सब-के-सब मुझसे डरते हैं, पर मेरी सच्ची इज़्ज़त किसी के दिल में नहीं है । उसे इतनी ग्लानि हो रही थी कि आकाश से वज्र गिरे और मैं यहीं जल-भुन जाऊँ ।

ठाकुरदीन ने धीरे से कहा—"सूरे तो कभी ऐसा न था। आज से नहीं, लड़कपन से देखते हैं।"

नायकराम—"पहले नहीं था, अब हो गया है। अब तो किसी को कुछ समझता ही नहीं।"

ठाकुरदीन—"प्रभुता पाकर सभी को मद हो जाता है, पर सूरे में तो मुझे कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती।"

नायकराम—"छिपा रुस्तम है! बजरंगी, मुझे तुम्हारे ऊपर सक था।"

बजरंगी—(हँसकर)"पंडाजी, भगवान से कहता हूँ, मुझे तुम्हारे ऊपर सक था।"

भैरो—"और मुझसे जो सच पूछो, तो जगधर पर सक था।"

सूरदास सिर झुकाए चारो ओर के ताने और लताड़ें सुन रहा था। पछता रहा था—"मैंने ऐसे कमीने आदमी से यह बात बताई ही क्यों। मैंने तो समझा था, साफ़-साफ़ कह देने से इसका दिल साफ़ हो जायगा। उसका यह फल मिला! मेरे मुँह में तो कालिख लग ही गई, उस बेचारी का न-जाने क्या हाल होगा। भगवान अब कहाँ गए, क्या कथा-पुरानों ही में अपने सेवकों को उबारने आते थे, अब क्यों नहीं आकास से कोई दूत आकर कहता कि यह अंधा बेकसूर है।"

जब भैरो के द्वार पर यह अभिनय होते हुए आध घंटे से अधिक हो गया, तो सूरदास के धैर्य का प्याला छलक पड़ा। अब मौन बने रहना उसके विचार में कायरता थी, नीचता थी। एक सती पर इतना कलंक थोपा जा रहा है, और मैं चुपचाप खड़ा सुनता हूँ! यह महापाप है। वह तनकर खड़ा हो गया, और फटी हुई आँखें फाड़कर बोला—"यारो, क्यों बिपत के मारे हुए दुखियों पर यह कीचड़ फेक रहे हो, ये छुरियाँ चला रहे हो? कुछ तो भगवान से डरो।

क्या संसार में कहीं इंसाफ नहीं रहा ? मैंने तो भलमनसी की कि भैरो के रुपए उसे लौटा दिए। उसका मुझे यह फल मिल रहा है ! सुभागी ने क्यों यह काम किया, और क्यों मुझे रुपए दिए, यह मैं न बताऊँगा, लेकिन भगवान मेरी इससे भी ज्यादा दुर्गत करें, अगर मैंने सुभागी को अपनी छोटी बहन के सिवा कभी कुछ और समझा हो। मेरा कसूर इतना ही है कि वह रात को मेरी झोपड़ी में आई थी। उस बखत जगधर वहाँ बैठा था। उससे पूछो कि हम लोगों में कौन-सी बातें हो रही थीं। अब इस मुहल्ले में मुझ-जैसे अंधे-अपाहिज आदमी का निबाह नहीं हो सकता। जाता हूँ; पर इतना कहे जाता हूँ कि सुभागी पर जो कलंक लगाएगा, उसका भला न होगा। वह सती है, सती को पाप लगाकर कोई सुख की नींद नहीं सो सकता। मेरा कौन कोई रोनेवाला बैठा हुआ है; जिसके द्वार पर खड़ा हो जाऊँगा, वही चुटकी-भर आटा दे देगा। अब यहाँ से दाना-पानी उठता है। पर एक दिन आवेगा, जब तुम लोगों को सब बातें मालूम हो जायँगी, और तब तुम जानोगे कि अंधा निरपराध था।"

यह कहकर सूरदास अपनी झोपड़ी की तरफ़ चला गया।

[२४]

सूरदास की ज़मीन वापस दिला देने के बाद सोफ़िया फिर मि० क्लार्क से तन गई। दिन गुज़रते जाते थे, और वह मि० क्लार्क से दूरतर होती जाती थी। उसे अब सच्चे अनुराग के लिये अपमान, लज्जा, तिरस्कार सहने की अपेक्षा कृत्रिम प्रेम का स्वाँग भरना कहीं दुस्सह प्रतीत होता था। सोचती थी, मैं जल से बचने के लिये आग में कूद पड़ी। प्रकृति बल-प्रयोग सहन नहीं कर सकती। उसने अपने मन को बलात् विनय की ओर से खींचना चाहा था, अब उसका मन बड़े वेग से उनकी ओर दौड़ रहा था। इधर उसने भक्ति के विषय में कई ग्रंथ पढ़े थे, और फलतः उसके विचारों में एक रूपांतर हो गया था। अपमान और लोक-निंदा का भय उसके दिल से मिटने लगा था। उसके सम्मुख प्रेम का सर्वोच्च आदर्श उपस्थित हो गया था, जहाँ अहंकार की आवाज़ नहीं पहुँचती। त्यागपरायण तपस्वी को सोमरस का स्वाद मिल गया था, और उसके नशे में उसे सांसारिक भोग-विलास, मान-प्रतिष्ठा सार-हीन जान पड़ती थी। जिन विचारों से प्रेरित होकर उसने विनय से मुँह फेरने और क्लार्क से विवाह करने का निश्चय किया था, वे अब उसे नितांत अस्वाभाविक मालूम होते थे। रानी जाह्नवी से तिरस्कृत होकर अपने मन को दमन करने के लिये उसने अपने ऊपर यह अत्याचार किया था। पर अब उसे नज़र ही न आता था कि मेरे आचरण में कलंक की कौन-सी बात थी, उसमें अनौचित्य कहाँ था। उसकी आत्मा अब उस निश्चय का घोर प्रतिवाद कर रही थी, उसे जघन्य समझ रही थी। उसे आश्चर्य होता था कि

मैंने विनय के स्थान पर क्लार्क को प्रतिष्ठित करने का फ़ैसला कैसे किया! मि० क्लार्क में सद्गुणों की कमी नहीं, वह सुयोग्य हैं, शीलवान् हैं, उदार हैं, सहृदय हैं। वह किसी स्त्री को प्रसन्न रख सकते हैं, जिसे सांसारिक सुख-भोग की लालसा हो। लेकिन उनमें वह त्याग कहाँ, वह सेवा का भाव कहाँ, वह जीवन का उच्चादर्श कहाँ, वह वीर-प्रतिज्ञा कहाँ, वह आत्मसमर्पण कहाँ? उसे अब प्रेमानुराग की कथाएँ और भक्ति-रस-प्रधान काव्य जीव और आत्मा, आदि और अनादि, पुनर्जन्म और मोक्ष आदि गूढ़ विषयों की व्याख्या से कहीं आकर्षक मालूम होते थे। इसी बीच में उसे कृष्ण का जीवन-चरित्र पढ़ने का अवसर मिला, और उसने उस भक्ति की जड़ हिला दी, जो उसे प्रभु मसीह से थी। वह मन में दोनो महान् पुरुषों की तुलना किया करती। मसीह की दया की अपेक्षा उसे कृष्ण के प्रेम से अधिक शांति मिलती थी। उसने अब तक गीता ही के कृष्ण को देखा था, और मसीह की दयालुता, सेवाशीलता और पवित्रता के आगे उसे कृष्ण का रहस्यमय जीवन गीता की जटिल दार्शनिक व्याख्याओं से भी दुर्बोध जान पड़ता था। उसका मस्तिष्क गीता के विचारोत्कर्ष के सामने झुक जाता था, पर उससे मन में भक्ति का भाव न उत्पन्न होता था। कृष्ण के बाल-जीवन को उसने भक्तों की कपोल-कल्पना समझ रक्खा था, और उस पर विचार करना ही व्यर्थ समझती थी। पर अब ईसा की दया इस बाल-क्रीड़ा के सामने नीरस थी। ईसा की दया में आध्यात्मिकता थी, कृष्ण के प्रेम में भावुकता; ईसा की दया आकाश की भाँति अनंत थी, कृष्ण का प्रेम नवकुसुमित, नवपल्लवित उद्यान की भाँति मनोहर; ईसा की दया जल-प्रवाह की मधुर ध्वनि थी, कृष्ण का प्रेम वंशी की व्याकुल टेर; एक देवता था, दूसरा मनुष्य; एक तपस्वी था, दूसरा कवि; एक में जागृति और आत्मज्ञान था, दूसरे में अनुराग और

उन्माद ; एक व्यापारी था, हानि-लाभ पर निगाह रखनेवाला, दूसरा रसिया था, अपने सर्वस्व को दोनो हाथों से लुटानेवाला ; एक संयमी था, दूसरा भोगी। अब सोफ़िया का मन नित्य इसी प्रेम-क्रीड़ा में बसा रहता था, कृष्ण ने उसे मोहित कर लिया था, उसे अपनी वंशी की ध्वनि सुना दी थी।

मिस्टर क्लार्क का लौकिक शिष्टाचार अब उसे हास्यास्पद मालूम होता था। वह जानती थी कि यह सारा प्रेमालाप एक परीक्षा में भी सफल नहीं हो सकता। वह बहुधा उनसे रुखाई करती। वह बाहर से मुस्किराते हुए आकर उसकी बग़ल में कुर्सी खींचकर बैठ जाते, और यह उनकी ओर आँखें उठाकर भी न देखती। यहाँ तक कि कई बार उसने अपनी धार्मिक अश्रद्धा से मिस्टर क्लार्क के धर्मपरायण हृदय को कठोर आघात पहुँचाया। उन्हें सोफ़िया एक रहस्य-सी जान पड़ती थी, जिसका उद्घाटन करने में वह असमर्थ थे। उसका अनुपम सौंदर्य, उसकी हृदयहारिणी छवि, उसकी अद्भुत विचारशीलता उन्हें जितने ज़ोर से अपनी ओर खींचती थी, उतनी ही उसकी मानशीलता, विचार-स्वाधीनता और अनम्रता उन्हें भयभीत कर देती थी। उसके सम्मुख बैठे हुए वह अपनी लघुता का अनुभव करते थे, पग-पग पर उन्हें ज्ञात होता था कि मैं इसके योग्य नहीं हूँ। इसी वजह से इतनी घनिष्ठता होने पर भी उन्हें उसे वचन-बद्ध करने का साहस न होता था। मिसेज़ सेवक आग में ईंधन डालती रहती थीं—एक ओर क्लार्क को उकसातीं, दूसरी ओर सोफ़ी को समझातीं—"तू समझती है, जीवन में ऐसे अवसर बार-बार आते हैं। यह तेरी ग़लती है। मनुष्य को केवल एक अवसर मिलता है, और वही उसके भाग्य का निर्णय कर देता है।"

मि० जॉन सेवक ने भी अपने पिता के आदेशानुसार दोरुख़ी चाल चलनी शुरू की। वह गुप्त रूप से तो राजा महेंद्रकुमारसिंह की कल

घुमाते रहते थे ; पर प्रकट रूप से मिस्टर क्लार्क के आदर-सत्कार में कोई बात उठा न रखते थे। रहे मि० ईश्वर सेवक, यह तो समझते थे, ख़ुदा ने सोफ़िया को मिस्टर क्लार्क ही के लिये बनाया है। यह अक्सर उनके यहाँ जाते थे, और भोजन भी वहीं कर लेते थे। जैसे कोई दलाल ग्राहक को देखकर उसके पीछे-पीछे हो लेता है, और उसे किसी दूसरी दूकान पर बैठने नहीं देता, वैसे ही वह मिस्टर क्लार्क को घेरे रहते थे कि कोई ऊँची दूकान उन्हें आकर्षित न कर ले। मगर इतने शुभेच्छुकों के रहते हुए भी मिस्टर क्लार्क को अपनी सफलता दुर्लभ मालूम होती थी।

सोफ़िया को इन दिनों बनाव-सिंगार का बड़ा व्यसन हो गया था। अब तक उसने माँग-चोटी या वस्त्राभूषण की कभी चिंता न की थी। भोग-विलास से दूर रहना चाहती थी। धर्म-ग्रंथों की यही शिक्षा थी, शरीर नश्वर है, संसार असार है, जीवन मृग-तृष्णा है, इसके लिये बनाव-सँवार की ज़रूरत नहीं। वास्तविक शृंगार कुछ और ही है, उसी पर निगाह रखनी चाहिए। लेकिन अब वह जीवन को इतना तुच्छ न समझती थी। उसका रूप कभी इतने निखार पर न था। उसकी छवि-लालसा कभी इतनी सजग न थी।

संध्या हो चुकी थी। सूर्य की शीतल किरणें, किसी देवता के आशीर्वाद की भाँति, तरु-पुंजों के हृदय को विहसित कर रही थीं सोफ़िया एक कुंज में खड़ी आप-ही-आप मुस्किरा रही थी कि मिस्टर क्लार्क का मोटर आ पहुँचा। वह सोफ़िया को बाग़ में देखकर सीधे उसके पास आए, और एक कृपा-लोलुप दृष्टि से देखकर उसकी ओर हाथ बढ़ा दिया। सोफ़िया ने मुँह फेर लिया, मानो उनके बढ़े हुए हाथ को देखा ही नहीं।

सहसा एक क्षण बाद उसने हास्य-भाव से पूछा—"आज कितने अपराधियों को दंड दिया?"

मिस्टर क्लार्क झेंप गए। सकुचाते हुए बोले—"प्रिये, यह तो रोज़ की बातें हैं, इनकी क्या चर्चा करूँ।"

सोफ़ी—"तुम यह कैसे निश्चय करते हो कि अमुक अपराधी वास्तव में अपराधी है? इसका तुम्हारे पास कोई यंत्र है?"

क्लार्क—"गवाह तो रहते हैं।"

सोफ़ी—"गवाह हमेशा सच्चे होते हैं?"

क्लार्क—"कदापि नहीं। गवाह अक्सर झूठे और सिखाए हुए होते हैं।"

सोफ़ी—"और उन्हीं गवाहों के बयान पर फ़ैसला करते हो!"

क्लार्क—"इसके सिवा और उपाय ही क्या है!"

सोफ़ी—"तुम्हारी असमर्थता दूसरे की जान क्यों ले? इसीलिये कि तुम्हारे वास्ते मोटर कार, बँगला, ख़ानसामे, भाँति-भाँति की शराबें और विनोद के अनेक साधन जुटाए जायँ?"

क्लार्क ने हतबुद्धि की भाँति कहा—"तो क्या नौकरी से इस्तीफ़ा दे दूँ?"

सोफ़िया—"जब तुम जानते हो कि वर्तमान शासन-प्रणाली में इतनी त्रुटियाँ हैं, तो तुम उसका एक अंग बनकर निरपराधियों का ख़ून क्यों करते हो?"

क्लार्क—"प्रिये, मैंने इस विषय पर कभी विचार नहीं किया।"

सोफ़िया—"और बिना विचार किए ही नित्य न्याय की हत्या किया करते हो! कितने निर्दयी हो!"

क्लार्क—"हम तो केवल एक कल के पुर्ज़े हैं, हमें ऐसे विचारों से क्या प्रयोजन?"

सोफ़ी—"क्या तुम्हें इसका विश्वास है कि तुमने कोई अपराध नहीं किया?"

क्लार्क—"यह दावा कोई मनुष्य नहीं कर सकता।"

सोफ़ी—"तो तुम इसीलिये दंड से बचे हुए हो कि तुम्हारे अपराध छिपे हुए हैं ?"

क्लार्क—"यह स्वीकार करने को जी तो नहीं चाहता ; विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा।"

सोफ़ी—"आश्चर्य है कि स्वयं अपराधी होकर तुम्हें दूसरे अपराधियों को दंड देते हुए ज़रा भी लज्जा नहीं आती ?"

क्लार्क—"सोफ़ी, इसके लिये तुम फिर कभी मेरा तिरस्कार कर लेना। इस समय मुझे एक महत्त्व के विषय में तुमसे सलाह लेनी है। ख़ूब विचार करके राय देना। राजा महेंद्रकुमार ने मेरे फ़ैसले की अपील गवर्नर के यहाँ की थी, इसका ज़िक्र तो मैं तुमसे कर ही चुका हूँ। उस वक़्त मैंने समझा था, गवर्नर अपील पर ध्यान न देंगे। एक ज़िले के अफ़सर के ख़िलाफ़ किसी रईस की मदद करना हमारी प्रथा के प्रतिकूल है, क्योंकि इससे शासन में विघ्न पड़ता है; किंतु ६-७ महीनों में परिस्थिति कुछ ऐसी हो गई है, राजा साहब ने अपनी कुल-मर्यादा, दृढ संकल्प और तर्क-बुद्धि से इतनी अच्छी तरह काम लिया है कि अब शायद फ़ैसला मेरे ख़िलाफ़ होगा। काउंसिल में हिंदुस्थानियों का बहुमत हो जाने के कारण अब गवर्नर का महत्त्व बहुत कम हो गया है। यद्यपि वह काउंसिल के निर्णय को रद कर सकते हैं, पर इस अधिकार से वह असाधारण अवसरों का ही काम ले सकते हैं। अगर राजा साहब की अपील वापस कर दी गई, तो दूसरे ही दिन देश में कुहराम मच जायगा, और समाचार-पत्रों को विदेशी राज्य के एक नए अत्याचार पर शोर मचाने का वह मौक़ा मिल जायगा, जो वे नित्य खोजते रहते हैं। इसलिये गवर्नर ने मुझसे पूछा है कि यदि राजा साहब के आँसू पोंछे जायँ, तो तुम्हें कुछ दुःख तो न होगा ? मेरी समझ में नहीं आता, इसका क्या उत्तर दूँ। अभी तक कोई निश्चय नहीं कर सका।"

सोफ़ी—"क्या इसका निर्णय करना मुश्किल है ?"

क्लार्क—"हाँ, इसलिये मुश्किल है कि जन-सम्मति से राज्य करने की जो व्यवस्था हम लोगों ने ख़ुद की है, उसे पैरों-तले कुचलना बुरा मालूम होता है। राजा कितना ही सबल हो; पर न्याय का गौरव रखने के लिये कभी-कभी राजा को भी सिर झुकाना पड़ता है। मेरे लिये कोई बात नहीं, फ़ैसला मेरे अनुकूल हो या प्रतिकूल, मेरे ऊपर इसका कोई असर नहीं पड़ता। बल्कि प्रजा पर हमारे न्याय की धाक और बैठी जाती है। (मुस्किराकर) गवर्नर ने मुझे इस अपराध के लिये दंड भी दिया है। वह मुझे यहाँ से हटा देना चाहते हैं।"

सोफ़िया—"क्या तुम्हें इतना दबना पड़ेगा ?"

क्लार्क—"हाँ, मैं एक रियासत का पोलिटिकल एजेंट बना दिया जाऊँगा। यह पद बड़े मज़े का है। राजा तो केवल नाम के लिये होता है, सारा अख़्तियार तो एजेंट ही के हाथों में रहता है। हममें जो बड़े भाग्यशाली होते हैं, उन्हीं को यह पद प्रदान किया जाता है।"

सोफ़िया—"तब तो तुम बड़े भाग्यशाली हो।"

मिस्टर क्लार्क इस व्यंग्य से मन में कटकर रह गए। उन्होंने समझा था, सोफ़ी यह समाचार सुनकर फूली न समाएगी, और तब मुझे उससे यह कहने का अवसर मिलेगा कि यहाँ से जाने के पहले हमारा दांपत्य सूत्र में बँध जाना आवश्यक है। 'तब तो तुम बड़े भाग्यशाली हो,' इस निर्दय व्यंग्य ने उनकी सारी अभिलाषाओं पर पानी फेर दिया। इस वाक्य में वह निष्ठुरता, वह कटाक्ष, वह उदासीनता भरी हुई थी, जो शिष्टाचार की भी परवा नहीं करती। सोचने लगे—इसकी सम्मति की प्रतीक्षा किए बिना मैंने अपनी इच्छा प्रकट कर दी, कहीं यह तो इसे बुरा नहीं लगा ? शायद

समझती हो कि अपनी स्वार्थ-कामना से यह इतने प्रसन्न हो रहे हैं, पर उस बेकस अंधे की इन्हें ज़रा भी परवा नहीं कि उस पर क्या गुज़रेगी। अगर यही करना था, तो यह राग ही क्यों छेड़ा था। बोले—"यह तो तुम्हारे फ़ैसले पर निर्भर है।"

सोफ़ी ने उदासीन भाव से उत्तर दिया—"इन विषयों में तुम मुझसे चतुर हो।"

क्लार्क—"उस अंधे की फ़िक्र है।"

सोफ़ी ने निर्दयता से कहा—"उस अंधे के ख़ुदा तुम्हीं नहीं हो।"

क्लार्क—"मैं तुम्हारी सलाह पूछता हूँ, और तुम मुझी पर छोड़ती जाती हो।"

सोफ़ी—"अगर मेरी सलाह से तुम्हारा अहित हो, तो?"

क्लार्क ने बड़ी वीरता से उत्तर दिया—"सोफ़ी, मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ?"

सोफ़ी—(हँसकर) "इसके लिये मैं तुम्हारी बहुत अनुगृहीत हूँ।"

इतने में मिसेज़ सेवक वहाँ आ गईं, और क्लार्क से हँस-हँसकर बातें करने लगीं। सोफ़ी ने देखा, अब मिस्टर क्लार्क को बनाने का मौक़ा नहीं रहा, तो अपने कमरे में चली आई। देखा, तो प्रभु सेवक वहाँ बैठे हुए हैं। सोफ़ी ने कहा—"इन हज़रत को अब यहाँ से बोरिया-बँधना सँभालना पड़ेगा। किसी रियासत के एजेंट होंगे।"

प्रभु सेवक—(चौंककर) "कब?"

सोफ़ी—"बहुत जल्द। राजा महेंद्रकुमार इन्हें ले बीते।"

प्रभु सेवक—"तब तो तुम भी यहाँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हो।"

सोफ़ी—"मैं इनसे विवाह न करूँगी।"

प्रभु सेवक—"सच?"

सोफ़ी—"हाँ, मैं कई दिन से यह फ़ैसला कर चुकी हूँ, पर तुमसे कहने का मौक़ा न मिला।"

प्रभु सेवक—"क्या डरती थीं कि कहीं मैं शोर न मचा दूँ?"

सोफ़ी—"बात तो वास्तव में यही थी।"

प्रभु सेवक—"मेरी समझ में नहीं आता कि तुम मुझ पर इतना अविश्वास क्यों करती हो, जहाँ तक मुझे याद है, मैंने तुम्हारी बात किसी से नहीं कही।"

सोफ़ी—क्षमा करना प्रभु! न-जाने क्यों मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं आता। तुममें अभी कुछ ऐसा लड़कपन है, कुछ ऐसे खुले हुए, निर्द्वंद्व मनुष्य हो कि मैं तुमसे कोई बात कहते उसी भाँति डरती हूँ, जैसे कोई आदमी वृक्ष की पतली टहनी पर पैर रखते डरता है।"

प्रभु सेवक—"अच्छी बात है, यों ही मुझसे डरा करो। वास्तव में मैं कोई बात सुन लेता हूँ, तो मेरे पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं, और जब तक किसी से कह न लूँ, मुझे चैन ही नहीं आता। ख़ैर, मैं तुम्हें इस फ़ैसले पर बधाई देता हूँ। मैंने तुमसे स्पष्ट तो कभी नहीं कहा; पर कई बार संकेत कर चुका हूँ कि मुझे किसी दशा में क्लार्क को अपना बहनोई बनाना पसंद नहीं है। मुझे न-जाने क्यों उनसे चिढ़ है। वह बेचारे मेरा बड़ा आदर करते हैं; पर अपना जी उनसे नहीं मिलता। एक बार मैंने उन्हें अपनी एक कविता सुनाई थी। उसी दिन से मुझे उनसे चिढ़ हो गई है। बैठे सोंठ की तरह सुनते रहे, मानो मैं किसी दूसरे आदमी से बातें कर रहा हूँ। कविता का ज्ञान ही नहीं। उन्हें देखकर बस यही इच्छा होती है कि ख़ूब बनाऊँ। मैंने कितने ही मनुष्यों को अपनी रचना सुनाई होगी, पर विनय-जैसा मर्मज्ञ और किसी को नहीं पाया। अगर वह कुछ लिखें, तो ख़ूब लिखें। उनका रोम-रोम काव्यमय है।"

सोफ़ी—"तुम इधर कभी कुँअर साहब की तरफ़ नहीं गए थे?"

प्रभु सेवक—"आज गया था, और वहीं से चला आ रहा हूँ। विनयसिंह बड़ी विपत्ति में पड़ गए हैं। उदयपुर के अधिकारियों ने उन्हें जेल में डाल रक्खा है।"

सोफ़िया के मुख पर क्रोध या शोक का कोई चिह्न न दिखाई दिया। उसने यह न पूछा, क्यों गिरफ़्तार हुए? क्या अपराध था? ये सब बातें उसने अनुमान कर लीं। केवल इतना पूछा—"रानी-जी तो वहाँ नहीं जा रही हैं?"

प्रभु सेवक—"न! कुँअर साहब और डॉक्टर गंगुली, दोनो जाने को तैयार हैं; पर रानी किसी को नहीं जाने देतीं। कहती हैं, विनय अपनी मदद आप कर सकता है। उसे किसी की सहायता की ज़रूरत नहीं।"

सोफ़िया थोड़ी देर तक गंभीर विचार में स्थिर बैठी रही। विनय की वीर मूर्ति उसकी आँखों के सामने फिर रही थी। सहसा उसने सिर उठाया, और निश्चयात्मक भाव से बोली—"मैं उदयपुर जाऊँगी।"

प्रभु सेवक—"वहाँ जाकर क्या करोगी?"

सोफ़ी—"यह नहीं कह सकती कि वहाँ जाकर क्या करूँगी। अगर और कुछ न कर सकूँगी, तो कम-से-कमजेल में रहकर विनय की सेवा तो करूँगी, अपने प्राण तो उन पर निछावर कर दूँगी। मैंने उनके साथ जो छल किया है, चाहे किसी इरादे से किया हो, वह नित्य मेरे हृदय में काँटे की भाँति चुभा करता है। उससे उन्हें जो दुःख हुआ होगा, उसकी कल्पना करते ही मेरा चित्त विकल हो जाता है। मैं अब उस छल का प्रायश्चित्त करूँगी, किसी और उपाय से नहीं, तो अपने प्राणों ही से।"

यह कहकर सोफ़िया ने खिड़की से झाँका, तो मि० क्लार्क अभी

तक खड़े मिसेज़ सेवक से बातें कर रहे थे। मोटर कार भी खड़ी थी। वह तुरंत बाहर आकर मि० क्लार्क से बोली—"विलियम, आज मामा से बातें करने ही में रात ख़त्म कर दोगे? मैं सैर करने के लिये तुम्हारा इंतज़ार कर रही हूँ।"

कितनी मंजुल वाणी थी! कितनी मनोहारिणी छवि से, कमल-नेत्रों में मधुर हास्य का कितना जादू भरकर, यह प्रेम-याचना की गई थी! क्लार्क ने क्षमा-प्रार्थी नेत्रों से सोफ़िया को देखा—"यह वही सोफ़िया है, जो अभी एक ही क्षण पहले मेरी हँसी उड़ा रही थी!" तब जल पर आकाश की श्यामल छाया थी, अब उसी जल में इंदु की सुनहरी किरणें नृत्य कर रही थीं, उसी लहराते हुए जल की कंपित, विहँसित, चंचल छटा उसकी आँखों में थी। लज्जित होकर बोले—"प्रिये, क्षमा करो, मुझे याद ही न रही, बातों में देर हो गई।"

सोफ़िया ने माता को सरल नेत्रों से देखकर कहा—"मामा, देखती हो इनकी निष्ठुरता, यह अभी से मुझसे तंग आ गए हैं। मेरी इतनी सुधि भी न रही कि झूठों ही पूछ लेते, सैर करने चलोगी?"

मिसेज़ सेवक—"हाँ, विलियम, यह तुम्हारी ज़्यादती है। आज सोफ़ी ने तुम्हें रँगे हाथों पकड़ लिया। मैं तुम्हें निर्दोष समझती थी, और सारा दोष उसी के सिर रखती थी।"

क्लार्क ने कुछ मुस्किराकर अपनी झेंप मिटाई, और सोफ़िया का हाथ पकड़कर मोटर की तरफ़ चले। पर अब भी उन्हें शंका हो रही थी कि मेरे हाथ में जो नाज़ुक कलाई है, वह कोई वस्तु है या केवल कल्पना और स्वप्न। रहस्य और भी दुर्भेद्य होता हुआ दिखाई देता था। यह कोई बंदर को नचानेवाला मदारी है या बालक, जो बंदर को दूर से देखकर ख़ुश होता है, उसे मिठाई देता है, पर बंदर के निकट आते ही भय से चिल्लाने लगता है।

जब मोटर चला, तो सोफ़िया ने कहा—"एजेंट के अधिकार तो

बड़े होते हैं, वह चाहे, तो किसी रियासत के भीतरी मुआमिलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है, क्यों ?"

क्लार्क ने प्रसन्न होकर कहा—"उसका अधिकार सवत्र, यहाँ तक कि राजा के महल के अंदर भी, होता है। रियासत का कहना ही क्या, वह राजा के खाने, सोने, आराम करने का समय तक नियत कर सकता है। राजा किससे मिले, किससे दूर रहे, किसका आदर करे, किसकी अवहेलना करे, ये सब बातें एजेंट के अधीन हैं। वह यहाँ तक निश्चय कर सकता है कि राजा की मेज़ पर कौन-कौन-से प्याले आएँगे, राजा के लिये कैसे और कितने कपड़ों की ज़रूरत है, यहाँ तक कि वह राजा के विवाह का भी निश्चय करता है। बस, यों समझो कि वह रियासत का ख़ुदा होता है।"

सोफ़िया—"तब तो वहाँ सैर-सपाटे का ख़ूब अवकाश मिलेगा। यहाँ की भाँति दिन-भर दफ़्तर में तो न बैठना पड़ेगा ?"

क्लार्क—"वहाँ कैसा दफ़्तर, एजेंट का काम दफ़्तर में बैठना नहीं है, वह वहाँ बादशाह का स्थानापन्न होता है।"

सोफ़िया—"अच्छा, जिस रियासत में चाहो, जा सकते हो ?"

क्लार्क—"हाँ, केवल पहले से कुछ लिखा-पढ़ी करनी पड़ेगी। तुम कौन-सी रियासत पसंद करोगी ?"

सोफ़िया—"मुझे तो पहाड़ी देशों से विशेष प्रेम है। पहाड़ों के दामन में बसे हुए गाँव, पहाड़ों की गोद में चरनेवाली भेड़ें और पहाड़ों से गिरनेवाले जल-प्रपात, ये सभी दृश्य मुझे काव्यमय प्रतीत होते हैं। मुझे मालूम होता है, वह कोई दूसरा ही जगत् है, इससे कहीं शांतिमय और शुभ्र। शैल मेरे लिये एक मधुर स्वप्न है। कौन-कौन-सी रियासतें पहाड़ों में हैं ?"

क्लार्क—"भरतपुर, जोधपुर, कश्मीर, उदयपुर......।"

सोफ़िया—"बस, तुम उदयपुर के लिये लिखो। मैंने इतिहास

में उदयपुर की वीर-कथाएँ पढ़ी हैं, और तभी से मुझे उस देश को देखने की बड़ी लालसा है। वहाँ के राजपूत कितने वीर, कितने स्वाधीनता-प्रेमी, कितने आन पर जान देनेवाले होते थे। लिखा है, चित्तौड़ में जितने राजपूतों ने वीर-गति पाई, उनके जनेऊ तौले गए, तो ७५ मन निकले। कई हज़ार राजपूत स्त्रियाँ एक साथ चिता पर बैठकर राख हो गईं। ऐसे प्रण-वीर प्राणी संसार में शायद ही और कहीं हों।"

क्लार्क—"हाँ, वे वृत्तांत मैंने भी इतिहासों में देखे हैं। ऐसी वीर जाति का जितना सम्मान किया जाय, कम है। इसीलिये उदयपुर का राजा हिंदू-राजों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उनकी वीर-कथाओं में अतिशयोक्ति से बहुत काम लिया गया है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इस देश में इतनी जाँबाज़ और कोई जाति नहीं है।"

सोफ़िया—"तुम आज ही उदयपुर के लिये लिखो, और संभव हो, तो हम लोग एक मास के अंदर यहाँ से प्रस्थान कर दें।"

क्लार्क—"लेकिन...कहते हुए डर लगता है...तुम मेरा आशय समझ गई होंगी...यहाँ से चलने के पहले मैं तुमसे वह चिर-सिंचित.........मेरा जीवन...।"

सोफ़िया ने मुस्किराकर कहा—"समझ गई, उसके प्रकट करने का कष्ट न उठाओ, इतनी मंद-बुद्धि नहीं हूँ, लेकिन मेरी निश्चय-शक्ति अत्यंत शिथिल है, यहाँ तक कि सैर करने के लिये चलने का निश्चय भी मैं घंटों के सोच-विचार के बाद करती हूँ। ऐसे महत्त्व के विषय में, जिसका सबंध जीवन-पर्यंत रहेगा, मैं इतनी जल्द कोई फ़ैसला नहीं कर सकती। बल्कि साफ़ तो यों है कि अभी तक मैं यही निर्णय नहीं कर सकी कि मुझ-जैसी निर्द्वंद्व, स्वाधीन-विचार-प्रिय स्त्री दांपत्य-जीवन के योग्य है भी या नहीं। विलियम, मैं

तुमसे हृदय की बात कहती हूँ, गृहिणी-जीवन से मुझे भय मालूम होता है। इसलिये जब तक तुम मेरे स्वभाव से भली भाँति परिचित न हो जाओ, मैं तुम्हारे हृदय में झूठी आशाएँ पैदा करके तुम्हें धोखे में नहीं डालना चाहती। अभी मेरा और तुम्हारा परिचय केवल एक वर्ष का है। अब तक मैं तुम्हारे लिये केवल एक रहस्य हूँ। क्यों, हूँ या नहीं?"

क्लार्क— हाँ, सोफ़ी! वास्तव में अभी मैं तुम्हें अच्छी तरह नहीं पहचान पाया हूँ।"

सोफ़िया—"फिर ऐसी दशा में तुम्हीं सोचो, हम दोनो का दांपत्य सूत्र में बँध जाना कितनी बड़ी नादानी है। मेरे दिल की जो पूछो, तो मुझे एक सहृदय, सज्जन, विचारशील और सच्चरित्र पुरुष के साथ मित्र बनकर रहना उसकी स्त्री बनकर रहने से कम आनंद-दायक नहीं मालूम होता। तुम्हारा क्या विचार है, यह मैं नहीं जानती, लेकिन मैं स्त्री और पुरुष के संबंध को दो हृदयों के संयोग का सबसे उत्तम रूप नहीं समझती, मैं सहानुभूति और सहवास को वासनामय संबंध से कहीं महत्त्व-पूर्ण समझती हूँ।"

क्लार्क—"किंतु सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ ऐसे संबंधों को ....।"

सोफ़िया—"हाँ, ऐसे संबंध अस्वाभाविक होते हैं, और साधारणतः उन पर आचरण नहीं किया जा सकता। मैं भी इसे सदैव के लिये जीवन का नियम बनाने को प्रस्तुत नहीं हूँ, लेकिन जब तक हम एक दूसरे को अच्छी तरह समझ न लें, जब तक हमारे अंतःकरण एक दूसरे के सामने आईने न बन जायँ, उस समय तक मैं ऐसे ही संबंध को आवश्यक समझती हूँ।"

क्लार्क—"मैं तुम्हारी इच्छाओं का दास हूँ। केवक इतना कह सकता हूँ कि तुम्हारे बिना मेरा जीवन वह घर है, जिसमें कोई

रहनेवाला नहीं ; वह दीपक है, जिसमें उजाला नहीं ; वह कवित्त है, जिसमें रस नहीं ।"

सोफ़िया—"बस, बस । यह प्रेमियों की भाषा केवल प्रेम-कथाओं के ही लिये शोभा देती है । यह लो, पाँड़ेपुर आ गए । अँधेरा हो रहा है । सूरदास चला गया होगा । यह हाल सुनेगा, तो उस ग़रीब का दिल टूट जायगा ।"

क्लार्क—"उसके निर्वाह का और कोई प्रबंध कर दूँ ?"

सोफ़िया—"इस भूमि से उसका निर्वाह नहीं होता था, केवल मोहल्ले के जानवर चरा करते थे ; वह ग़रीब है, भिखारी है, पर लोभी नहीं । मुझे तो वह कोई साधु मालूम होता है ।"

क्लार्क—"अंधे कुशाग्र-बुद्धि और धार्मिक होते हैं ।"

सोफ़िया—"मुझे तो उसके प्रति बड़ी श्रद्धा हो गई है । यह देखो, पापा ने काम शुरू कर दिया । अगर उन्होंने राजा की पीठ न ठोकी होती, तो उन्हें तुम्हारे सम्मुख आने का कदापि साहस न होता !"

क्लार्क—"तुम्हारे पापा बड़े चतुर आदमी हैं । ऐसे ही प्राणी संसार में सफल होते हैं । कम-से-कम मैं तो यह दोरुख़ी चाल न चल सकता ।"

सोफ़िया—"देख लेना, दो-ही-चार वर्षों में इस मोहल्ले में कारखाने के मज़दूरों के मकान होंगे, यहाँ का एक मनुष्य भी न रहने पाएगा ।"

क्लार्क—"पहले तो इस अंधे ने बड़ा शोर-ग़ुल मचाया था । देखें, अब क्या करता है ?"

सोफ़िया—"मुझे तो विश्वास है कि वह चुप होकर कभी न बैठेगा, चाहे इस ज़मीन के पीछे उसकी जान ही क्यों न चली जाय ।"

क्लार्क—"नहीं प्रिये, ऐसा कदापि न होने पाएगा। जिस दिन यह नौबत आएगी, सबसे पहले सूरदास के लिये मेरे कंठ से जय-ध्वनि निकलेगी, सबसे पहले मेरे हाथ उस पर फूलों की वर्षा करेंगे।"

सोफ़िया ने क्लार्क को आज पहली ही बार सम्मान-पूर्ण प्रेम की दृष्टि से देखा।

[२५]

साल-भर तक राजा महेंद्रकुमार और मिस्टर क्लार्क में निरंतर चोटें चलती रहीं। पत्र का पृष्ठ रणक्षेत्र था, और शृंखलित शूरमों की जगह शूरमों से कहीं बलवान् दलीलें। मनों स्याही बह गई, कितनी ही क़लमें काम आईं। दलीलें कट-कटकर रावण की सेना की भाँति फिर जीवित हो जाती थीं। राजा साहब बार-बार हतोत्साह हो जाते, सरकार से मेरा मुक़ाबला करना चींटी का हाथी से मुक़ाबला करना है। लेकिन मिस्टर जॉन सेवक और उनसे अधिक इंदु उन्हें ढाढ़स देती रहती थीं। शहर के रईसों ने हिम्मत से कम, स्वार्थ-बुद्धि से अधिक, काम लिया। उस विनय-पत्र पर, जो डॉक्टर गंगुली ने नगर-निवासियों की ओर से गवर्नर की सेवा में भेजने के लिये लिखा था, हस्ताक्षर करने के समय अधिकांश सज्जन बीमार पड़ गए, ऐसे साध्य रोग से पीड़ित हो गए कि हाथ में क़लम पकड़ने की शक्ति न रही। कोई तीर्थ-यात्रा करने चला गया, कोई किसी परमावश्यक काम से कहीं बाहर रवाना हो गया, जो गिने-गिनाए लोग कोई हीला न कर सके, वे भी हस्ताक्षर करने के बाद मिस्टर क्लार्क से क्षमा-प्रार्थना कर आए—"हुज़ूर, न जाने उसमें क्या लिखा था, हमारे सामने तो केवल सादा काग़ज़ आया था, हमसे यही कहा गया कि यह पानी का महसूल घटाने की दरख़्वास्त है। हमें मालूम होता कि उस सादे पत्र पर पीछे से हुज़ूर की शिकायत लिखी जायगी, तो हम भूलकर भी क़लम न उठाते।" हाँ, जिन महानुभावों ने सिगरेट-कंपनी के हिस्से लिए थे, उन्हें विवश होकर हस्ताक्षर करने पड़े। हस्ताक्षर करनेवालों की संख्या यद्यपि बहुत न थी;

पर डॉक्टर गंगुली को व्यवस्थापक सभा में सरकार से प्रश्न करने के लिये एक बहाना मिल गया। उन्होंने अदम्य उत्साह और धैर्य के साथ प्रश्नों की बाढ़ जारी रक्खी। सभा में डॉक्टर महोदय का विशेष सम्मान था, कितने ही सदस्यों ने उनके प्रश्नों का समर्थन किया, यहाँ तक कि डॉक्टर गंगुली के एक प्रस्ताव पर अधिकारियों को बहुमत से हार माननी पड़ी। इस प्रस्ताव से लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं; किंतु जब इसका भी कुछ असर न हुआ, तो जगह-जगह सरकार पर अविश्वास प्रकट करने के लिये सभाएँ होने लगीं। रईसों और ज़मींदारों की तो भय के कारण ज़बान बंद थी; किंतु मध्यम श्रेणी के लोगों ने खुल्लमखुल्ला इस निरंकुशता का विरोध करना शुरू किया। कुँअर भरतसिंह को उनका नेतृत्व प्राप्त हुआ, और वह स्पष्ट शब्दों में कहने लगे—"अब हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। हमारा उद्धार अपने ही हाथों होगा। महेंद्रकुमार भी गुप्त रूप से इस दल को प्रोत्साहित करने लगे। डॉक्टर गंगुली के बहुत कुछ आश्वासन देने पर भी शासकों पर उन्हें अश्रद्धा हो गई। निराशा निर्बलता से उत्पन्न होती है; पर उसके गर्भ से शक्ति का जन्म होता है।

रात के नौ बज गए थे। विनयसिंह के कारावास-दंड का समाचार पाकर कुँअर साहब ने अपने हितैषियों को इस स्थिति पर विचार करने के लिये आमंत्रित किया था। डॉक्टर गंगुली, जॉन सेवक, प्रभु सेवक, राजा महेंद्रकुमार और कई अन्य सज्जन आए हुए थे। इंदु भी राजा साहब के साथ आई थी, और अपनी माता से बातें कर रही थी। कुँअर साहब ने नायकराम को बुला भेजा था, और वह कमरे के द्वार पर बैठे हुए तंबाकू मल रहे थे।

महेंद्रकुमार बोले—"रियासतों पर सरकार का बड़ा दबाव है। वे अपंग हैं, और सरकार के इशारे पर चलने के लिये मजबूर हैं।"

भरतसिंह ने राजा साहब का खंडन किया—"जिससे किसी का उपकार न हो, और जिसके अस्तित्व का आधार ही अपकार पर हो, उसका निशान जितनी जल्द मिट जाय, उतना ही अच्छा। विदेशियों के हाथों में अन्याय का यंत्र बनकर जीवित रहने से तो मर जाना ही उत्तम है।"

डॉक्टर गंगुली—"वहाँ का हाकिम लोग खुद पतित है। डरता है कि रियासत में स्वाधीन विचारों का प्रचार हो जायगा, तो हम प्रजा को कैसे लूटेगा। राजा मसनद लगाकर बैठा रहता है, उसका नौकर-चाकर मनमाना राज करता है।"

जॉन सेवक ने पक्षपात-रहित होकर कहा—"सरकार किसी रियासत को अन्याय करने के लिये मजबूर नहीं करती। हाँ, चूँकि वे अशक्त हैं, अपनी रक्षा आप नहीं कर सकतीं, इसलिये ऐसे कामों में ज़रूरत से ज़्यादा तत्पर हो जाती हैं, जिनसे सरकार के प्रसन्न होने का उन्हें विश्वास होता है।"

भरतसिंह—'विनय कितना नम्र, सुशील, सुधीर है, यह आप लोगों से छिपा नहीं। मुझे इसका विश्वास ही नहीं हो सकता कि उसकी जात से किसी का अहित हो सकता है।"

प्रभु सेवक कुँअर साहब के मुँह लगे हुए थे। अब तक जॉन सेवक के भय से न बोले थे; पर अब न रहा गया। बोले—"क्यों; क्या पुलिस से चोरों का अहित नहीं होता? क्या साधुओं से दुर्जनों का अहित नहीं होता, और फिर गऊ-जैसे पशु की हिंसा करने-वाले क्या संसार में नहीं हैं? विनय ने दलित किसानों की सेवा करनी चाही थी। उसी का यह उन्हें उपहार मिला है। प्रजा की सहन-शक्ति की भी कोई सीमा होनी चाहिए और होती है। उसकी अवहेलना करके क़ानून ही नहीं रह जाता। उस समय उस क़ानून को भंग करना ही प्रत्येक विचारशील प्राणी का कर्तव्य हो जाता है।

अगर आज सरकार का हुक्म हो कि सब लोग मुँह में कालिख लगाकर निकलें, तो इस हुक्म की उपेक्षा करना हमारा धर्म हो जायगा। उदयपुर के दरबार को कोई अधिकार नहीं है कि वह किसी को रियासत से निकल जाने पर मजबूर करे।"

डॉक्टर गंगुली—"उदयपुर ऐसा हुक्म दे सकता है। उसको अधिकार है।"

प्रभु सेवक—"मैं इसे स्वीकार नहीं करता। जिस आज्ञा का आधार केवल पशु-बल हो, उसका पालन करना आवश्यक नहीं। अगर उदयपुर में कोई उत्तरदायित्व-पूर्ण सरकार होती, और वह बहुमत से यह हुक्म देती, तो दूसरी बात थी। लेकिन जब कि प्रजा ने कभी दरबार से यह इच्छा नहीं की, बल्कि वह विनयसिंह पर जान देती है, तो केवल अधिकारियों की स्वेच्छा हमको उनकी आज्ञा का पालन करने के लिये बाध्य नहीं कर सकती।"

राजा साहब ने इधर-उधर भीत नेत्रों से देखा कि यहाँ कोई मेरा शत्रु तो नहीं बैठा हुआ है। जॉन सेवक भी त्योरियाँ बदलने लगे।

डॉक्टर गंगुली—"हम दरबार से लड़ तो नहीं सकता।"

प्रभु सेवक—"प्रजा को अपने स्वत्व की रक्षा के लिये उत्तेजित तो कर सकते हैं।"

भरतसिंह—"इसका परिणाम विद्रोह के सिवा और क्या हो सकता है, और विद्रोह का दमन करने के लिये दरबार सरकार से सहायता लेगी। हज़ारों बेकसों का ख़ून हो जायगा।"

प्रभु सेवक—"जब तक हम ख़ून से डरते रहेंगे, हमारे स्वत्व भी हमारे पास आने से डरते रहेंगे। उनकी रक्षा भी तो ख़ून ही से होगी। राजनीति का क्षेत्र समर-क्षेत्र से कम भयावह नहीं है। उसमें उतरकर रक्तपात से डरना कापुरुषता है।"

जॉन सेवक से अब ज़ब्त न हुआ। बोले—"तुम-जैसे भावुक

युवकों को ऐसे गहन राजनीतिक विषयों पर कुछ कहने के पहले अपने शब्दों को ख़ूब तौल लेना चाहिए। यह अवसर शांत और शीतल विचार से काम लेने का है।"

प्रभु सेवक ने दबी ज़बान से कहा, मानो मन में कह रहा है—"शीतल विचार कायरता का दूसरा नाम है।"

डॉक्टर गंगुली—"मेरे विचार में भारतीय सरकार की सेवा में डेपुटेशन जाना चाहिए।"

भरतसिंह—"सरकार कह देगी, हमें दरबार के आंतरिक विषयों में दख़ल देने का अधिकार नहीं।"

महेंद्रकुमार—"दरबार ही के पास क्यों न डेपुटेशन भेजा जाय?"

जॉन सेवक—"हाँ, यही मेरी भी सलाह है। राज्य के विरुद्ध आंदोलन करना राज्य को निर्बल बना देता है, और प्रजा को उद्दंड। राज्य-प्रभुत्व का प्रत्येक दशा में अक्षुण्ण रहना आवश्यक है, अन्यथा उसका फल वही होगा, जो आज साम्यवाद का व्यापक रूप धारण कर रहा है। संसार ने तीन शताब्दियों तक जनवाद की परीक्षा की, और अंत में हताश हो गया। आज समस्त संसार जनवाद के आतंक से पीड़ित है। हमारा परम सौभाग्य है कि वह अग्नि-ज्वाला अभी तक इस देश में नहीं पहुँची, और हमें यत्न करना चाहिए कि उससे भविष्य में भी निश्शंक रहें।"

कुँअर भरतसिंह जनवाद के बड़े पक्षपाती थे। अपने सिद्धांत का खंडन होते देखकर बोले—"फूस का झोपड़ा बनाकर आप अग्नि-ज्वाला से निश्शंक रह ही नहीं सकते। बहुत संभव है कि ज्वाला के बाहर से न आने पर भी घर ही की एक चिनगारी उड़कर उस पर गिर पड़े। आप झोपड़ा रखिए ही क्यों! जनवाद आदर्श व्यवस्था न हो; पर संसार अभी उससे उत्तम कोई शासन-विधान नहीं निकाल सका है। ख़ैर, जब यह सिद्ध हो गया कि हम दरबार पर

कोई असर नहीं डाल सकते, तो सब्र करने के सिवा और क्या किया जा सकता है। मैं राजनीतिक विषयों से अलग रहना चाहता हूँ, क्योंकि उससे कोई फ़ायदा नहीं। स्वाधीनता का मूल्य रक्त है। जब हममें उसके देने की शक्ति ही नहीं है, तो व्यर्थ में कमर क्यों बाँधें, पैतरे क्यों बदलें, ताल क्यों ठोकें। उदासीनता ही में हमारा कल्याण है।"

प्रभु सेवक—"यह तो बहुत मुश्किल है कि आँखों से अपना घर लुटते देखें, और मुँह न खोलें।"

भरतसिंह—"हाँ, बहुत मुश्किल है, पर अपनी वृत्तियों को साधना पड़ेगा। उसका यही उपाय है कि हम कुल्हाड़ी की बेंट न बनें। बेंट कुल्हाड़ी की मदद न करे, तो कुल्हाड़ी कठोर और तेज़ होने पर भी हमें बहुत हानि नहीं पहुँचा सकती। यह हमारे लिये घोर लज्जा की बात है कि हम शिक्षा, ऐश्वर्य या धन के बल पर शासकों के दाहने हाथ बनकर प्रजा का गला काटें, और इस बात पर गर्व करें कि हम हाकिम हैं।"

जॉन सेवक—"शिक्षित-वर्ग सदैव से राज्य का आश्रित रहा है और रहेगा। राज्य-विमुख होकर वह अपना अस्तित्व नहीं मिटा सकता।"

भरतसिंह—"यही तो सबसे बड़ी विपत्ति है। शिक्षित-वर्ग जब तक शासकों का आश्रित रहेगा, हम अपने लक्ष्य के जौ-भर भी निकट न पहुँच सकेंगे। उसे अपने लिये थोड़े, बहुत थोड़े, दिनों के लिये कोई दूसरा ही अवलंब खोजना पड़ेगा।"

राजा महेंद्रसिंह बग़लें झाँक रहे थे कि यहाँ से खिसक जाने का कोई मौक़ा मिल जाय। इस वाद-विवाद का अंत करने के इरादे से बोले—"तो आप लोगों ने क्या निश्चय किया? दरबार की सेवा में डेपुटेशन भेजा जायगा।"

डॉक्टर गंगुली—"हम खुद जाकर विनय को छुड़ा लाएगा।"

भरतसिंह—"अगर वधिक ही से प्राण-याचना करनी है, तो चुप रहना ही अच्छा। कम-से-कम बात तो बनी रहेगी।"

डॉक्टर गंगुली—"फिर वही Pessimism का बात। हम विनय को समझाकर उसे यहाँ आने पर राजी कर लेगा।"

रानी जाह्नवी ने इधर आते हुए इस वाक्य के अंतिम शब्द सुन लिए। गर्व-सूचक भाव से बोलीं—"नहीं डॉक्टर गंगुली, आप विनय पर यह कृपा न कीजिए। यह उसकी पहली परीक्षा है। इसमें उसको सहायता देना उसके भविष्य को नष्ट करना है। वह न्याय-पक्ष पर है, उसे किसी से दबने की ज़रूरत नहीं। अगर उसने प्राण-भय से इस अन्याय को स्वीकार कर लिया, तो सबसे पहले मैं ही उसके माथे पर कालिमा का टीका लगा दूँगी।"

रानी के ओज-पूर्ण शब्दों ने लोगों को विस्मित कर दिया। ऐसा जान पड़ता था कि कोई देवी आकाश से यह संदेशा सुनाने के लिये उतर आई है।

एक क्षण के बाद भारतसिंह ने रानी के शब्दों का भावार्थ किया—"मेरे ख़याल में अभी विनयसिंह को उसी दशा में छोड़ देना चाहिए। वह उसकी परीक्षा है। मनुष्य बड़े-से-बड़ा काम जो कर सकता है, वह यही है कि अपनी आत्मरक्षा के लिये मर मिटे। यही मानवीय जीवन का उच्चतम उद्देश्य है। ऐसी ही परीक्षाओं में सफल होकर हमें वह गौरव प्राप्त हो सकता है कि जाति हम पर विश्वास कर सके।"

गंगुली—"रानी हमारी देवी हैं। हम उनके सामने कुछ नहीं कह सकता। पर देवी लोगों का बात संसारवालों के व्यवहार के योग्य नहीं हो सकता। हमको पूरा आशा है कि हमारा सरकार जरूर बोलेगा।"

रानी—"सरकार की न्यायशीलता का एक दृष्टांत तो आपके

सामने ही है। अगर अब भी आपको उस पर विश्वास हो, तो मैं यही कहूँगी कि आपको कुछ दिनों किसी ओषधि का सेवन करना पड़ेगा।"

गंगुली—"दो-चार दिन में यह बात मालूम हो जायगा। सरकार को भी तो अपनी नेकनामी-बदनामी का डर है।"

महेंद्रकुमार बहुत देर के बाद बोले—"राह देखते-देखते तो आँखें पथरा गईं। हमारी आशा इतनी चिरजीवी नहीं।"

सहसा टेलीफ़ोन की घंटी बोली। कुँअर साहब ने पूछा—"कौन महाशय हैं ?"

"मैं हूँ प्राणनाथ। मिस्टर क्लार्क का तबादला हो गया।"

"कहाँ ?"

"पोलिटिकल विभाग में जा रहे हैं। ग्रेड कम कर दिया गया है।"

डॉक्टर गंगुली—"अब बोलिए, मेरा बात सच हुआ कि नहीं। आप लोग कहता था, सरकार की नीयत बिगड़ा हुआ है। पर हम कहता था, उसको हमारा बात मानना पड़ेगा।"

महेंद्रकुमार—"अजी, प्राणनाथ मसख़रा है, आपसे दिल्लगी कर रहा होगा।"

भरतसिंह—"नहीं, मुझसे तो उसने कभी दिल्लगी नहीं की।"

रानी—"सरकार ने इतने नैतिक साहस से शायद पहली ही बार काम किया है।"

गंगुली—"अब वह जमाना नहीं है, जब सरकार प्रजा-मत की उपेक्षा कर सकती थी। अब काउंसिल का प्रस्ताव उसे मानना पड़ता है।"

भरतसिंह—"ज़माना तो वही है, और सरकार की नीति में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। इसमें ज़रूर कोई-न-कोई राजनीतिक रहस्य है।"

जॉन सेवक—"व्यापार-मंडल ने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करके गवर्नमेंट के छक्के छुड़ा दिए।"

महेंद्रकुमार—"मेरा डेपुटेशन बड़े मौक़े से पहुँचा था।"

गंगुली—"मैंने काउंसिल को ऐसा संघटित कर दिया था कि हमको इतना बड़ा मेजारिटी कभी नहीं मिला।"

इंदु रानी के पीछे खड़ी थी। बोली—"विनय-पत्र पर मेरे ही उद्योग से इतने आदमियों के नाम आए थे। मुझे तो विश्वास है, यह उसी की करामात है।"

नायकराम अब तक चुपचाप बैठे हुए थे। उनकी समझ में न आता था कि यहाँ क्या बातें हो रही हैं। टेलीफ़ोन की बात उनकी समझ में आई। अब उन्हें ज्ञात हुआ कि लोग सफलता का सेहरा अपने-अपने सिर बाँध रहे हैं। ऐसे अवसर पर भला वह कब चूकनेवाले थे। बोले—"सरकार, यहाँ भी गाफिल बैठनेवाले नहीं हैं। सिविल सारजंट के कान में यह बात डाल दी थी कि राजा साहब की ओर से पूरा एक हजार लठैत जवान तैयार बैठा हुआ है। उनका हुक्म बहाल न हुआ, तो खून-खच्चर हो जायगा, सहर में तूफान आ जायगा। उन्होंने लाट साहब से यह बात जरूर ही कही होगी।"

महेंद्रकुमार—"मैं तो समझता हूँ, यह तुम्हारी धमकियों ही की करामात है।"

नायकराम—"धर्मावतार, धमकियाँ कैसी, खून की नदी बह जाती। आपका ऐसा अकबाल है कि चाहूँ, तो एक बार सहर लुटवा दूँ। ये लाल साफे खड़े मुँह ताकते रह जायँ।"

प्रभु सेवक ने हास्य-भाव से कहा—"सच पूछिए, तो यह उस कविता का फल है, जो मैंने 'हिंदुस्तान-रिव्यू' में लिखी थी।"

रानी—"प्रभु, तुमने यह चपत खूब लगाई। डॉक्टर गंगुली

अपना सिर सुहला रहे हैं। क्यों डॉक्टर, बैठी या नहीं? एक तुच्छ सफलता पर आप लोग इतने फूले नहीं समाते! इसे विजय न समझिए, यह वास्तव में पराजय है, जो आपको अपने अभीष्ट से कोसों दूर हटा देती है, आपके गले में फंदे को और भी मज़बूत कर देती है। बाजेवाले सर्दी में बाजे को आग से सेंकते हैं, केवल इसीलिये कि उसमें से कर्ण-मधुर स्वर निकले। आप लोग भी सेंके जा रहे हैं, अब चोटों के लिये पीठ मज़बूत कर लीजिए।"

यह कहती हुई जाह्नवी अंदर चली गईं; पर उसके जाते ही इस तिरस्कार का असर भी जाता रहा, लोग फिर वही राग अलापने लगे।

महेंद्रकुमार—"क्लार्क महोदय भी क्या याद करेंगे कि किसी से पाला पड़ा था।"

गंगुली—"अब इससे कौन इनकार कर सकता है कि ये लोग कितने न्यायप्रिय होते हैं।

जॉन सेवक—"अब ज़रा उस अंधे की भी ख़बर लेनी चाहिए।"

नायकराम—"साहब, उसको हार-जीत का कोई ग़म नहीं है। उस ज़मीन की दसगुनी भी मिल जाय, तो भी वह इसी तरह रहेगा।"

जॉन सेवक—"मैं कल ही से मिल में काम लगा दूँगा। ज़रा मिस्टर क्लार्क को भी देख लूँ।"

महेंद्रकुमार—"मैं तो अभिवादन-पत्र न दूँगा। उनकी तरफ़ से कोशिश तो होगी; पर बोर्ड का बहुमत मेरे साथ है।"

गंगुली—ऐसा हाकिम लोग को अभिवादन-पत्र देने का काम नहीं है।"

महेंद्रकुमार के पेट में चूहे दौड़ रहे थे कि इंदु से भी इस सुख-संवाद पर बातें करूँ। यों तो वह बहुत ही गंभीर पुरुष थे; पर

इस विजय ने बालोचित उल्लास से विह्वल कर दिया था। एक नशा-सा छाया हुआ था। रानी के जाने के ज़रा देर बाद वह विह-सित-मुख, प्रसन्न-चित्त, अज्ञात भाव से अकड़ते, गर्व से मस्तक उठाए अंदर दाखिल हुए। इंदु रानी के पास बैठी हुई थी। खड़ी होकर बोली—"आखिर साहब बहादुर को बोरिया बँधना सँभालना पड़ा न !"

महेंद्रकुमारसिंह रानी के सामने अपना कुत्सित आनंद न प्रकट कर सके। बोले—"हाँ, अब तो टलना ही पड़ेगा।"

इंदु—"अब कल मैं इन लेडी साहब का कुशल-समाचार पूछूँगी, जो धरती पर पाँव न रखती थीं, अपने आगे किसी को कुछ समझती ही न थीं। बुलाकर दावत करूँ ?"

महेंद्रकुमार—"कभी न आएगी, और ज़रूरत ही क्या है !"

इंदु—"ज़रूरत क्यों नहीं। झेपेगी तो, सिर तो नीचा हो जायगा। न आएगी, न सही। अम्मा, आपने तो देखा है, सोफ़िया पहले कितनी नम्र और मिलनसार थी; लेकिन क्लार्क से विवाह की बातचीत होते ही मिज़ाज आसमान पर चढ़ गया।"

रानी ने गंभीर भाव से कहा—"बेटी, यह तुम्हारा भ्रम है। सोफ़िया मिस्टर क्लार्क से कभी विवाह न करेगी। अगर मैं आदमियों को कुछ पहचान सकती हूँ, तो देख लेना मेरी बात ठीक उतरती है या नहीं।"

इंदु—"अम्मा, क्लार्क से उसकी मँगनी हो गई है। संभव है, गुप्त रूप से विवाह भी हो गया हो। देखती नहीं हो; दोनो कितने घुले-मिले रहते हैं।"

रानी—"कितने ही घुले-मिले रहें; पर उनका विवाह न हुआ है, न होगा। मैं अपनी संकीर्णता के कारण सोफ़िया की कितनी ही उपेक्षा करूँ; किंतु वह सती है, इसमें अणु-मात्र भी संदेह नहीं। उसे लज्जित करके तुम पछताओगी।"

इंदु—"अगर वह इतनी उदार है, तो आपके बुलाने से अवश्य आएगी।"

रानी—"हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।"

इंदु—तो बुला भेजिए, मुझे दावत का प्रबंध क्यों करना पड़े।"

रानी—"तुम यहाँ बुलाकर उसका अपमान करना चाहती हो। मैं तुमसे अपने हृदय की बात कहती हूँ; अगर वह ईसाइन न होती, तो आज के पाँचवें वर्ष मैं उससे विनय का विवाह करती, और इसे अपना धन्य भाग समझती।"

इंदु को ये बातें कुछ अच्छी न लगीं। उठकर अपने कमरे में चली गई। एक क्षण में महेंद्रकुमार भी वहाँ पहुँच गए, और दोनो डींगें मारने लगे। कोई लड़का खेल में जीतकर भी इतना उन्मत्त न होता होगा।

उधर दीवानख़ाने से भी सभा उठ गई। लोग अपने-अपने घर गए। जब एकांत हो गया, तो कुँअर साहब ने नायकराम को बुलाकर कहा—"पंडाजी, तुमसे मैं एक काम लेना चाहता हूँ, करोगे?"

नायकराम—"सरकार, हुक्म हो तो सिर देने को हाजिर हैं। ऐसी क्या बात है भला?"

कुँअर—"देखो, दुनियादारी मत करो। मैं जो काम लेना चाहता हूँ, वह सहज नहीं। बहुत समय, बहुत बुद्धि, बहुत बल व्यय करना पड़ेगा। जान-जोखिम भी है। अगर दिल इतना मज़बूत हो, तो हामी भरो, नहीं तो साफ़-साफ़ जवाब दे दो, मैं कोई यात्री नहीं हूँ कि तुम्हें अपनी धाक बिठाना ज़रूरी हो। मैं तुम्हें जानता हूँ, और तुम मुझे जानते हो। इसलिये साफ़ बात-चीत होनी चाहिए।"

नायकराम—"सरकार, आपसे दुनियादारी करके भगवान को क्या मुँह दिखाऊँगा! आपका नमक तो रोम-रोम में सना हुआ है।

अगर मेरे काबू की बात होगी, तो पूरी करूँगा, चाहे जान हो पर क्यों न आ बने। आपके हुकुम देने की देर है।"

कुँअर—"विनय को छुड़ाकर ला सकते हो?"

नायकराम—"दीनबंधु, अगर प्राण देकर भी ला सकूँगा, तो उठा न रक्खूँगा।"

कुँअर—"तुम जानते हो, मैंने तुमसे यह सवाल क्यों किया! मेरे यहाँ सैकड़ों आदमी हैं। खुद डॉक्टर गंगुली जाने को तैयार हैं। महेंद्र को भेज दूँ, तो वह भी चले जायँगे। लेकिन इन लोगों के सामने मैं अपनी बात नहीं छोड़ना चाहता। सिर पर यह इलज़ाम नहीं लेना चाहता कि कहते कुछ हैं, और करते कुछ। धर्म-संकट में पड़ा हुआ हूँ। पर बेटे की मुहब्बत नहीं मानती। हूँ तो आदमी, काठ का कलेजा तो नहीं है। कैसे सब्र करूँ? उसे बड़े-बड़े अर-मानों से पाला है, वही एक ज़िंदगी का सहारा है। तुम उसे किसी तरह अपने साथ लाओ। उदयपुर के अमले और कर्मचारी देवता नहीं, उन्हें लालच देकर जेल में जा सकते हो, विनयसिंह से मिल सकते हो, अमलों की मदद से उन्हें बाहर ला सकते हो, यह कुछ कठिन नहीं। कठिन है विनय को आने पर राज़ी करना। वह तुम्हारी बुद्धि और चतुरता पर छोड़ता हूँ। अगर तुम मेरी दशा का ज्ञान उन्हें करा सकोगे, तो मुझे विश्वास है, वह चले आएँगे। बोलो, कर सकते हो काम? इसका मेहनताना एक बूढ़े बाप के आशीर्वाद के साथ और जो कुछ तुम चाहोगे, पेश करूँगा।"

नायकराम—"महराज, कल चला जाऊँगा। भगवान ने चाहा, तो उन्हें साथ लाऊँगा, नहीं तो फिर मुँह न दिखाऊँगा।"

कुँअर—"नहीं पंडाजी, जब उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं कितना विकल हूँ, तो वह चले आएँगे। वह अपने बाप की जान को सिद्धांत पर बलिदान न करेंगे। उनके लिये मैंने अपने जीवन को

कायापलट कर दी, यह फ़क़ीरी भेष धारण किया, क्या वह मेरे लिये इतना भी न करेंगे! पंडाजी, सोचो, जिस आदमी ने हमेशा मख़मली बिछौनों पर आराम किया हो, उसे इस काठ के तख़्त पर आराम मिल सकता है? विनय का प्रेम ही वह मंत्र है, जिसके वश होकर मैं यह कठिन तपस्या कर रहा हूँ। जब विनय ने त्याग का व्रत ले लिया, तो मैं किस मुँह से बुढ़ापे में भोग-विलास में लिप्त रहता। आह! ये सब जाह्नवी के बोए हुए काँटे हैं। उसके आगे मेरी कुछ नहीं चलती। मेरा सुख-स्वर्ग उसी के कारण नरक-तुल्य हो रहा है। उसी के कारण मेरा प्यारा विनय मेरे हाथों से निकला जाता है, ऐसा पुत्र-रत्न खोकर यह संसार मेरे लिये नरक हो जायगा। तुम कल जाओगे? मुनीम से जितने रुपए चाहो, ले लो।"

नायकराम—"आपके अकबाल से किसी बात की कमी नहीं; आपकी दया चाहिए। आपने इतने प्रतापी होकर जो त्याग किया है, वह कोई दूसरा करता, तो आँख निकल पड़ती। त्याग करना कोई हँसी है! यहाँ तो घर में भूँजी भाँग नहीं, जात्रियों की सेवा-टहल न करें, तो भोजन का ठिकाना भी न हो, पर बूटी की ऐसी चाट पड़ गई है कि एक दिन न मिले, तो बावला हो जाता हूँ। कोई आपकी तरह क्या खाके त्याग करेगा!"

कुँअर—"यह तो मानी हुई बात है कि तुम गए, तो विनय को लेकर ही लौटोगे। अब यह बताओ कि मैं तुम्हें क्या दक्षिणा दूँ? तुम्हारी सबसे बड़ी अभिलाषा क्या है?"

नायकराम—"सरकार की कृपा बनी रहे, मेरे लिये यह कुछ कम नहीं।"

कुँअर—"तो इसका आशय यह है कि तुम मेरा काम नहीं करना चाहते।"

नायकराम—"सरकार ऐसी बात न कहें। आप मुझे पालते हैं,

का हुकुम न बजा लाऊँगा, तो भगवान को क्या मुँह दिखाऊँगा। फिर आपका काम कैसा, अपना ही काम है।"

कुँअर—"नहीं भई, मैं तुम्हें सेंत में इतना कष्ट नहीं देना ता। यह सबसे बड़ा सलूक है, जो तुम मेरे साथ कर रहे हो। तुम्हारे साथ वही सलूक करना चाहता हूँ, जिसे तुम सबसे समझते हो। तुम्हारे कै लड़के हैं?"

यकराम ने सिर झुकाकर कहा—"धर्मावतार, अभी तो ब्याह हीं हुआ।"

अर—"अरे, यह क्या बात है! आधी उम्र गुज़र गई, और भी कुँआरे ही बैठे हो!"

कराम—"सरकार, तकदीर के सिवा और क्या कहूँ।"

शब्दों में इतनी मर्मांतक वेदना भरी हुई थी कि कुँअर साहब धकराम की चिरसंचित अभिलाषा प्रकट हो गई। बोले—"तो र में अकेले ही रहते हो?"

यकराम—"हाँ धर्मावतार, भूत की भाँति अकेला ही पड़ा हूँ। आपके अकबाल से दो खंड का मकान है, बाग-बगीचे हैं, भैंसें हैं; पर रहनेवाला कोई नहीं, भोगनेवाला कोई नहीं। री बिरादरी में उन्हीं का ब्याह होता है, जो बड़े भाग्यवान होते।"

कुँअर—(मुस्किराकर) "तो तुम्हारा विवाह कहीं ठहरा दूँ?"

नायकराम—"महाराज, ऐसी तकदीर कहाँ?"

कुँअर—"तक़दीर मैं बना दूँगा, मगर यह क़ैद तो नहीं है कि या बहुत ऊँचे कुल की हो?"

नायकराम—"दीनबंधु, कन्याओं के लिये ऊँचा-नीचा कुल नहींा जाता। कन्या और गऊ तो पवित्र हैं। ब्राह्मण के घर आकर र भी पवित्र हो जाती हैं। फिर जिसने दान लिया, संसार-भर का

पाप हजम किया, तो फिर औरत की क्या बात है। जिसका ब्या नहीं हुआ, सरकार, उसकी जिंदगानी दो कौड़ी की।"

कुँअर—"अच्छी बात है, ईश्वर ने चाहा, तो लौटते ही दूल बनोगे। तुमने पहले कभी चर्चा ही नहीं की।"

नायकराम—"सरकार, यह बात आपसे क्या कहता। अ हेलियों-मेलियों के सिवा और किसी से चर्चा नहीं की। कहते ला आती है? जो सुनेगा, वह समझेगा, इसमें कोई-न-कोई ऐब ज है। कई बार लबारियों की बातों में आकर सैकड़ों रुपए गँवाए अब किसी से नहीं कहता। भगवान के आसरे बैठा हूँ।"

कुँअर—"तो कल किस गाड़ी से जाओगे?"

नायकराम—"हजूर, डाक से चला जाऊँगा।"

कुँअर—"ईश्वर करें, जल्द लौटो। मेरी आँखें तुम्हारी लगी रहेंगी। यह लो, ख़र्च के लिये लेते जाओ।"

यह कहकर कुँअर साहब ने मुनीम को बुलाकर उसके कान कुछ कहा। मुनीम ने नायकराम को अपने साथ आने का इशा किया, और अपनी गद्दी पर बैठकर बोला—"बोलो, कितना हमा कितना तुम्हारा?"

नायकराम—"क्या यह भी कोई दक्षिणा है?"

मुनीम—"रक़म तो तुम्हारे हाथ जाती है?"

नायकराम—"मेरे हाथ नहीं आती, विनयसिंह के पास भेजं जा रही है। बचा, मुसीबत में भी मालिक से नमकहरामी करते हो उनके ऊपर तो विपत पड़ी है, और तुम्हें अपना घर भरने की धु है। तुम-जैसे लालचियों को तो ऐसी जगह मारे, जहाँ पानी न मिले।

मुनीम ने लज्जित होकर नोटों का एक पुलिंदा नायकराम को दिया। नायकराम ने गिनकर नोटों को कमर में बाँधा, और मुनी से बोले—"मेरी कुछ दक्षिणा दिलवाते हो?"

मुनीम—"कैसी दक्षिणा ?"

नायकराम—"नगद रुपयों की। नौकरी प्यारी है कि नहीं ? ते हो न कि यहाँ से निकाल दिए जाओगे, तो कहीं भीख भी लेगी। अगर भला चाहते हो, तो पचास रुपयों की गड्डी बाँए से बढ़ा दो, नहीं तो जाकर कुँअर साहब से जड़े देता हूँ। खड़े-निकाल दिए जाओगे। जानते हो कि नहीं रानीजी को ? निकाले ाओगे, और गरदन भी नापी जायगी। ऐसी बेभाव की पड़ेगी चाँद गंजी हो जायगी।"

ुनीम—"गुरू, अब यारों ही से यह गीदड़-भभकी। इतने रुपए गए, कौन कुँअर विनयसिंह रसीद लिखे देते हैं।"

ायकराम—"रुपए लाते हो कि नहीं ? बोलो चटपट।"

ीम—"गुरू, तुम तो...... ।"

ायकराम—"रुपए लाते हो कि नहीं ? यहाँ बातों की फ़ुरसत । चटपट सोचो। मैं चला। याद रक्खो, कहीं भीख भी न गी।"

मुनीम—"तो यहाँ मेरे पास रुपए कहाँ हैं। यह तो सरकारी म है।"

नायकराम—"अच्छा, तो हैंडनोट लिख दो।"

मुनीम—"गुरू, ज़रा इधर देखो, ग़रीब आदमी हूँ।"

नायकराम—"तुम ग़रीब हो। बचा, हराम की कौड़ियाँ खाकर टे पड़ गए हो, उस पर गरीब बनते हो। लिखो चटपट। कुँअर हब जरा भी मुरौवत न करेंगे। यों ही मुझे इतने रुपए दिला ए हैं। बस, मेरे कहने-भर की देर है। गबन का मुकदमा चल यगा बेटा, समझे, जाओ, बाप की पूजा करो। तुम-जैसे घाघ रोज ड़े ही फँसते हैं।"

मुनीम ने नायकराम की त्योरियों से भाँप लिया कि वह

अब विना दक्षिणा लिए न छोड़ेगा। चुपके से २५) निका उनके हाथ में रक्खे, और बोला—"पंडित, अब दया करो, इय न सताओ।"

नायकराम ने रुपए मुट्ठी में किए, और बोले—"ले बचा, किसी को न सताना, मैं तुम्हारी टोह में रहूँगा।"

नायकराम चले गए, तो मुनीम ने मन में कहा—"ले जाइ समझ लेंगे, ख़ैरात किया।"

कुँअर भरतसिंह उस वक्त दीवानख़ाने के द्वार पर खड़े थे। वायु की शीतलता में आनंद न था। गगन-मंडल में चमकते तारागण व्यंग्य-दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने, वृ कुंज में, विनय की स्मृति-मूर्ति, श्याम, करुण, स्वर की भाँति ह धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई, जैसे संतप्त हृदय से हाथ की ध्वनि निकलती है। कुँअर साहब मिनट तक खड़े रोते रहे। विनय के लिये उनके अंतःकरण से भाँति शुभेच्छाएँ निकल रही थीं, जैसे उषा-काल में बाल-सूर्य स्निग्ध, मधुर, मंद, शीतल किरणें निकलती हैं।